श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती विरचित कारिका सम्वलित

जपसूत्रम्

(चतुर्थ खण्ड)

(हिन्दी भाषा में विस्तारित व्याख्या युक्त)

अनुवादक

एस. एन. खण्डेलवाल

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी — दिल्ली

प्रकाशक

© भारतीय विद्या प्रकाशन

(१) पो० बाक्स नं० ११९८, कचौड़ीगली, वाराणसी–२२१००१

(२) १, यू० बी० जवाहरनगर, बैंग्लो रोड, दिल्ली–११०००७

प्रथम संस्करण १९९३ ई०

मूल्य : १५० रु०

मुद्रक

न्यू दीपक प्रेस

द्वारा

भारतीय विद्या प्रकाशन

कचौड़ी गली, वाराणसी

दूरभाष–३२२३७६

निवेदन

असत् से सत् की ओर, तमस से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमृतत्व की ओर की यात्रा है अभ्यारोह। यही है चेतना का आरोहण। जो प्रक्रिया अवरोहण की पराङ्मुखीन गति से त्राण दिलाकर अभ्यारोहण रूपी आरोहण की ओर अभिमुखीन करती है, वही है जप। जप की स्थिति प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। उसमें वक्रता, जिक्षता तथा विषमता के कारण असत्, तमस तथा मृत्यु की निरानन्दमयी वेगवती गति का संचार होने लगता है, परन्तु जप का प्रारम्भ करते ही क्रमश: उसकी ऋजु-सुषम तथा नि:संशय गति आनन्द रूपी परम सम्पदा के उत्स की ओर अग्रसर होने लगती है। आनन्द ही विश्व का हृदय तथा आत्मा है। वह सिन्धुरूप होने के साथ ही विन्दुरूप भी है। जो आनन्द अन्त: उन्मेष के समय अपनी अणुरूपता एवं घनरूपता के कारण विन्दु है, वही बहि: उन्मेष के साथ-साथ विशाल सृष्टि विस्तार में हो जाता है सिन्धुरूप।

आनन्द की विन्दुरूपता ही अन्तर्जगत् में चिदाकाश है और वाह्य जगत् में भूताकाश के परपार अक्षरात्मा व्योम में शाश्वत स्पन्दन के आधाररूप ऊँकार में वह हो जाती है सिन्धुरूप। उसकी सिन्धुरूपता ही निखिल प्रपंच के उदय तथा अवसान का कारण है। अत: नियम यह है कि अन्तर्जगत् में जप साधना के रणन् के आनन्द से सराबोर होकर जप रूपी अन्तर्होमक्रत साधक को इस अक्षरात्मा महाव्योम की सिन्धुरूपता में भी निमज्जन करना होगा। अर्थात् जप के 'अणुतो अणीयान' रूप के साथ ही साथ उसके 'महतो महीयान' विराट आयाम में भी अविश्रान्त सन्तरण करना होगा। स्वचेतना के साथ-साथ विराट चेतना में भी जप के रणन का वरण करना होगा। तभी जप का यथार्थ पर्यवसान हो सकेगा! अन्तर्जगत् में जप साधन है आह्वति, बहिर्जगत् में (विराट में) महतो महीयान में जप साधना है आहुति अथवा समर्पण। पहले आह्वति, तब आहुति। इन दोनों अतियों में सावलील विहार कर सकने पर जप साधना का पर्यवसान होता है परमाक्षर में। यह साधना समस्त अपूर्णता तथा अभाव की परिपूरक है। जप्य नाम ही अघटन को घटित कराने वाली पूरणी शक्ति का साक्षात्कार कराने वाला विवस्वान् है।

यद्यपि शान्त सिन्धु तो वीचि विक्षोभ शून्य है, तथापि वातप्रहत् होते ही उसमें वीचिभंग जनित चांचल्य का आभास प्राप्त हो जाता है। यही है साधना की उन्मिषित स्थिति। अर्थात् जो हृतप्रदेश आत्मचेतना पर आच्छन्न जाड्य से स्तब्ध था; अब वह जागरित हो उठा! यही है जप जनित प्रबोधन द्वारा मग्न चेतना की

जागृति । जप ही आदिम तप: है । इसी के द्वारा आदि सर्जक ब्रह्मा मधुकैटभ द्वारा आक्रान्त होने पर शय्याशायी विष्णु का प्रबोधन करते हैं । वे इस प्रकार जप रूपी तप: द्वारा अन्त: मग्न विराट के जागरणोत्सव को सम्पन्न करते हैं । जप रूपी तप: ही विश्वानुस्यूत सत्य है । यह सर्वत्र निष्ठित तथा सर्वत्रग है । समस्त सृष्टि-स्थिति-निलय मूल मे स्थित आनन्दरूपी रहस्यमय आवेग के संदेश को देने वाला भी यही है । जप तो यज्ञ भी है, गीतोक्त अधियज्ञ ! यही है विश्वसृष्टिकर्त्ता आदिम पुरुष का स्वकीय लीलाछन्द ! यह देश-धर्म-सम्प्रदाय, मतवाद आदि की परिसीमा से मुक्त सार्वजनीन तथा सार्वभौम साधना है और यही है 'जपसूत्रम्' ग्रंथ का संदेश ।[१]

गुरुपूर्णिमा, १९९३ ई० एस० एन० खण्डेलवाल
बी, ३१/३२ लंका, वाराणसी

---

१. इस संदर्भ में यह स्मरण रखना होगा कि जपसूत्रम् की साधना परिकल्पना पूर्णत: कृपायुक्त कर्म पर आधारित है । परन्तु महामहोपाध्याय डा० पं० गोपीनाथ कविराज महोदय ने अखण्ड महायोग के जिस साधनापथ का साक्षात्कार किया था, उसकी गति कृपायुक्त कर्म से भी उन्नत तथा उर्ध्वस्तरीय है । वह ऐसा पथ है जहाँ सब कुछ के साथ कृपा का भी विसर्जन कर देना पड़ता है । उस महापथ पर साधक गुरुकृपा, मातृकृपा का भी विसर्जन करते हुये नितान्त सम्बलहीन, एकाकी है । यह साधनधारा शैवदर्शनोक्त शांभवोपाय से भी अत्यन्त उन्नतस्तरीय है, जब कि जपसूत्रोक्त साधनधारा आणव एवं शाक्त उपाय के ही अन्तर्गत है । कृपा की स्थिति तक ही कर्म है, परन्तु कृपारहित कर्म तो कर्म-पदवाच्य होकर भी कर्म नहीं है । वहाँ कर्म की परिणति हो जाती है स्वभाव में । इसे ही शैवदर्शन में 'निरुपाय' कहा गया है ।

विषयानुक्रमणिका

प्रधान १५ सूत्र	१–३८
प्रथम अध्याय	३९–१००
द्वितीय अध्याय	१००–१७८
तृतीय अध्याय	१७९–२६८
चतुर्थ अध्याय	२६९–३१२

जपसूत्रम्

(चतुर्थ खण्ड)

अथ जपसूत्रम्

(प्रधान १५ सूत्र)

जन्माद्यस्य यतो जेन पेन च प्रणव: पर: ।
तज्जलानीत्युपासीत जपाक्षरक्रमादिति ॥१॥
यस्य देवे परा भक्तिरित्यपि पेन गृह्यते ।
भक्त्या यथा हि जायते ज्ञानं जनिनिवर्त्तकम् ॥२॥

१. अब जपसूत्रम् के सम्बन्ध में कहा जा रहा है।

जप शब्द 'ज' तथा 'प' रूपी अक्षर द्वय हैं। इन दोनों के तात्पर्य को जानना आवश्यक है। विश्वभुवन का जन्म जहाँ से हो रहा है, वह मूल बीज 'ज' अक्षर से प्रकट है और 'प' अक्षर के द्वारा परावाक् रूप प्रणव का तात्पर्य ध्वनित होता है। प्रणव ही जगत के जन्म आदि का बीज है। अतएव 'जप' शब्द के द्वारा प्रणव ही लक्षित हो रहा है। श्रुति ने यह कहा है कि 'तज्जलानीत्युपासीत्' अर्थात् उससे ही समस्त विश्व जन्म लेकर उसी में लीन होता जाता है। अतएव एक मात्र उनका ही जप के द्वारा आश्रय लेना होगा। इस श्रुतिवचन से 'ज' तथा 'प' का पूर्वापरक्रमेण आहरण करने पर जप शब्द की व्युत्पत्ति होती है। अतएव निखिल के जो आश्रय हैं, उपासनाक्रम द्वारा उनका आश्रय लो। हम जप शब्द के द्वारा इस तात्पर्य की उपलब्धि करते हैं।

श्रुति ने यह भी कहा है 'यस्य देवे पराभक्ति:''। इस वाक्य में से हमें 'प' अक्षर को लेना होगा। इस पराभक्ति के द्वारा जन्ममृत्यु निवर्त्तक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतएव 'ज' अक्षर की भी हम (इस प्रसंगक्रम से) उपलब्धि कर लेते हैं।

२. ॥ जपोऽभ्यारोहविशेष: ॥

असतो मेति मन्त्रेण योऽभ्यारोह इष्यते ।
व्यावृत्य हि पराग्वृत्तिः प्रत्यग्वृत्या स वै जप ॥
अभ्यारोह विशेष को जप कहते हैं।

"हमें असत् से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से ज्योति: मे ले चलो और मृत्यु से अमृत मे ले चलो" यह अन्तरात्मा के आवेग से प्रसृत जो प्रार्थना है और प्रार्थना का मन्त्र है, इसे ही अभ्यारोह कहते हैं। अभ्यारोह शब्द की व्युत्पत्ति है

अभि, अभिमुखी आरोह अथवा आरोहण। अतएव अभ्यारोह शब्द का अर्थ है Ascent of the Spirit, चेतना का आरोहण। कहाँ से Ascent अथवा आरोहण? अपने कल्पित, असत्य, तमः एवं मृत्यु बन्धन से आरोहण। यह अभ्यारोह कैसे संघ-ठित होता है? जो वृत्ति हमें सत्य, ज्योति तथा आनन्द से परांगमुख करती है, उसे परागवृत्ति कहा जाता है। जो वृत्ति हमें उनकी ओर अभिमुखी कर देती है, वह है प्रत्यक् वृत्ति। परागवृत्ति को निवारित करके प्रत्यग् वृत्ति को प्रवाहित करने वाले को कहते हैं जप।

३. व्यावृत्तेः समावृत्तिरूपः ॥

ऋतं सत्यं मधुच्छन्दो हित्वा बिव्यजिवृत्तिता।
निर्व्याजा सा च निर्व्यूढ़ाऽव्याभिसम्पद्यते यया ॥
व्यावृति से जिसके द्वारा समावृत्ति होती है, वही जप है।

ऋतछन्दः, सत्यछन्दः तथा मधुछन्दः से जो भ्रंश अथवा च्युति है, उसे व्याजवृत्तिता कहते हैं। एक प्रकार से यह है छन्दच्युति के कारण वक्रता अथवा विषमता (unharmony Curvature)। इस वक्रता के कारण ऋत् से अनृत्; सत्य से असत्य तथा मधु (आनन्द) से विष अथवा निरानन्द में वृत्ति होती है। यही है व्यावृत्ति। समावृत्ति का रूप हमने उपोद्घात में विशेष रूप से देखा है। समावृत्ति के द्वारा व्याज अथवा वक्रता-विषमता विदूरित होती है और निर्व्यूढ़ तथा सर्वदा संशय विहीनता प्राप्त होती है। अतएव अवक्रता, अविषमता तथा असन्दिग्धता ही समावृत्ति का रूप है। श्रुति ने जिस अभिसम्पन्नता का वर्णन किया है, समावृत्ति के द्वारा स्वरूप के साथ उसी प्रकार की अभिसम्पन्नता संभव है। आत्मस्वरूप ही परम सम्पदा है। इस परम सम्पद की ओर अभितः, अभिमुखी (Towards) ऋतु, सुषम निसंशय जो गति है, उसे समावृत्ति कहते है। ऋत्-सत्य एवं मधु रूपी त्रिविध छन्द के आश्रयण से यह यात्रा सफल हो जाती है। लक्ष्य में सफल गति होने पर समावृत्ति होती है और लक्ष्य में विफल अथवा व्यर्थ गति (विपरीत गति) away From होने पर व्यावृत्ति होती है। इस प्रकार समावृत्ति रूप होना ही जप है।

४. बाधाविरहवृत्तित्वमृतत्त्वम् ॥

देशजन्या कालजन्या छन्दोजन्या च वस्तुजा।
बाधा चतुर्विधा ज्ञेयाऽवरोधप्रतिरोधने ॥
विरोधश्च निरोधश्च पणिरह्यादयः श्रुतौ।
एभ्या मुक्तामृतिं विद्यादेभिर्युक्ताञ्चनिऋं तिम् ॥

बाधाविहीन वृत्ति ही ऋत है। The Real as Movement.

देशनिमित्त, कालनिमित्त, छन्दोनिमित्त तथा वस्तुनिमित्त बाधाये हैं। इ यथाक्रमेण अवरोध, प्रतिरोध, विरोध तथा निरोध कहते हैं। ऋग्वेदादि में वृ

पणि, अहि, इत्यादि उपाख्यानों में विश्वसृष्टि में व्याप्त इन चतुर्विध बाधाओं का वर्णन है। इन उपाख्यानों का प्रणिधान करने से ज्ञात होता है कि कौन-कौन सी बाधा को किस प्रकार से श्रुति में प्रदर्शित किया गया है। इन सभी बाधाओं से जो मुक्त है, उसका नाम है ऋति और उनसे जो युक्त है, वह है निऋति ॥

५. बाधविरहवृत्तित्वत् सत्यत्वम् ॥

विकारश्च विवर्त्तश्च परिवर्त्तश्च नास्तिता।
सदसद्भाव इत्येवमन्यथाभावपञ्चकम् ॥
अवच्छेदपरिच्छेदौ विच्छेदश्च ततः पुनः।
उच्छेदश्च प्रतिच्छेद इति बोधेऽपि पञ्चधा ॥८॥
विकाराद्यन्यथाभावा विच्छेदादि निमित्तकाः।
तेषामप्रतियोगित्वं सत्यत्वेन व्यवस्थितम् ॥

किसी वस्तु के स्वरूप का अन्यथाभाव पांच प्रकार से होता है; जैसे विकार विवर्त्त, परिवर्त्त, नास्तिता तथा सदसद्भाव। वस्तु के अन्यथाभाव रूप जो बाध होता है, उसे पंच प्रकार का कहा गया है, यथा अवच्छेद, परिच्छेद, विच्छेद, उच्छेद, एवं प्रतिच्छेद। पहले जिन विकार, विवर्त्त प्रभृति अन्यथाभाव का उल्लेख किया गया है, वे क्रमशः विच्छेदादि पंच बाध निमित्त के ही कारण प्रकट होते हैं। विकारादि पंच अन्यथाभाव का, विच्छेदादि पंच बाध का जो अप्रतियोगी है, उनका विषयीभूत नहीं है, वही सत्य कहलाता हुआ व्यवस्थित सा है। अतः सत्य ऐसी एक वस्तु है जिसमें विकार, विवर्त्त, परिवर्त्त नहीं है, और जो अवच्छेद, परिच्छेद विच्छेदादि बाध द्वारा बाधित नहीं होता।

[अव = अवधारण में अतः तत्वतः। परि = परितः on the Surface अतएव अतत्त्वतः। वि = विशेषेण in Regard to a Certain aspect or mode किसी विशेष अवस्था अथवा धर्म के सम्बन्ध में। उत् = उर्ध्व Vertically or Longitudinally छेद अतः निषेध अथवा निगेशन (negation)। प्रति = तिर्यक् (Horizontally transversely), छेद = ro section।]

६. व्याजविघ्नविरहवृत्तित्वत् छन्दस्तवम् ॥
ऋतस्वभावनिष्ठा या शृङ्खला सुसमञ्जसा।
तस्यां स्थितायामृतिः स्यादार्जवं हि तथा स्थितिः ॥
स्वाभाविकं हि सत्यस्यानन्त्यं यज् ज्ञानभास्वरम्।
आनन्दघनतानिष्ठलीलाकैवल्यमेव च ॥
यदर्त्तञ्च तु सत्यञ्चाभिव्यङ्गिनी परस्परम्।
तयोश्छन्द स्त्वमायात्यनध्वस्तबाधयोस्तदा ॥

व्याज तथा विघ्न विरहविशिष्ट जो वृत्ति है, वह छन्दः है।

हमने पूववर्ती सूत्रद्वय में यह देखा है कि बाध तथा बाधा के निमित्त से वैरुप्य है, उसका नाम है व्याज और बाध एवं बाधा निमित्त से जो वैगुण्य है विघ्न कहते है। छन्दः वह वस्तु है जिसमें इस वैरुप्य तथा वैगुण्य का अभाव र है। निखिल विश्व के स्थूल-सूक्ष्म-कारण का मूलीभूत है छन्दः। श्रुति ने अ स्थलों पर यह बहुधा कहा है कि छन्दः से ही इस विश्व की सृष्टि होती है। अ इस विश्व का जन्म आदि जहाँ से हो रहा है, उस ब्रह्म का ही एक मौलिक रूप छन्दः। हमने पहले भी ऋतं एवं सत्य रूपी दो तत्त्वों का परिचय प्राप्त किया है जो जगत् कारण की गति है, वही है जगत्, किन्तु जगत्कारण की जो जगत् ओर अभिमुखीन गति है, क्या वह अन्ध, उच्छृंङ्खल एवं असमञ्जस गति है? ऐ स्थिति में तो अपरूप विश्वरचना की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती थी! किसी प्रका से भी यह अपूर्व महाश्चर्य रचना अंध आकस्मिकता (Blind chance) से उत्प नहीं हो सकती थी। अतः यह स्मरण रखना ही होगा कि सुसमंजस और सुश्रृंख गति ही ऋत का स्वभावनिष्ठ धर्म है।

इस श्रृंखला में स्थित किसी घटित घटना को हम 'ऋति' कहते हैं। इ प्रकार की स्थिति को ऋजु कहते हैं। किम्बहुना मूल कारण के दृष्टिकेन्द्र पर विश का सब कुछ इसी ऋत् पंथ का अनुसरण करते हुये चलता है। हमारी अभिज्ञता जो भ्रंश, च्युति और इनके कारण से घटित हो रही वक्रता विषमता परिलक्षि होती है, वे मूल वास्तविक चित्र में नहीं है। हमारी सीमाबद्ध दृष्टि में मूल वास्त चित्र समूह जितनें भी और जिस अंश में भी प्रकाशित हो रहे है, उनमें ही यह स विषमता और वक्रतापूर्ण अनुभव का प्रकाशन हो रहा है। अतः पूर्णज्ञान में अनव छन्दोमय यह विश्व वास्तव में स्वरूप में ही विद्यमान रहता है। इस विश्वमहासंगी में बेसुरा तथा बेताल कुछ भी नहीं है। इस विश्व के अटन में जो भीषण तथा हैं, उन महानटराज का नटन हँसरूपी भगवान के भुवनरूप में अकुण्ठरूपेण संचारि है! पूर्णज्ञान में विश्व के ऋत के पंथ में नित्य ऋजु स्थिति है अपूर्णज्ञान इसका व्यतिक्रम रहता है। कहीं तो छन्दः है और कहीं वह परिलक्षित नहीं रहा है! छन्द को भी (कहीं-कहीं) खण्डितरूपेण देखा जाता है! हम खण् छन्द समूहों को एक अखण्ड छन्द में समन्वित नहीं कर पाते! हमारी बुद्धि इस अखण्ड समन्वयी छन्दः का निरन्तर अन्वेषण करती रहती है। बुद्धि लक्ष्य की ओर जितना ही अग्रसर होती है, वह किसी न किसी सामंजस्य सूत्र के द्वारा व्याज विघ्न को, वैरुप्य-वैगुण्य को समाधित करती चलती है। विज्ञान तथा प्रज्ञान में यह गति है।

हम अपने व्यावहारिक ज्ञान में जो भी गतिरूप देखते हैं (जैसे सूर्य के चारों ओर किसी ग्रह की गति), उसके संदर्भ में यह प्रश्न उत्थित होता है कि उस गति का निरतिशय एवं यथार्थ रूप क्या है ? हम जो नेत्रों द्वारा देखते हैं, यन्त्रों के द्वारा उससे अधिक तथा अन्यरूपेण परिलक्षित होता है। इस प्रकार 'देखने' में भी तारतम्य है। अतः यह प्रश्न उठता है कि गति का यथार्थ रूप क्या है ? किम्बहुना, एक मात्र अकुंण्ठित पूर्णज्ञान में यह यथार्थतम रूप प्रतिभात होता है। यह यथार्थतम रूप अपूर्ण स्तरों में एक सीमा तक आवृत, कुण्ठित तथा विकृत सा रहता है।

पूर्णज्ञान में गति का विच्छिन्न (Isolated) भाव है, यह विचार अपूर्ण स्थिति में मन में नहीं उठता। ग्रहनक्षत्रादि की गति से प्रारम्भ करके क्षुद्र इलेक्ट्रान प्रोट्रान की गति पर्यन्त सब कुछ एक अखण्ड विराट गति में, महाच्छन्द के अच्छेद्य बंधन में बद्ध से रहते हैं।

पृथक् करके देखने पर वे अयथार्थ हो जाते हैं। अतः जो ऋत है, वह अनृत हो जाता है। यह भी स्मरण रखना होगा कि छन्द की शृंखला एक शृंखल कदापि नहीं है। इसका बन्धन भी 'नागपाश' जैसा नहीं है। छंद का बंधन = छंद में नियत अन्वितत्त्वा। पुनश्च, ऋत् के पथ को ऋजु पंथ कहते हैं। यह ऋजुत्त्व ज्यामिति का ऋजुत्त्व नहीं है। इस ऋजुत्त्व का तात्पर्य है छांदोग्य अथवा छंदोगत्त्व (Conformity or concordance)। छंद का जो स्वाभाविक निजस्व रूप है उसमें कुछ भी टेढ़ामेढ़ा न होने पर ऋजुता रहती है। पक्षांतर से वक्रता का अर्थ मात्र ज्यामितिक वक्रता curvature ही नहीं है, अछंदोगत्त्व होना ही वक्रता (unharmony curvature) है। इसी प्रकार से हमें सुषमता और विषमता को भी जानना होगा। जो सुषमता ज्यामितिक तल क्षेत्र आदि के कारण है, वह मूल छंदोगत्त्व का एक विशिष्ट उदाहरण ही है। मूल छंदोगत्त्व है परम विशारदी बुद्धि की अपनी बोधरूपता। वह बोध ही सत्य विश्व है।

अब यह विचार करना होगा कि सत्य का स्वरूप क्या है ? गति के दृष्टिकोण से देखने पर जो ऋत है, वस्तु के दृष्टिकोण से वही है सत्य। हम अपने व्यावहारिक ज्ञान में किसी भी वस्तु का एक विशिष्ट रूप देखते हैं। हमारी इन्द्रियों के कैमरा में वस्तु की जो छवि आ रही है, मन उसे अपने विविध संस्कारों द्वारा develop करके हमारे सम्मुख उपस्थित कर देता है। वस्तु का स्वरूप चाहे जो कुछ क्यों न हो, जब हमारा कैमरा अलग-अलग है, तब वस्तु का स्वरूप भी सबके लिये एक जैसा नहीं हो सकता। और विभिन्न जीवों की तो बात ही अलग है। जब एक ही वस्तु के अनेक चित्र सम्मुख आते हैं, तब किस चित्र को वस्तु की यथार्थ छवि कहा जा सकेगा ? विज्ञान तो वस्तु की प्रकृत छवि को सम्मुख लाने का प्रयत्न कर रहा है। वह बहुत दूर तक अग्रसर हुआ अवश्य है, यह निःसंदिग्ध है। इसका

परिणाम यह है कि अब चारों ओर स्थित यह विश्व क्रमशः हमारे सम्मुख जड़ विश्व के स्थान पर शक्तिरूप धारण करने लगा है। विश्वशक्ति की क्रीड़ा में हम एक समन्वयी छंद का भी संधान प्राप्त कर रहे है। वह है सांख्यच्छंद: Mathematical Harmony. अत: विज्ञान भी सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है। इतने पर भी चरम सत्य अत्यन्त दूर है। जिस सत्य को हम वर्त्तमान में गणित की समीकरण शृंखला द्वारा बाँधने की चेष्टा कर रहे हैं, क्या वह शक्ति कोई प्राणहीन, चैतन्यहीन वस्तु है ? यह स्पष्ट विदित होता है कि समष्टि अथवा व्यष्टिरूप जो वस्तु हृल्लेखा (Basic Pattern) है, और जो वस्तु हृत् अथवा आत्मा (Basic Essence) है, उन दोनों में से किसी को भी हमने अभी तक प्राप्त नहीं किया है। अतएव ऋत् के समान सत्य भी हमारे बोध का आदर्श और लक्ष्य (End and Ideal) मात्र है। अव्यक्तस्वभाव, नियति, असत् (शून्य), काल, यदृच्छा (chance) किंवा सर्वत्र सर्ववित् पुरुष एवं तदिच्छा, इन सब में से किसी न किसी को जगत् के मूल में स्थित मान भी लिया, किन्तु जगत् का हृत् अथवा हृल्लेखा क्या प्राप्त हो सकी ? यदि मिला भी तो कौन मिला ?

फिर भी हमारे इसी बोध में ही सत्य की प्रतिष्ठा है। समस्त प्रश्न, संशय, विकल्पादि विषयीभूत हो सकते है, केवल मात्र साक्षाद्परोक्ष (भान) को छोड़ देने पर। यह भान है निर्व्यूढ़ रूप से (unconditionally) अस्ति तथा भाति। यही है Fact। इसमें स्वयं सत्यमिथ्या प्रभृति कोई भी प्रश्न उत्थित ही नहीं हो सकते।

रज्जु-सर्पादि (जहाँ रस्सी में सर्पभान होता है) में भी इसके भान स्वरूप में कोई संशय अथवा विकल्प नहीं रह जाता। भातिता के दृष्टिकोण से इसमें अवच्छेद-परिच्छेद भी नहीं रहते। यह अवश्य है कि जो रूप भात (presented) होता है, उनमें अवच्छेदादि रहता ही है। समग्र अखण्ड स्वयं 'अव्यवहार्य' अनिरुक्त है। इस भानरूपी पटभूमिका में ही विचित्र विश्व प्रपंचित होता है एक आदि अन्तहीन चलचित्र के रूप में। अतएव इस बोध के ही द्वारा सत्य को जानना होगा। भान एवं बोध में विशेष करके इस 'समझ' को समझना ही होगा। यद्यपि भान अनिरुक्त है, Alogical है, तथापि उसे 'बोध' संज्ञा तब प्रदान की जाती है, जब उसे किसी न किसी निरुक्ति (catagory) द्वारा 'बुद्धिग्राह्यमिव' (as it were Logical, Thinkable) करने की चेष्टा होती है। सत्य भी भानरूप तथा बोधरूप है। अनिरुक्त की निरुक्ति करने का प्रयत्न होते ही तटस्थादि भेद भी आवश्यक रूप से हो जाते हैं। यह होता है बुद्धि के किसी न किसी सूत्र का आश्रय लेकर। इस प्रकार से साक्षात् परोक्ष (Alogical Absolute Fact) का स्वरूप लक्षण है अस्तिकतमत्त्व अथवा गरिष्ठ नैकटिकत्त्व closest possible approximation अन्यथा अलक्षण की लक्ष्यतावच्छेदकता ही नहीं है।

श्रुति ने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' स्वरूपलक्षण अंकित किया है। जिसमें अवच्छेद परिच्छेदादि नहीं हैं, जो किसी प्रकार के अभाव का विषय नहीं है, वह है अनन्त। इस प्रकार से सत्य है अनन्तज्ञान। क्यों? हमारा जो बोध-भान (Experience as fact) है, क्या वही भातिता अथवा प्रकाशमानरूपेण अनन्तज्ञान नहीं है? उस ज्ञान के विषय विशेष (Fact-Section, object-control) में अवच्छेदादि अवश्य रहते है। किन्तु निर्विशेष अस्तिता-भातिता-मात्ररूप में वह सब नहीं है। इसके आदि-मध्य-अन्त के सम्बन्ध में भी कल्पना कर सकना सम्भव नहीं है। जो समग्र तथा अखण्ड रूप से प्रमाण योग्य तथा निर्वचन योग्य (Thinkable and predicable) नहीं है, उसका जिस बोध के द्वारा असाकल्य (अंशत: खण्डश:) निर्वचन होता है, उसके प्रमाताबोध (Reviewer Fact) original view तथा Review के भेद को धारणा में, स्मृति में रखना ही होगा। बोधविश्व तथा विश्वबोध एक नहीं है।

यद्यपि अस्तिभातिता अथवा सत् एवं प्रकाशमात्रता रूप में कोई भी परिच्छेद नहीं हैं, तथापि 'मेरा' रूपी बोध भान में एक कार्पण्य (Intrinsic Limitationality) तथा कुण्ठा (Strain potential) रहती ही है। 'हृत् एवं हृल्लेखा' (व्यष्टि तथा समष्टि), 'मेरा' प्रभृति आस्तिभातिता में 'अस्ति एवं भाति' क्या है? इसमें निश्चयत: एक अवगुण्ठक (veil) रहता है। यह अवगुण्ठक भी अनिर्वचनीय (Inserutable) है। केवल अवगुण्ठक ही नहीं है, अवमर्शक (Strees potential) भी है। फलत: हमारा बोधभान एक विशिष्ट आकार प्रकार का बोध विश्व (A universe of Experience with a given referencc system) है। यह 'विश्व' (बोधविश्व) ऋत एवं सत्यस्वरूप का एक व्यावहारिक प्रतिच्छेद (Practical cross-Section) है। इस प्रतिच्छेद में हृत् और हृल्लेखा का हृच्छंद: प्राप्त नहीं हो रहा है। अथच प्राप्त करने का प्रयास चल रहा है। जिस मार्ग से यह प्राप्त हो जाता है (जैसे विद्या, श्रद्धा-उपनिषद् मार्ग से), वही समावृत्ति है। पदार्थ विज्ञान इसकी बहिरंग, अपूर्ण साधना है। जप एवं उपासना को अन्तरंग साधना कहते हैं।

समावृत्ति समापन में विश्व का जो हृत् अथवा आत्मा है, वह आनन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। आनंद के रूपद्वय हैं सिन्धुरूप (आकाश एवं नाद) तथा विन्दु (धन) रूप। धन अथवा विन्दुरूप से भी वह सिन्धु ही है। विन्दु रूप से भी स्वरूपत: जो अमेय है, वह मेय नहीं होता। वह केवलमात्र सम्भाव्य-निखिल-क्रियोत्पत्ति-साम-र्योजित हो जाता है। विंदुरूप में देश-काल-कारणताजन्य निरुक्ति नहीं है, विन्दु स्वयं निष्कल है; किंतु अनंत कलनवृत्तित्ता अथवा कला सम्भाव्य-सम्भावन-सामर्थ्यरूप है। धनरूपता ही निखिल अभिव्यक्ति की मूलीभूता बीजरूपता (ह्रीं) है। यह है परम तथा अवम् रूपो द्विविध केन्द्राश्रयिणी। यह द्विविध केन्द्राश्रयिता है। (नैष्कल्य' की साकल्य दृष्टि से !

जिसमें कला (Aspect अथवा Partial) नहीं है, वह है नैष्कल्य । कलना वृत्तित्ता द्वारा इसमें जब कला स्फुरित होने लगती है, तब यही है साकल्य । परम केन्द्राश्रयिणी आनंदघनरूपता ही परमेश्वर (ॐकार की) 'बहु स्याम् प्रजायेय'रूपी सृष्टिबीज काम (क्लीं) है। अवम केन्द्र विन्दु अवगुण्ठक अवमर्षक के द्वारा अवच्छिन्न रहता है । परमेंश्वर का लीला कैवल्य (श्रीं, ऐं) (Pure unfettered Action or play) ही अवम् सकल केन्द्र में अपने कैवल्य लक्षण को खो कर 'लीला' स्वरूप को भी छिपा लेता है । इतने पर भी वह कहीं भी, यहाँ तक कि जड़ परमाणु में भी बाधित नहीं होता । चतुष्पात् सत्य सर्वत्र ही अनुप्रविष्ट सा स्थित है । अतएव सत्य की दृष्टि से जैसे विश्व का हृत् आनन्द है, उसी प्रकार हृल्लेखा भी लीलाकैवल्य प्रसूत ही है । वह है प्रकारता युक्त आनन्द का उल्लास-विलास । किसी-किसी सूत्र में आनन्द की उल्लसित-विलसित-अलसित अवस्थाओं का वर्णन किया गया है । म — "मैं" की अनिरुपित तथापि निरुपणयोग संस्था । उसका अव (Sub-नीचे) है 'अवम' । और 'पर' (super or snpra — उर्ध्व में) है परम ।

अतएव सत्य अर्थात् :—

(१) अनंत अकुण्ठ ज्ञान
(२) अपरिसीम-अपरिमेय आनंद
(३) आनंद की विंदुघनरूपता
(४) लीला कैवल्य
(५) अनिरुक्त-निष्कल की निरुक्त-सकलरूपेण (कलाविशिष्ठ) अभिव्यक्ति ।

यह अभिव्यक्ति 'अतात्त्विक' अर्थात् देश कालादि द्वारा तत्त्वत: अन्तरित (Interjected, projected) होकर अनिरुक्त-निष्कल, निरुक्त-सकल नहीं हो पाती । एक है अबोधवग्राह्य (अबुद्धिग्राह्य-Alogical), दूसरा है बोधवग्राह्य (बुद्धिग्राह्य logical) ।

श्रुति में 'ऋतञ्च सत्यञ्च' अर्थात् ऋत् तथा सत्य को (च कार द्वय द्वारा) परस्परत: अभिष्वङ्गिरूपेण वर्णित किया है । नवम सूत्र की कारिका में यही अभिष्वङ्ग आलोचित किया जा रहा है । आसंग (व्यासङ्ग), अनुष्वङ्ग, प्रतिष्वङ्ग इत्यादि रूप भी प्रदर्शित किये गये हैं। 'स्वञ्ज' धातु आलिंगन अर्थयुक्त है । फलत: ऋत् तथा सत्य अन्योन्सङ्गी (Interlocked) हो जाते हैं । अर्थात् ऋत् केवल ऋजु, सुषम शृंखला मात्र (Law) नहीं है । वह है अनंत ज्ञान-आनंद-लीला कैवल्य का निज अभिव्यक्तिरूप (own absolute manifestation) और उस स्थिति में सत्य भी अनंत ज्ञानादिलक्षण वस्तुमात्र नहीं है । (एक absc lute conscious substence

ही नहीं है)। वह एक 'अमान-मानदा' परम स्वतःस्फूर्त (self-determined) धारा (as self determined process measureleness in itself but evolving measure.) इस प्रकार से ऋत तथा सत्य की जो परस्परतः अमितः स्वरूप-मानता है, वही है स्वभावच्छेद। अथवा स्वच्छंदः हृच्छंदः। बाधा अथवा बाध के द्वारा स्वभावतः अनध्यस्त, अनाक्रान्त ऋत् एवं सत्य का परस्पर अभिष्वङ्गजनक जो स्वच्छेदः है, उसमें व्याज एवं विघ्न के लिये कोई स्थान ही नहीं है। एतद्विपरीत अवम दृष्टि से स्वजमानता (अर्थात् सत्य का अपना ऋत् और ऋत् का अपना सत्य-यह अविनाभाव) के अभितः (Congruent, incomplete correspondance) न होने पर 'हृच्छंदः' अवगुंठितादि विपर्यय में पतित हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि विश्व जाडय (अचेतन जड़ रूपता), विश्वताड्य (blind cosmic determinism) इत्यादि अहृच्छंदः (जिससे अरिच्छंद उत्पन्न होता है) एवं वैरुप्य-वैगुण्यादि आक्षेपित होते है।

७. बाधबाधाजन्यवैरुप्यं व्याजः ॥

भ्रंशापभ्रंशविभ्रंशा इति व्याजो भवेत्त्रिधा।
च्युत्यपन्हुतिविच्युति संज्ञाभिरुच्यतेऽपि सः ॥
भ्रंशेन व्यभिचारित्वं साम्यान्यतः प्रसज्यते।
अपेन चापनीतत्वं वैपरीत्यं पुनर्विना ॥
साकल्येनांशतो वापि द्विधा व्याप्तिर्भवेत्रिषु ॥
भ्रंशः सांसिद्धिको ज्ञेयः प्रमाणैरुपपादितः।
सांकल्पिकस्तु संकल्पाद् वैकल्पिको विकल्पवान्।
आभासिकश्च जानीह्याकस्मिक इति पञ्चधा ॥

बाध तथा बाधा का निमित्त रूप जो वैरुप्य है, उसे व्याज कहते हैं।
(व्याज=unharmony curvature)

पूर्वसूत्र की व्याख्या करते समय यह देखा गया है कि ऋत एवं सत्य के परस्परतः अन्वित न होने पर ही अन्ध जगत्—बद्ध जगत् आदि रूप से जगत् में वैरुप्य उपस्थित होने लगता है। ऐसी स्थिति में एकरूप जगत् स्थिति न होकर, वहाँ द्विरूप अथवा बहुरूप जगत् स्थिति होने लगती है। इसी को Duel अथवा Plural universe कहा जाता है। जैसे यह विश्व यथार्थतः छन्दोबद्ध रूप से चल रहा है, अथवा इसमें कहीं छन्द का अभाव है, क्या यह Nature मात्र Cance और Law का मिश्रण है, जिस शक्ति के द्वारा जगत् चालित हो रहा है, क्या वह शक्ति देवशक्ति है अथवा असुर शक्ति है, किंवा उभय शक्ति है? जगत् के मूल में जो द्वन्द्व है, क्या वह मैत्र द्वन्द्व (Concordant duality) है अथवा वैर द्वन्द्व (Discordant Duality) है?

इस प्रकार की अनेक आशंकायें उपस्थित होती हैं। ऋत् एवं सत्य का जो पारस्परिक अविनाभाव सम्बन्ध है, हमारे विश्वबोध में उसका भ्रंश प्रभृति लक्षित होने पर ही इन समस्त आशंकाओं की सम्भावना उत्थित होने लगती है। जिन भ्रंश आदि के कारण यथार्थत: विरूपता परिलक्षित होती है, उसे व्याज कहा जाता है। 'आविः' का जो 'वि' है, अर्थात् ऋत् एवं सत्य की जो विश्वतोन्मुखीनता है, अर्थात् विश्वाकार में जो आविर्भाव है, उसे आवृत्त करके अन्य आकार अथवा रूप में जो जात होता है, वही व्याज है। अर्थात् वि+आ+ज। ऋत एवं सत्य दृष्टि से जो रज्जु है, वही व्याज दृष्टि के कारण सर्परूपेण परिलक्षित होने लगती है। पहले चतुर्थ एवं पंचम सूत्रों में बाध एवं बाधा का वर्णन किया जा चुका है। उनके निमित्त से ही इस प्रकार का आवरण एवं विक्षेप होने लगता है। भ्रंश, अपभ्रंश-विभ्रंश (च्युति), तथा अपन्हुति-विच्युति रूपी व्याज-त्रय (unharmony Curvature) की विवेचना प्रयोज्य है।

इनमें से भ्रंश का तात्पर्य सामान्यत: व्यभिचारित्व (Departure, Deviation, Exception) है। अपभ्रंश के द्वारा यथार्थ रूप अपनीत होता है (Nagation or Elimination)। विभ्रंश द्वारा वैपरीत्य (Contrary or Contradictory) द्योतित होता है। इन त्रिविध स्थलों में यह प्रश्न उत्थित होता है कि जो व्यभिचार अथवा व्यतिक्रम परिदृष्ट हुआ, उसकी व्याप्ति कितनी है? क्या यथार्थ रूप समग्रत: अथवा अंशत: व्यभिचार को प्राप्त हो गया? भ्रंश अथवा च्युति के सम्बन्ध में इस प्रकार की साकल्य व्याप्ति एवं अंशत: व्याप्ति प्रत्येक क्षेत्र में चिन्तनयोग्य विन्दु है। अंशत: देखने का प्रयत्न करने पर भ्रंश अथवा च्युति पंचधा है, जैसे सांसिद्धिक—सांकल्पिक—वैकल्पिक—आभासिक तथा आकस्मिक।

हमारे व्यावहारिक (अत: आपेक्षिक) प्रमाणों के द्वारा जो भ्रंश अथवा च्युति उपपादित (सिद्ध) हो रही है, उसे कहते हैं सांसिद्धिक। जैसे स्थान एवं स्पेस की वक्रता, आलोक आदि के विकिरण में युगपत् रेणुरूप तथा उर्मिरूप, अणु के आभ्यन्तर में ऋणात्मक तड़िदणु (Electron) की गति स्थिति की अनियतता (Indeterminacy), रेडियम जातीय पदार्थ के अणु समूह में से कुछ में अदृष्टवशात् विकिरण और कुछ अणुओं में निष्चेष्टता, आलोकरश्मि बेग के एवं शक्तिकणिका के मान (quantum की) अक्षरता (Constancy) इत्यादि। प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान तथा अन्य क्षेत्रों में भी इस प्रकार के 'व्याज' का दृष्टान्त मिला है और मिल रहा है। पहले विज्ञान आदि ने जिसे प्रमाण सिद्ध माना था, उनमें से अनेक वर्त्तमान में व्यर्थ सिद्ध हो चुके हैं। वर्त्तमान में जिसे 'सिद्ध प्रमाण' माना जा रहा है, वे भविष्य में असिद्ध भी हो सकते हैं। पूर्ण ज्ञानार्थ जो निर्व्यूढ़ प्रमाण है, उसकी परिभाषा है वेद। जो निर्व्यूढ़ प्रमाण द्वारा सिद्ध है, उसके असिद्ध होने की आशंका नहीं रहती।

वह तब 'व्याज' नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में वह बाध-बाधा-विरहविशिष्ट 'ऋतञ्च सत्यञ्च' है। अब भ्रंश अथवा च्युति तत्त्वतः नहीं है। वहाँ छन्दः भी स्वरूप में अचल-प्रतिष्ठ है। हम भी व्यावहारिक ज्ञान अथवा विज्ञान में छन्द के आपात भ्रंश समूह को बृहत्तर छन्दः के द्वारा हटाने के लिये चेष्टा कर रहे हैं। जैसे किसी ज्योतिष्क के गतिवर्त्म में अतर्कित च्युति अथवा वक्रता। लक्ष्य तथा आदर्श हुआ 'ऋतं बृहत् तथा सत्यं महत्'।

सांकल्पिक अर्थात् संकल्प अथवा इच्छा द्वारा भ्रंश अथवा च्युति घटित होना। परीक्षण स्थल में यही भ्रंश हो सकता है। जैसे एक लट्टू घूम रहा है, उसे उंगली द्वारा किंचित ढकेला गया। क्या देखा? "इन्द्रशत्रु" मन्त्र का जिस स्वर में उच्चारण कर रहा था, स्वर परिवर्त्तित करने पर यह देखा कि क्या इसमें शक्ति अथवा फल का कोई व्यतिक्रम हो रहा है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त यह भी विवेच्य है कि जीव की इच्छा से जीव के यन्त्र (Brain) के निजस्व गतिच्छन्दः में कोई परिवर्त्तन (शक्ति के मान अथवा दिक् में) हो रहा है अथवा नहीं। यदि ऐसा परिवर्त्तन आदि घटित हो रहा है, उस स्थिति में क्या वह वस्तुतः व्याज है अथवा वह बृहत्तर ऋत का ही अनुगत है? अतः सांकल्पिक के क्षेत्र में भी ऋत का आनुगत्य हो रहा है अथवा उसका अभाव है, यह विचारणीय है।

वैकल्पिक अर्थात् जिसमें विकल्प, प्रश्न अथवा संशय है। जैसे क्या विवृद्धिशील (विवर्द्धिषु) विश्व (Expanding universe) प्रमाणित है, अथवा प्रतीयमान मात्र है? किसी जपक्रिया के सम्बन्ध में जो शिष्टजन सम्मत फलश्रुति है, उसमें भी व्यतिक्रम परिलक्षित होता है। यह व्यतिक्रम वस्तुतः घटित हुआ, अथवा घटित नहीं हुआ, किंवा घटित होने पर वह वस्तुतः व्यतिक्रम है या व्यतिक्रम नहीं है? अतः वैकल्पिक के क्षेत्र में ऐसा द्विविध संशय और द्विविध प्रश्न उठना प्रासंगिक ही है।

आभासिक तो भ्रंश अथवा व्यतिक्रम आभास मात्र है। भ्रान्ति अथवा प्रमाद के कारण अनुक्रम में भी व्यतिक्रम बुद्धि हो जाती है। जैसे जल में अर्द्धनिमज्जित एक ऋजुदण्ड (डण्डा) भी वक्रवत् परिलक्षित होने लगता है। उदय तथा अस्त के समय (विशेषतः समुद्रवक्ष से उदय एवं अस्तकाल में) सूर्य बड़ा परिलक्षित होता है। व्याज एक प्रकार से भाण, कपट, छल है। इस स्थल में भी द्विविध प्रश्न उत्थित होते हैं, जैसे वस्तुतः भ्रान्ति हो रही है, उसका क्या रूप है? (Correction of Apparent Error)।

आकस्मिक अर्थात् हमारे व्यावहारिक विश्वबोध में सम्भाव्यता (Probability)नामक एक वस्तु रहती है। व्यष्टि रूप से (Individually)प्रत्येक घटना इसी के

नियमानुसार (By laws of probability) घटित होती प्रतीत होती है। समष्टिरूपेण (on the average) निश्चित (certain) प्रतीत होने पर भी दृष्टान्तरूपेण Kinetic Theory of gases का चिन्तन करो। हम जिसे निरूपित अथवा निरूपणीय विश्व समझते हैं, क्या वह मूलत: (Basically) सम्भाव्यजगत् (Statistical universe) मात्र है ? यदि ऐसा है, तब उस स्थिति में यह प्रश्न उत्थित होता है कि क्या सम्भाव्यता केवल उश्रृंखलता है, अन्ध विचार है ? मानों कुछ नहीं रहने वाली स्थिति से 'कुछ है' का अनुभव हो रहा है ? Primordial Night क्या original chaos है ? क्या Primordial Creativity के मूल में primordial Lawlessness है ? नहीं, वह तो नहीं है। सम्भाव्यता (Probability Function) स्व नियम (अर्थात् अपने नियमों से अनुवर्त्ती रूप में) द्वारा विश्व के आदि-मध्य तथा अन्त के घटनापुंजों को झलकाती रहती है। पूर्ण उद्‌भट तथा आकस्मिक रूप से कुछ भी घटित नहीं होता। संख्याविज्ञान के मूलसूत्र तथा समीकरण समूह संभाव्यता के क्षेत्र में पूर्णत: अविद्यमान नहीं रहते।

सम्भाव्यता की उर्मिभंगिमा (Probability waves) भी किसी घटना की संभाव्यता की मात्रा के निरूपण के लिये अवश्यमेव आलोच्य एवं विवेच्य है। जैसे वायुतरंग के समय वायुकणपुंज में स्थानिक घनता और स्थानिक विरलता परिलक्षित होती है, उसी प्रकार से संभाव्य तरंगों में भी कहीं गाढ़ता और कहीं विरलता की कल्पना हो सकती है। यदि कोई घटना गाढ़ अंश में है, उस स्थिति में उसके घटित होने की सम्भावना तुलनात्मक रूपेण न घटित होने की स्थिति की अपेक्षा अधिक है। घनता के केन्द्र से सान्निध्य रहने पर ऐसा होना एक प्रकार से निश्चित सा है। जो सम्भाव्यता का पूर्णांगचित्र (कम्पलीट कर्व) है, वह अवश्यमेव पूर्णज्ञान में ही व्यवस्थित है। हमारे चालू ज्ञान के आकस्मिक (accidental), विज्ञान के सम्भावित (prabable), प्रज्ञान के निश्चितप्राय (certain or almost so), इन सब कुछ को इस चित्र के साथ मिलाकर देखना, जाँचना होगा। जो हमारे चालू ज्ञान का ब्याज है, उसे विज्ञान शोधित कर देता है। विज्ञान के ब्याज का शोधन करता है प्रज्ञान तथा पूर्ण ज्ञान।

८. बाध बाधाजन्यवैगुण्यं विघ्न: ।।

उर्जितोज्वलोत्कर्षे सीमा यत्र निरूपिता।
वैगुण्यहानि: सिध्येत तत्रैव विघ्नबाधनम् ।।
गुणात् संजायते विघ्नश्चलचपलचञ्चलात्।
स्तब्धास्तमितधर्माच्च गुणात् स्तिमितताभृत: ।।
उर्वादीनां चलादीनां स्तब्धादीनाञ्च सङ्करात्।
वैगुण्यं बहुधा जातं विघ्नौघश्चापि तज्जनि: ।।

उपमर्दश्चापमर्दो विमर्दश्चापि विक्रिया: ।
परस्परानुपातित्वे गुणानामसमञ्जसा: ॥
अनुपात: स विज्ञेयो निर्विघ्नश्चसमञ्जस: ।
उर्वादीनां समुत्कर्षे य एव संहतक्रिय: ॥
दैशिक: कालिकश्चापि वास्तवच्छान्दसौ पुन: ।
इति विघ्नानां चत्वारो व्यूहावाप्यासते गणा: ॥
यन्त्रेण दैशिकं विघ्नं मन्त्रेण कालिकं तथा ।
तन्त्रेण छान्दसं नश्येदन्त्रेण वास्तवञ्च यत् ॥
यन्त्रं तन्त्रञ्च बुध्यस्व विद्यारूपं विशेषत: ।
श्रद्धारूपं हि मन्त्रञ्च चान्त्रमुपनिषद्धि या ॥
त्रिवेणीसङ्गमे तासां किंवा प्रणवरूपिणी ।
स विघ्नपारिपारीण: स्नातनिष्णात एव य: ॥
धनुर्यन्त्रयिषुर्मन्त्रं तन्त्रं सन्धानपाटवम् ।
यदन्तस्थं पुनश्चान्त्रे तल्लक्ष्यं परमुच्यते ॥
त्रिपुरं निपुरं हित्वा नादनूपुरनिक्वण ।
नि:श्रेयणीं समारूह्य नि:श्रेयसपदं ब्रज ॥२७॥

बाध एवं बाधा जनित वैगुण्य को विघ्न कहा जाता है ॥

(विघ्न = unharmony Complex)

इस देश के शास्त्र में सत्व, रजः तथा तम: रूपी गुणत्रय का उल्लेख है। इसमें सत्त्व का लक्षण है जो प्रख्या अथवा प्रकाशधर्मी है। नैसर्गिक समस्त वस्तुओं में इन तीन गुणों का अनुपात रहता है। यह अनुपात स्थिर नहीं है। उसकी व्याप्ति वर्धित हो जाती है। वह उर्जित होता है और उसकी उज्वलता और प्रकाशधर्मिता की अभिवृद्धि होने लगती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पदार्थ की यथार्थरूपेण अभिव्यक्ति में अथवा उसके प्रकाश के पथ में जितने भी अन्तराय थे, वे क्रमश: विदूरित होने लगे। इसे कहते हैं पदार्थ के गुण अथवा धर्म का उत्कर्ष ! अब प्रश्न उत्थित होता है कि प्रकाश के उत्कर्ष की सीमा कहाँ है? अर्थात् कितना उत्कर्ष होने पर हम कह सकेंगे कि वस्तु का यथार्थ प्रकाश हुआ है ? जो उत्कर्ष की पराकाष्ठा अथवा अन्तिम सीमा है; वहाँ पर वैगुण्य पूर्णत: तिरोहित हो जाता है, अत: वहीं विघ्नरूपी अन्तराय सर्वथा बाधित हो जाता है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि सत्वगुण ही अकेला नहीं है। साथ में रजोगुण भी है। उसका धर्म है प्रवृत्ति। रजोगुण है चल, चपल, चंचल स्वभाव। इससे उत्पन्न होते हैं घोरवृत्ति विघ्न अथवा अन्तराय। अतएव वैगुण्य घटित होने लगता है। इन दोनों

के अतिरिक्त जड़स्वभाव तमोगुण भी है। इस तमोगुण के द्वारा वस्तु में स्तब्ध, स्तिमित तथा अस्तमितरूपी त्रिविध मूढ़वृत्ति वैगुण्य का प्रतिफलन होने लगता है।

उरुस्वभाव, चपलस्वभाव तथा गुरुस्वभाव रूप त्रिविध गुणों के पारस्परिक मिश्रण से और समस्त के अनुपात वैचित्र्य के कारण वैगुण्य अनेक प्रकार का होता है और इसी कारण विघ्नराशि भी अनेक प्रकार से समुद्भूत होने लगती है।

गुणत्रय के पारस्परिक मिश्रण में असमञ्जसता (डिसहारमोनी) रहने पर संघात के कारण विक्रिया परिलक्षित होती है। यदि गुण समूह के पारस्परिक अनुपात से समंजसता (Harmony) रक्षित होती है, उस स्थिति में संघातफल में विक्रिया का लेश भी नहीं रह सकता। किस अनुपात में समंजसता है, किसमें है, इसे ऋत एवं सत्य के आलोकसूत्रों में (Leading Light में) निरूपित करना पड़ता है। स्वच्छ तथा प्रकाश स्वभाव सत्वगुण का पोषण और प्रभुत्व होने पर इस अत्यावश्यक आलोकसूत्र को सहजता से करायत्त किया जा सकता है। पक्षान्तरेण रज: एवं तम: का प्राधान्य रहने पर चांचल्य तथा मालिन्य के कारण हम इस आलोकसूत्र को खो बैठते हैं। असमंजस अनुपात के कारण जो विक्रिया उपस्थित होती है, उसे उपमर्द, अपमर्द तथा विमर्द रूपी श्रेणीत्रय में विभक्त किया जा सकता है। 'उप' अथवा समीप स्थिति के कारण जो मर्द है वह है उपमर्द्द। 'अप' अथवा अपनीत करके अथवा हटाकर जो मर्द है, वह है अपमर्द्द। 'वि' अथवा विरुद्ध एवं विपरीत करके जो मर्द है, वह है विमर्द्द।

[चल = नियतगति (Continuous) दिग्देश-वस्तु-छन्द: में। चपल = अनियतगति (Discontinuous)। चंचल = पूर्वोक्त दोनों के मिश्रण के कारण अव्यवस्थित (uncretain)। इस प्रकार से घोषवृत्ति त्रिविध है (Continuons Function, Discontinuous Function, Erratic Function। इनमें से अन्तिम दोनों में घोषरूपता की प्रबलता है। चल है मौलिक (Basic)। इसी के आधार पर अन्य दोनों (चपल-चंचल) संभावित होते हैं। अतएव इन्हें शून्य कर देने पर घोर ही अघोर हो जाता है। इस शून्यसाधन को जपकर्म तथा योगसाधन कहते हैं। महानाद एवं महाविन्दु को शून्यता की सीमा कहा जाता है।

स्तब्ध = वेगवान अथच प्रतिहत (Arrested, Rerpressed or superessed momentum)। स्तिमित = उपक्षीयमाण वेग (Reduced momentum)। अस्तमित = पक्षीणवेग (Resolved momentum)। बहिर्विश्व में जड़ शक्ति की अवस्थिति-परिस्थिति में, प्राण तथा मन के सर्वविध व्यापार में (आवेग-संस्कारादि के पारस्परिक संघात में) इन त्रिविध मूढ़वृत्तियों को नियतरूप से उदाहृत किया जा सकता है। दिग्देश-काल-वस्तु-छन्द: प्रभृति सभी इस मूढ़वृत्ति के

द्वारा आक्रान्त अथवा आक्रम्य हैं। तीनों प्रकार में स्तब्ध ही मौलिक हैं। इसका शून्यीकरण होता है पूर्ण प्रतिपक्षभावन के द्वारा। 'भावन' अर्थात् भावना मात्र ही नहीं है। उद्भावन = actual creation. प्रतिपक्ष = प्रतियोगी = Counteraction।

उस उर्जित तथा उज्वल प्रणव की 'उ' कार मात्रा के द्वारा उपलक्षित इन तीन गुणों का समुत्कर्ष होने पर यह विदित हो जाता है कि पदार्थ की यथार्थ स्वरूपख्याति हो रही है। इसे कहते हैं प्रख्या। यह है सत्त्वगुण परिणाम। किन्तु इस परिणाम के होने में रजः एवं तमोगुण की सहयोगिता होना आवश्यक है। रजः है चल एवं प्रवृत्तिधर्मी। इसके अभाव में प्रकृति के सभी व्यापार अचल हो जाते हैं। अतएव इसके साथ में न रहने पर सत्वगुण का प्रख्यारूप परिणाम सम्भव नहीं होता। पुनश्च, तमोगुण भी साथ रहना आवश्यक है। तमोगुण का धर्म है स्थिति। इस गुण का पूर्ण अभाव होने पर कुछ भी स्थिर सा नहीं रह सकता। वह विरोधी प्रतिपक्ष को भी रोक नहीं सकता। अतएव यह परिलक्षित होता है कि सत्वगुण की प्रधानता वाले स्थल में भी वहां पर अनुगतरूप से अन्य दो गुण विद्यमान रहते हैं। अब यह प्रश्न उत्थित होता है कि अनुगत होना तथा सहकारी होना, इसका तात्पर्य क्या है? जो गुणत्रय का पारस्परिक अनुपात है, वह अनुपात जब एक विशेष सामंजसरूप धारण करता है; तब गुणसमूह संहतक्रिय होते हैं। अतः उसके द्वारा उरु, उर्जित तथा उज्वल रूपी धर्मत्रय का निर्विघ्न समुत्कर्ष घटित होने लगता है। गुणत्रय के अनुपात में असमंजसता के कारण यदि वे इस उद्देश्य से संहतक्रिय नहीं होते, तब यह निश्चित है कि परिणाम भी विघ्नसंकुल हो गया है।

इसे दृष्टान्तद्वय से समझने का प्रयत्न करो। रासायनिक संयोग में यह अनुपात नियम विशेष सामर्थ्य से युक्त प्रतीत होता है। दो, तीन अथवा उनसे अधिक अणुओं के जिस अनुपात मिलन से जो अभीष्ट वस्तु अथवा क्रिया निष्पन्न होती है, उस अनुपात के व्यतिक्रम से वह निष्पन्न नहीं होती। यहां तक कि उससे विपरीत भी हो सकती है। संख्या एवं अनुपात ही वस्तु का स्वरूप है। यही है गुण तथा क्रिया का नियामक। मधु एवं घृत के एक प्रकार मिश्रण से विषक्रियता हो सकती है। अन्य प्रकार के मिश्रण से वही मेध्य हो जाता है। शरीर के पाचक रसों के जिस अनुपात में मिश्रित एवं निःसृत होने में परिपाक क्रिया में अनुकूलता आती है, अन्य अनुपात द्वारा वह प्रतिकूल भी हो सकती है। विश्व का घटनाक्रम एक 'ऋत' के अनुसार ही घटित हो रहा है।

जिन प्राकृतिक रेडियम जातीय वस्तु का तेजोविकिरण (अणु के विशीर्ण होने के कारण) नियतरूपेण होता जा रहा है; उसके फलस्वरूप प्रकृति में नूतन प्रकार के पदार्थ समूहों का उद्भव होता रहता है और नियत अपक्षीयमाण ताप की समता रक्षा की भी चेष्टा एक परिमाण में रही है। इस प्रकार की समता रक्षा के

फलस्वरूप धरित्री का जीवन एक निर्दिष्ट धारा में अग्रगति का सुयोग प्राप्त करता जा रहा है। रेडियम का तेजोविकिरण स्वतःस्फूर्त्त तथा नियत होने पर भी वह 'भीषण विप्लवी' नहीं है। प्रकृति का गतिच्छन्दः उसके द्वारा रक्षित होता रहता है। किसी-किसी उज्वल ज्योतिष्क के अणुसमूह (जैसे सूर्य के) उग्र-विप्लवी काण्ड भी घटित कराते हैं, किन्तु उसके फलस्वरूप (कास्मिक रे इत्यादि विकिरण में) विराट विश्व में शक्ति सामंजस्य (Balance of Power) क्षुण्ण न होकर रक्षित ही होता रहता है। यद्यपि इन सब मृदु तथा उग्र विधान के कारण संभवतः विश्व में 'जरा' आ रही है (Entropy or universal Runniug Down), तथापि यह भी ऋत के अनुवर्त्तन में ही हो रहा है। किन्तु हम जब यूरेनियम (लघुसंस्करण) अथवा अन्य किसी रेडियम जातीय पदार्थ की केन्द्रीण सत्ताशक्ति को प्रचण्ड अभिघात से चूर्ण करके (By fission) उसकी विपुल घनीभूत शक्ति को मुक्त करने लगते हैं, तब (जैसे एटम बम) एक सर्वध्वंसी प्रलय ताण्डव की सृष्टि क्यों होने लगती है ?

केन्द्रीय सत्ता में (न्यूक्लियस) यह शक्ति स्तब्ध होकर पड़ी रहती है। यह है तमोगुण का कार्य। किसी-किसी रेडियम अणु में एक निर्दिष्ट वेग और छन्द में जो स्वतोविकिरण होता है, वह रज का कार्य है। प्रकृति में तमः एवं रज के अनुपात की सुसमंजस रूपेण रक्षा होती है उक्त छन्दः के द्वारा। उक्त छन्दः प्रकृति के विधान में सत्वगुण का प्रभुत्व रहता है। इस छन्दः के शासन द्वारा प्रकृति में केन्द्रीण सत्व शक्ति के आय-व्यय का अनुकूल अनुपात रक्षित होता है। हम 'फिशन' के द्वारा आणविक शक्ति के विपुल व्यूह को विदीर्ण करके इस छन्दः के शासन का आजकल लंघन करते जा रहे हैं। जो शक्ति का अवष्टम्भक है, वह तमोगुण आज हमारे द्वारा प्रचण्डरजः आघात से चूर्ण-विचूर्ण किया जा रहा है। पक्षान्तरेण उस घोर रुद्रशक्ति को अघोर शान्त करके आत्मवश में करने के लिये आज तक कोई भी कौशल प्राप्त नहीं हो सका। (कौशल = सत्त्व का सूत्र)। इसी दृष्टि से हाईड्रोजन बम आदि विवेच्य हैं।

प्राण के क्षेत्र में भी विभिन्न प्रकार के सिन्थेटिक पाईजन (विष) और बैक्टीरिया उसे अपने स्वभाव स्वच्छन्दता के कक्ष से च्युत करके इस व्यापक सृष्टि में हमारे मारणकर्म का विनियोग कर रहे है। प्रकृति में उनके विकास-प्रवृत्ति-स्थिति का एक विश्वानुग छन्दः है (जैसे पेन्सिलीन प्रभृति एंटीबायोटिक औषधि)। उन्हें हम भंगकर रहे हैं।

"काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः" काम तथा क्रोध रजोगुण से उद्भूत होते हैं। हमारी प्रकृति में इनका स्थान तथा प्रयोजन है। इतना अवश्य है कि इनकी प्रयोजनीयता तो है, किन्तु छन्दः के शासन में ही ! इनकी गति-स्थिति

तथा परिवर्त्तन के रेखाचित्र (curve) को छन्द: के नियम के द्वारा ही नियन्त्रित होते रहना भी आवश्यक है। जब ये नियंत्रित हैं, तब मित्र हैं। अन्यथा 'महाशन' स्थिति में 'महापाप्मा' हैं। घोर वैरी हैं।

अत: पहले जिस ऋत, सत्य, छन्द का प्रसंग है, उसके शासन का अनुवर्त्तन ही है मुख्यतः गुणत्रय का अनुकूल अनुपात, अनुपात समता। यह समता संख्या अथवा परिणाम की समता नहीं है। इसके अतिरिक्त जब किसी लक्ष्य अथवा उद्देश्य से सम्बन्धित अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का विचार किया जाता है, तब वह है 'गौण'। जैसे इन्द्र का संहार करना तो स्वभाव का अनुवर्त्तन नहीं है, फिर भी कोई इसी उद्देश्य से 'इन्द्रशत्रु' इत्यादि मन्त्रों से हवन करता रहता है। इस क्षेत्र में उसकी कार्य सिद्धि होगी, यदि इस मंत्र आदि की स्वरादिगत समता (appropriateness) रक्षित हो सके, अन्यथा उल्टी उत्पत्ति होगी। अतएव 'संहतक्रिय' का अर्थ केवल मात्र 'एक योग' से कार्य करना नहीं है, प्रत्युत् व्यूह रूपेण (as organised according to plan) कार्य करना। व्यूह अर्थात् कौन उसका केन्द्र है, कौन पृष्ठ है, कौन पार्श्व है, इत्यादि रूप से शक्ति संस्थान और विन्यास के नियमित रूप (Definite picture) को समझना।

विघ्न समूह को समष्टि के दृष्टिकोणनुसार तीन प्रकार से विवेचित किया जा सकता है, यथा ओघ, गण एवं व्यूह। 'ओघ' का अर्थ है साधारणत: समष्टि। गण का अर्थ है दलबद्धरूपेण समष्टि। व्यूह अर्थात् व्यूहबद्धरूप से (किसी केन्द्र का आश्रय लेकर किसी एक कौशल से) समष्टि। अन्य प्रकार से देखने पर विघ्न ४ प्रकार का होता है, यथा दैशिक-कालिक-छान्दस एवं वास्तव। इन सभी विघ्नों से पीड़ित हो जाने पर जो होता है, उसे एक वाक्य में 'विघ्न सन्दोह' कह सकते है।

यन्त्र के द्वारा दैशिक विघ्न नाश करे। मन्त्र द्वारा कालिक विघ्न को नाश करे। तन्त्र के द्वारा छान्दस विघ्न और अन्त्र के द्वारा वास्तव विघ्न का नाश किया जाता है।

यन्त्र तथा तन्त्र को विशेषतः विद्यारूप जानों। मन्त्र को श्रद्धारूप और अन्त्र को उपनिषद् रूप जानों।

यह विद्या श्रद्धा तथा उपनिषद् रूप त्रिवेणी संगम में अथवा इन तीनों के प्रतिनिधि प्रणव में जो स्नान करके चरितार्थ हो चुके हैं, वे विघ्नपारावार को गोष्पद के समान पार करने में सक्षम हैं।

यन्त्र धनु: है। मन्त्र शर: है। तन्त्र है सन्धान पटुता। और अन्त्र अथवा अन्त:स्थल में जो वस्तु रहती, उसे परम लक्ष्य जानों।

सत्वादि गुणत्रयरूप अथवा जाग्रदादि अवस्थात्रयरूप जो त्रिपुर है, उसका परिहार करो। अर्थात् उसमें तादात्म्य बुद्धि नहीं रखना चाहिये। निपुर, अर्थात् जो अवयवविशिष्ट लिंगशरीर है, उसका इस प्रकार से परिहार करो। नाद-नूपुर-निक्कण-मुखरित जो साधना की सोपानावलि है, उस पर आरोहण करते हुये निःश्रेयस पद को प्राप्त करो।

९. व्याजविद्धस्य छद्मत्वम् ॥

अ॒दावृतञ्च सत्यञ्च तपसोध्यजायत।
ऋतेन त्वनभिष्वक्तं सत्यं न स्पन्दितुं क्षमम् ॥२८॥
स्पन्दाभावे न चाविष्ट्वं व्योमत्वादिजनिः पुनः।
असङ्गे तु बिना सङ्गं स्पन्दः प्रसज्यते कुतः ॥२९॥
स आसङ्गो हि कामो यः सूक्त अथर्वणे श्रुतः।
आसङ्गे सत्यभिष्वङ्गश्चानुषङ्गजनिस्तु यः।
द्वैतं सम्पुटितं यस्मिन् द्वे बीजे चणके यथा ॥३०॥
शक्यनिर्वचनं द्वैत मभिष्वंङ्गे न वै तथा।
मायाबीजमिमं विद्धि हरौ स्तो यत्र गर्भितौ ॥३१॥
निःस्पन्दः खनिभो हश्च सस्पन्दो रो हि वन्हिवत्।
ईकारेण समीक्षेते नादबिन्दु विलक्षणौ ॥३२॥
आदावसङ्गमद्वैत मवाङ्मनसगोचरम्।
बहुस्यामिति कामे त्वसङ्गस्यासङ्गतागतिः ॥३३॥
कामबीज मेवासङ्गं लीलाबीजविकल्पकम्।
विद्धि तस्मादभिष्वङ्ग स्ततोऽनुष्वङ्ग इष्यते ॥३४॥
असङ्गे तु न वेधोऽस्ति नाप्यासङ्गे स्फुटक्रियः।
अभिष्वङ्गे हि वेधस्य प्राप्तावकाशता भवेत् ॥३५॥
आसङ्गे जायत आविर्द्वन्दस्थत्वं ततोऽपि च।
द्वन्द्वान्निरोधिका रात्रि र्या सर्वाम्नायगोपिता ॥३६॥
उदारवृत्तितां प्राप्य चैकेनान्यन् निरुध्यते।
स्वेतररोधभेदाच्च रोधिकापि भवेद्द्विधा ॥३७॥

ब्रह्मास्मीति लणद्धीमान् बोध: शोकादिविभ्रमान् ।
चरम वृत्तिताकारो रुन्धे स्वमपि यः सकृत् ॥३८॥
रोधप्रसक्तिरासङ्गाद् बोधोऽभिष्वंङ्गतः पुनः ।
रोधो बोधायते क्वापि वेधो याति वि विक्तताम् ॥३९॥
व्याजविद्धत्वमापन्ने छन्दो भ्रश्यति वक्रगम् ।
रोधवेधक्षयं स्यात्तु धृतवज्रतनुच्छदम् ॥४०॥
वेधमूषिकमन्विष्योरगश्चलति वक्रगः ।
अहिश्च बाधते बर्ही स्कन्दश्छन्दोग वाहनः ॥४१॥

व्याज द्वारा जो विद्ध है उसे छद्म कहते हैं ॥

(Hypothetical and uncertain Harmony)

व्याज का लक्षण पहले कहा जा चुका है। अब यह समझना है कि उसके द्वारा विद्ध होने का तात्पर्य क्या है ? वेद का कथन है कि आदि में तपस्या से ऋत् एवं सत्य जात हुये हैं। वेद ने ऋत तथा सत्य का उल्लेख करते हुए दो बार 'च' कार (ऋतञ्च-सत्यञ्च) का प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोग द्वारा यह विदित होता है कि मानों ऋत एवं सत्य परस्परत: किसी एक अच्छेद्य बन्धन में आबद्ध हैं। जिस प्रकार शिव एवं शक्ति परस्परत: आलिंगन पाश में बद्ध हैं, उसी स्थिति में ऋत्—एवं सत्य भी बद्ध हैं। अथच इन पारस्परिक संग को धारणा में नहीं लाया जा सकता और भाषा से भी इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जो महारहस्य हमारी बुद्धि तथा वाक्य के परपार रहता है, उसे हम बुद्धि तथा वाक्य व्यवहार की सीमा में किसी न किसी प्रकार से लाना चाहते हैं। अथच, यथार्थत: लाने में अक्षम से ही रह जाते हैं। यह प्रयास करने पर कतिपय लक्षण, निरुक्ति, प्रतीक तथा संकेत का आश्रय लेना पड़ता है।

यहाँ उपर्युक्त 'च' कार द्वय का प्रयोग करके वेद ने ऋत एवं सत्य के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में हमसे कहा है। उसे भी हमें किसी एक प्रतीक अथवा संकेत की सहायता से अपनी धारणा में लाना होगा। आदिम वस्तु 'न रेमे' अथवा 'भयञ्चकार' इस स्थिति में सुख प्राप्त नहीं कर सकी। मानो वह भीत हो गई। अत: उसने एक एवं अद्वितीय होने पर भी मिथुन (दो) होने की इच्छा किया, यही हमें मानना पड़ेगा। तथापि असंग स्थिति में 'संग' कैसे हो सकता है, इसकी हम कोई भी निरुक्ति प्रस्तुत करने में अक्षम से रह जाते हैं। क्योंकि 'संग' परिलक्षित होने के पश्चात् ही बुद्धि का व्यापार प्रारम्भ हो सकेगा। उससे पहले प्रारम्भ नहीं हो सकेगा। ऋत तथा सत्य के इस अनिरुक्त संग को हम 'अभिष्वङ्ग' सज्ञा देते हैं।

जबतक यह 'अभिष्वङ्ग' नहीं हो जाता, तबतक जो सत्य है, उसमें स्पन्द तथा स्पन्दन की संभावना नहीं होती। आनन्दलहरी स्तव में कहा गया है कि शक्ति के अभाव में शिव हिलने-डुलने में भी अक्षम रहते हैं। इसी प्रकार ऋत के अभिष्वङ्ग के बिना सत्य में किसी प्रकार का भी स्पन्द सम्भव नहीं हो सकता ॥२८॥

स्पन्द से क्या अर्थ ध्वनित होता है ? स्थूल में जिसे स्पन्दन रूप(Vibration) देखा जा रहा हैं, वह स्पन्दन तथा सृष्टि के पूर्व का स्पन्दन एक प्रकार का नहीं है। वाह्य स्पन्दन के लिये देश-काल निमित्त की अपेक्षा रहती है, किन्तु यहाँ जिस मूल स्पन्दन का उल्लेख किया जा रहा है, उसमें इनकी अपेक्षा ही नहीं रहती। सत्य जब ऋत के संसर्ग से स्पन्दित होता है, तब देश कहां है, काल-निमित्त भी कहां है ? अथच, संग कहने पर यह जिज्ञासा होती है, कि संग किसके साथ और किसका ? वह 'अपर' क्या है ? जब एक अद्वितीय आत्मा के अतिरिक्त 'अवर' रूप अन्य कुछ भी नहीं है, तब यह निश्चित है कि वह एक आत्मा ही स्वयं को 'पर' रूप से देखता है। यदि हम इसे अपने सामान्य अनुभव के दृष्टान्त द्वारा ही समझना चाहें, तब यह कहना पड़ेगा कि हमारा जो समग्र बोध है उसे ही हम 'मैं' कहते हैं। दूसरे ही क्षण वह "मैं" का साक्षी स्वरूप 'मैं' होकर हमारा बोध विषय समूह को दृश्यरूपेण (object रूपेण) अर्थात् "यह दृश्य मैं नहीं हूँ" इस प्रकार से अपने से व्यतिरिक्त रूप में अनुभव करने लगता है। यहाँ मानों एक अखण्ड 'मैं' स्वयं को भागद्वय में विभक्त करके एक 'मैं' हो जाता है 'साक्षी रूप मैं' और दूसरा 'मैं' हो जाता है दृश्य एवं 'पर'।

यही है 'मैं' द्वारा अपनी बलि। यही है आदियज्ञ। इस प्रकार से आत्म एवं पर रूपी द्वैत का आश्रय लेकर ही विश्व का मूल संग तथा स्पन्दन सम्भव होता है। अत: संग का तात्पर्य है इस प्रकार का द्वैत लक्षण। यहाँ 'लेश' कहा गया है, क्योंकि अभी भी अहं एवं इदं मानो परस्परतः आलिंगित ही है, वैसे जैसे चने के बीज के दोनों दल एक ही आवरण में पारस्परिक रूप से मिले रहते हैं। अत: द्वैत है समानाधिकरण। वह व्यधिकरण कदापि नहीं है। इस प्रकार का संग अथवा द्वैतलेश परिलक्षित होते ही स्पन्द की सम्भावना घटित होती है। पुनश्च, जब तक स्पन्दाविर्भाव नहीं हो रहा है, तबतक आदिम वस्तु की आविः, किंवा विश्वतोमुख अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती। अत: व्योम, वायु प्रभृति आविर्भाव सम्भव नहीं होता ॥२९॥

किसी अनिर्वचनीय कारण से अथवा रीति से असंग का संग नहीं हुआ, किन्तु जिस अभिष्वङ्ग की चर्चा हम कर चुके हैं, वह क्या संग की आदिम अवस्था है ? नहीं, ऐसा नहीं है। यह मानना होगा कि इससे भी पूर्व एक 'आसंङ्ग' नामक स्थिति है। सुषुप्ति अथवा मूर्च्छा में अज्ञान का भान होता है। सुषुप्ति में सुख का

भी भान होता है। किन्तु सुषुप्ति की अवस्था में जिसका भान है वह तथा जिस में भान है वह, दोनों इस प्रकार से जड़ित रहता है कि इन दोनों को दो कहते ही नहीं बनता। यहाँ तक कि इस स्थिति में चैतन्य भी स्वयं को साक्षी तथा साक्षीभास्य रूपी दो स्थिति में उपलब्ध करने में अक्षम रह जाता है। जैसे एक वृक्ष देख रहा हूँ। जबतक तदगत् होकर देखता हूँ, तब तक वृक्ष हमारा ज्ञेय है और मैं उसका ज्ञाता हूँ, इस प्रकार का अनुभव विभाग मैं नहीं कर पाता! उस स्थिति में यह वृक्ष ही अनुभव है। जब अनुभव के सम्बन्ध में मनन करता हूँ (अर्थात् उसके बारे में कोई Judgement लेता हूँ), अथवा उसके सम्बन्ध कुछ कहना चाहता हूँ (discourse), उस स्थिति में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय को पृथक् करके कहना पड़ता है।

पुनश्च, सूर्य में उसका तेज और अग्नि में उसकी दाहिका शक्ति किस प्रकार से रहती है, इसका चिन्तन करो। इस सम्बन्ध में कुछ कहने के लिये उद्यत होने पर 'सूर्य का तेज' अथवा 'अग्नि की दाहिका शक्ति' इस प्रकार से पृथक् करके कहना पड़ता है। किन्तु वास्तव में वे किस प्रकार से पृथक् हैं, कहाँ पर पृथक् हैं? इन सभी दृष्टान्तों के द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि चनें के एक बीज में स्थित दोनों दलों में एक साथ अवस्थान गुण के साथ ही साथ दोनों दानों का सूक्ष्मतर एक 'संग' भी है। इस प्रकार के संग को हम आसंग कहते हैं। यह 'आसङ्ग' द्वैत रूप है अथवा नहीं है, इसका कोई भी सकारात्मक अथवा नकारात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। मानों यह द्वैत और अद्वैत की एक अव्यक्त संधि है। रेखा के एक ओर द्वैत है ही नहीं, दूसरी ओर द्वैत परिलक्षित हो रहा है। मध्य की अवस्था है अवाङ्मनस गोचर। संधिरेखा किधर खींच रही है? देश की ओर? नहीं! काल की ओर? नहीं! वस्तु की ओर? नहीं! सम्बन्ध की ओर? नहीं! क्योंकि जो सम्बन्धातीत Alogical Absolute है, वह सम्बन्धभाक् हो रहा है। सम्बन्ध में अवगाहन कर रहा है, लाजिकल हो रहा है। इस परमाश्चर्य रेखा को पार करके ही ऐसा हो रहा है। आसंङ्ग का 'आ' उपसर्ग ही संङ्ग की मर्यादा तथा अभिविधि की ओर इंगित करता है। यहीं से प्रारम्भ करके ही द्वैत की उपपत्ति एवं सम्बन्ध की उपपत्ति हो रही है। यह है इसका संकेत! यहाँ से जो कुछ जन्म आदि हो रहा है उन सब में द्वैत सम्बन्ध व्याप्त है। यह भी दूसरा इंगित है। अथर्ववेद के कामसूक्त में जिसे काम कहा गया है, वही है सृष्टि का आदिभूत आसङ्ग।

'सोऽकामयत्' द्वारा श्रुति ने असंग ब्रह्म के इसी आसङ्ग की ओर इंगित किया है। यही है अचिन्त्यभेदाभेद का अचिन्त्य सूत्र। इस आसङ्ग का एक रूप है व्यासङ्ग! इस व्यासङ्ग अवस्था में आत्मा स्वयं ही स्वयं का संङ्ग प्राप्त करते हुये मानो जागरूक हो जाता है। वह जागरूक होकर स्वयं ही स्वयं का आविष्कार करता है कि यह तो मैं ही एकाकी हूँ। अन्य कुछ भी नहीं है। यहाँ आत्मा ही

स्वयं साक्षी है और स्वयं साक्षीभास्य है। व्यासङ्ग शब्द में प्रथमतः 'वि' है। यह तो आवि का 'वि' है ही, इसके अतिरिक्त यह विविक्त लक्षण का भी 'वि' है। विविक्त लक्षण अर्थात् जो स्वयं को विविक्त और स्वतंत्र रूप से देख रहा है। अन्य किसी के साथ सम्बन्धित होकर नहीं देख रहा है। व्यासङ्ग की यह परिभाषा स्मरण योग्य है।

अब आसङ्ग से है अभिष्वङ्ग। इस सम्बन्ध में हमने इतिपूर्ण आलोचना किया है। इसमें चने के दो दानों के समान द्वैत की विद्यमानता सम्पूरित रूप से रहती है। इसी अभिष्वङ्ग से पुनः अनुष्वङ्ग तथा प्रतिष्वङ्ग का उदय होता है। इनका वर्णन आगे कहीं किया जायेगा ॥३०॥

जब द्वैत का प्रस्फुरण होता है, तभी वह निर्वचन योग्य है। अभिष्वङ्ग में द्वैत प्रस्फुरित नहीं होता। अतः अभिष्वङ्ग तो निर्वचन योग्य नहीं है अनिर्वचनीय है। इसे मायाबीज 'ह्रीं' समझो। इसमें 'र' तथा 'ह' गर्भित रहता है।

स्पन्दहीन आकाश के समान है 'ह'। सस्पन्द वन्हि है 'र'। यही 'ह' तथा 'र' नाद एवं विन्दु के द्वारा विशेषतः लक्षित होकर 'ई' के द्वारा विश्व प्रपञ्च का सम्यक् रूपेण ईक्षण करता है। अर्थात् 'ह' के साथ नाद शक्ति और 'र' के साथ विन्दु शक्ति संयुक्त होकर निस्पन्द को सस्पन्द करती है और फलस्वरूप विश्वसृष्टि का ईक्षण संभावित हो जाता है ॥३२॥

किम्बहुना मूल में जो असङ्ग अद्वैत है, वही है अवाङ्मनसगोचर। इसमें इस प्रकार का काम उदित होता है कि -अनिर्वचनीय रूप ही बहुः होगा। यही 'काम' आसङ्ग के नाम से अभिहित किया जाता है ॥३३॥

इस 'आसङ्ग' से ही कामबीज 'क्लीं' उद्भूत होता है। अब इस काम को पुनः लीला दृष्टि से देखने पर "श्रीं' तथा 'ऐं' बीजद्वय की उपलब्धि हो जाती है। लीलाभिव्यक्ति के दो दिक् हैं। प्रथम है अनंत ज्ञानैश्वर्य, द्वितीय है अपूर्व रचना सौष्ठव। प्रथम है महासरस्वती, द्वितीय है महालक्ष्मी। आसङ्ग से अभिष्वङ्ग! अभिष्वङ्ग से अनुष्वङ्ग तथा प्रतिष्वङ्ग। जहाँ परस्परतः सम्बन्ध गाढ़ है और परस्परतः अनुगत है, वहाँ है अनुष्वङ्ग। जहाँ परिस्परिक सम्बन्ध गाढ़ होने पर भी पारिस्परिक प्रतियोगिता किंवा प्रतिद्वन्द्विता है, वहाँ है प्रतिष्वङ्ग। अनेक स्थल पर अनुष्वङ्ग तथा प्रतिष्वङ्ग युगपत् रूपेण विद्यमान रहते हैं। जैसे जब शिष्य गुरु के समक्ष मन्त्रदीक्षा प्राप्त करता है, तब उस मन्त्र में शिष्य की आग्रह शक्ति और गुरु की अनुग्रह शक्ति का अनुष्वङ्ग सम्बन्ध विद्यमान है, तथापि यहाँ शिष्य के अन्तस् में जिन विरोधी संस्कारों की सत्ता है, उनकी शक्ति साथ ही साथ एक प्रतियोगिता (रियैक्शन) की सृष्टि करती रहती है। इनका बन्धन संस्कार अनादि तथा प्रबल है। इन सबकी क्रिया का भी एक निजस्वछन्दः है। इस छन्दः से ही साधना में

विषच्छन्द तथा अरिच्छन्द उदित होते हैं। शिष्य की साधन शक्ति के साथ इनका सम्बन्ध गाढ़ है अथच वे अनुगत अनुकूल नहीं है। ऐसे सम्बन्धों को प्रतिष्वङ्ग कहते हैं। पूर्वोक्त अनुष्वङ्ग के बलवान हो जाने पर यह प्रतिष्वङ्ग जनित बाधा किंवा अन्तराय भी अशुभ का निमित्त रूप न होकर शुभ निमित्त रूप हो जाता है। अर्थात् बन्धन संस्कार के समूह जनित वेग के कारण जो बाधाएँ उपस्थित होती है, और वह जितनी उद्दीपित होती हैं, उतने ही परिमाण में गुरु की अनुग्रह शक्ति जागरित होकर साधक की सहायक एवं सुहृद बन जाती है। अतः समस्त प्रतिष्वङ्ग ही अशुभ अथवा परिपन्थी नहीं है ॥३४॥

यह लक्ष्य करो कि आसङ्ग में जो 'स' है, उसमें "व" कला नहीं है। अभिष्वङ्ग इत्यादि के 'स' कार के साथ 'व' कला युक्त है जैसे 'ष्व'। इस 'व' को जानने की चेष्टा करो। 'सः' का तात्पर्य है वह, किन्तु 'स्व' का तात्पर्य है स्वयं। जो 'सः' (वह) है वह अनेक में एक 'मात्र' रूप ही प्रतीत हो रहा है। (अर्थात् प्रत्येक ही वह, सः है)। उसे हम विशेषतः अथवा गम्भीर रूप से नहीं देख रहे हैं। क्योंकि प्रत्येक सः का, वह का जो स्वभाव अथवा निजस्व है, हम उसके सम्बन्ध में उदासीन हैं। किन्तु जब हम 'स्व' कहते हैं, तब उसका निजस्व अथवा स्वभाव ही हमारे अभिनिवेश का विषय बन जाता है। इस प्रकार से 'अयं' तथा 'स्वयं' को विचारो। 'आहा' कहना एक विस्मय का प्रकाशन मात्र है, परन्तु स्वाहा कहने पर प्राण का वह मुख्य व्यापार हृदयंगम किया जाता है, जिसके द्वारा इस विश्वयज्ञ में सभी प्रकार की आहुति का अर्पण करते हैं।

प्रणव में जो 'उ' है, उसका संकोचन है 'व' और जब यही 'व' पुनः प्रसारित होता है तब पुनः 'उ' हो जाता है। 'व' के द्वारा इस संकोचन वृत्ति की सूचना प्राप्त होती है। आसङ्ग में 'व' नहीं है, अतः उसमें किसी भी प्रकार की संकुचन वृत्ति का आभास ही नहीं मिलता। अभिष्वङ्ग आदि में 'व' की सत्ता है। अतः उन सब में किसी-न-किसी प्रकार का संकोचन परिलक्षित होता रहता है। संकोचन के ही कारण असीम में सीमा का परिदर्शन होने लगता है। इसीलिये अखण्ड तथा व्यापक वृत्ति के स्थान पर अविच्छिन्न और परिच्छिन्न वृत्ति परिलक्षित होने लगती है। जबतक कोई सत्ता अथवा शक्ति अखण्ड एवं व्यापक वृत्ति में विद्यमान रहती है, तब तक वह अन्य कुछ को विद्ध नहीं करती, अन्य किसी के द्वारा विद्ध भी नहीं होती। तभी तक वह है अमृत एवं वज्र। असङ्ग अवस्था का वेध नहीं होता। यद्यपि आसङ्ग अवस्था में वेध की नैकटिक सम्भावना रहती है, तथापि अभी तक उसमें वास्तव वृत्तिता स्फुटक्रिय नहीं होती। अभिष्वङ्ग स्थिति में वेध प्राप्तावकाश रहता है, अर्थात् उसमें वेध अथवा विद्ध होने अथवा विद्ध किये जाने की सम्भावना भी नहीं रहती ॥३५॥

[वेध क्या है ? 'पाप्मा विद्ध' 'असुरविद्ध'' इत्यादि में जो वेध लक्षित हो रहा है, वह वस्तुत: क्या है ? जैसे क तथा ख का पारस्परिक निकट सम्बन्ध घटित हो रहा है । फलस्वरूप 'क' की सत्ता-शक्ति, छन्द: एवं धर्म 'ख' में स्वयं को प्रविष्ट कर रहा है । क एवं ख रूपी उभयवृत्त मानो केवल एक दूसरे का स्पर्श ही नहीं कर रहा है, प्रत्युत् एक दूसरे का भेदन कर रहा है । परिणाम यह होता है कि 'क' की सत्ता 'ख' में संक्रमण कर रही है और 'ख' की सत्ता 'क' में संक्रमित हो रही है । दो विप-रीत ताड़ित युक्त मेघ में परस्परत: तड़ित् का आदान-प्रदान हुआ । तदनन्तर मानों दोनों अंशत: किंवा सर्वतोभावेन मिलकर एक हो जाते हैं । रासायनिक संयोगादि में भी अणु प्रभृति (उनके सूक्ष्मतर उपादान में भी) में इसी प्रकार पारस्परिक रूप से पुरातन व्यूहभेदन तथा नूतन व्यूहरचना घटित होती है । इसके अतिरिक्त रासायनिक दबाव Osmotic Pressure रूपी एक अन्य व्यापार भी परिलक्षित होता है । प्राणी जगत् में भी इस प्रकार की नूतन व्यूहसृष्टि का व्यापार अहरह: घटित होता रहता है । पुरुष बीज और स्त्री बीज के सम्मिलन से प्रजनन की जो स्थिति होती है, उसमें भी इसी वेध की ही सक्रियता रहती है । मानस क्षेत्र में इस वेध का दृष्टान्त सहजता से प्राप्त होगा । स्पष्ट चेतना के समान ही मग्न अवचेतना भी वेध (Interference Penetration आदि द्वारा) द्वारा ही प्रभावापन्न रहती है । सत्व में भाव तथा संस्कारों को (शुद्ध तथा मलिन को) परस्परत: वियुक्त करते हुए शुद्धता से उपनीत करना ही रज: में उन्हें (वक्रगति से) वेध युक्त घात एवं प्रतिघात की प्रवृत्ति प्रदान करता है । परिणामत: वेध और पारस्परिक ग्रंथि की सृष्टि होती है । तम: का कृत्य है इन ग्रन्थियों को और भी जकड़कर रखना, उन्मुक्त न होंने देना !

हम वेध को चार भागों में विभक्त कर देते हैं जैसे स्पर्शवेध (टचिंग), अव-च्छेद वेध (Intersecting), तादात्म्यवेध (Colnciding) तथा गर्भित अथवा अन्त-र्भावेवेध (falling within) । सभी क्षेत्रों में यह दृष्टान्त प्राप्त हो जाता है । जैसे ऊँकार की ध्वनि सुन रहा हूँ । अब अन्य कोई शब्द होता है । वह उसे स्पर्शमात्र करके जा रहा है, अथवा उस ध्वनि का अवच्छेद कर रहा है । किंवा उस ध्वनि के गर्भ में स्थित हो जा रहा है । शब्दादि के मूल में जो उर्मिभंगी (वेवपैटर्न) है, उसकी भी चतुर्विध अवस्था हो सकती है । पुनश्च, जैसे अभिष्वङ्ग में होता है, यहाँ भी उसी प्रकार अनुवेध तथा प्रतिवेध की कल्पना की जा सकती है । जिस वेध से 'क' एवं 'ख' की सत्ता पारस्परिक रूप से समृद्धि (Summation and progression) प्राप्त करती है, उसे अनुवेध कहते है । जिसके द्वारा पारस्परिक कुण्ठा और कार्पण्य (detraction and distortion) घटित होता है, उसे प्रतिवेध कहा जाता है । जैसे अनुष्वङ्ग एवं प्रतिष्वङ्ग में होता है, यहाँ भी उसी प्रकार अनुवेध मात्र ही श्रेयस्कर है और प्रतिवेध मात्र अश्रेयस्कर है, ऐसा मानना भूल है । जैसे

सभी अनुष्वङ्ग और प्रतिष्वङ्ग विपरीत तथा अश्रेयस्कर नहीं हैं, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। जैसे मन्त्रजप वृक्षलता आदि के समान मन्त्र की भी शैशव; तारुण्य तथा जरा अवस्था साधक के सम्मुख स्वाभाविक नियम के अनुसार उपस्थित होती है। मन्त्र की कुण्ठायुक्त एवं स्वाभाविक दौर्बल्ययुक्त अवस्था है। जब इस स्थिति की विवृद्धि होती है तब शिशु केवल मात्र शिशु ही नहीं रह जाता, उसकी मृत्यु हो जाती है। अतएव साधना के द्वारा मन्त्र के शैशव एवं दौर्बल्य का प्रतिवेध होना आवश्यक है। उसका अनुवेध होना उचित नहीं है। मन्त्र में 'जरा' का उदय हो रहा है, यह जान लेना ही प्रतिवेध है।]

असङ्ग में आसङ्ग का परिदर्शन होने पर विश्वतोमुख 'आविः' का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आविः विश्वतोमुख है और विश्व भी द्वैत के बिना सम्भावित नहीं होता। अतः आविः का प्रत्यक्ष होने के साथ ही साथ द्वन्द्वभाव (Polarity) का भी प्रत्यक्ष होता है। रहस्य भाषा में यह है मिथुन किंवा युग्म तत्व (polarity) के कारण आविः अब केवल आविः ही नहीं रह जाती प्रत्युत वह होती है (द्वन्द्वात्मक) आविः तथा रात्रि। आविः है प्रकाशरूप और रात्रि है निरोधरूप। यह निरोधिका रात्रि वेदादि में गोपिता (गुप्ता) है ॥३६॥

विश्व में यह विकासशक्ति तथा निरोधशक्ति पारस्परिक अपेक्षा द्वारा क्रिया करता है। विकासशक्ति के कारण जो उदार वृत्ति (उन्मुक्त वृत्ति) होती है, उसका निरोधशक्ति पुनः संकुचन कर देती है। पूर्णतः उदार वृत्ति से कुछ भी नहीं हो पा रहा है ! इसी प्रकार विश्व में कुछ भी पूर्णतऽ निरुद्ध भी नहीं है। देश सम्बन्ध में, काल सम्बन्ध में तथा निमित्त सम्बन्ध में इसी निरोध और विकास के अनुपात के द्वारा ही विश्वान्तर्गत समस्त वस्तुओं की अवस्थिति एवं परिस्थिति निरूपित होती है जैसे प्रकाशिका अपना प्रकाश करने में सक्षम है, उसी प्रकार वह अन्य का भी प्रकाशन करने में सक्षम बनी रहती है। इसी प्रकार जैसे निरोधिका अपना निरोध करती है, उसी प्रकार समस्त का भी निरोध करती रहती है। अतः वह भी स्वनिरोधिका एवं अन्यरोधिका ही है ॥३७॥

एक दृष्टान्त ! जब "ब्रह्मास्मि को बोध होता है, तब यह बोध शोकादि विभ्रमों का एकबारगी रोध कर देता है। और बोध चरम वृत्ति भी है। यह उत्पन्न होने पर स्वयं का रोध करने में भी सक्षम है। जब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' की वृत्ति बनी रहती है, अथवा इस प्रकार की अन्य वृत्ति रहती है, तब तक हमारी ब्रह्मस्वरूपता नहीं हो सकती है। जब तक इन वृत्तियों का अथवा समस्त वृत्तियों की शून्यता (निरोध) घटित नहीं हो जाती तब तक 'ब्रह्मैव भवति' रूपी परम प्राप्ति सम्भव नहीं हो पाती। 'मैं ब्रह्म हूँ' को ब्रह्माकार चरमवृत्ति तो कहा जाता है, तथापि यह साक्षात्

ब्रह्म नहीं है। जैसे अग्नि ईन्धन को पूर्णत: दग्ध करके स्वयं भी लीन हो जाता है, निर्वाणयुक्त हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्माकार चरम वृत्ति भी अन्त में लेश-कर्म-विपाक तथा आशय रूपी भव ईन्धन को पूर्णत: दग्ध करते हुये स्वयं भी अस्तमित हो जाती है। नदी जा रही है नदीनाथ के संधानार्थ, वह ऋजु-कुटिल विभिन्न मार्ग से बढ़ती जा रही है। जब नदी सागरसंगम तक आ पहुँचती है, तब वह समस्त बँधनों को तोड़ते हुए कहती है "यही तो है महान् ! मैं ही तुम हो और तुम ही मैं हूँ। मुझमें तुममें अब भेद ही कहाँ है ?" ! अभी भी नदी ने स्वयं को सागर में विसर्जित नहीं किया है। जब वह उस असीम अगाध गाम्भीर्य में स्वयं को विलीन कर देती है, तब कोई भी वृत्ति नहीं रह जाती। कोई भी भाषा नहीं रह जाती ! ॥३८॥

आसङ्ग से रोध का प्रसंग उपस्थित होता है और अभिष्वङ्ग से वेध का आगमन होता है। हमने देखा है कि रोध तथा वेध दो प्रकार के है। एक इसको हम स्वप्रतियोगिक कह सकते हैं। यहाँ पर रोध अथवा वेध अन्य किसी वस्तु को विषय बनाता है, जैसे मेघ के द्वारा सूर्य की रश्मि का रोध होता है और बाण से किसी लक्ष्य का वेध होता है। रोध एवं वेध में यह द्विविध है, अत: कहीं कहीं तो रोध ही वेध का कारण हो जाता है। इसी कारण वेध के द्वारा भी विवेक और कैवल्य की सम्भावना हो जाती है। प्रथम का दृष्टान्त हमने ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा अज्ञान नाश के उदाहरण में देखा है। द्वितीय का दृष्टान्त चिन्तन द्वारा प्रत्यक्ष होने लगता है। प्रकृति के धर्म सुख-दु:ख इत्यादि के पुरुष में अध्यस्त होने के कारण पुरुष स्वयं को सुखी एवं दुखी मानने लग जाता है। इसी प्रकार पुरुष का चैतन्य प्रकृति में प्रतिफलित होकर जड़ को अर्थात् दृश्य को भी द्रष्टा के अनुरूप चेतनवत् प्रतिभासित करने लगता है। हमारे लक्षण के अनुसार प्रकृति और पुरुष के इस प्रकार के संयोग को वेध कहते हैं। यदि समाधि प्रभृति उपायों के द्वारा यह वेध स्वयं को ही विद्ध करे अथवा निर्मूल हो पाये, उस स्थिति में विवेकख्याति हो जाती है। विवेकख्याति हो जाने पर प्रकृति से विविक्त पुरुष साक्षात्कार के कारण कैवल्यावस्था आयत्त हो जाती है। पुनश्च, भक्ति सिद्धान्त में इस वेध का दृष्टान्त विशेष रूप से उपलब्ध होता है। जैसे भगवान की अन्तरंगा एवं बहिरंगा शक्ति। बहिरंगा शक्ति से गति होती है प्राकृत अथवा मायिक में। अन्तरंगा शक्ति पूर्णत: अप्राकृत एवं निर्मायिक है। जीव है भगवान की तटस्था शक्ति। तटस्थता अर्थात् जीव अपनी स्वरूपगत अप्राकृत-निर्मायिक सत्ता पर प्राकृत एवं मायिक धर्म के आच्छादन का अनुभव करता है। मानो जीव अपनी अमायिक शुद्ध चिन्मय सत्ता को माया के द्वारा भूलकर स्वयं को इस प्राकृत जड़ विश्व में सम्मिलित कर देता है। यह है मायिक एवं प्राकृत के द्वारा अमायिक और अप्राकृत का वेध।

इसी वेध के कारण जीव को भगवान से विमुखता और भवबन्धन रूपी क्लेश की प्राप्ति होने लगती है। इसी वेध ने उसे एक अनादि-अनन्त-प्राकृत धरा में पतित कर रक्खा है। उसके उद्धार का उपाय है इस वेध को पुन: विद्ध करना। पुनश्च, प्रणव को धनु: और आत्मा को शर: कहने वाले श्रुति के मन्त्रों में यह कहा गया है कि ब्रह्म ही लक्ष्य है। उसका वेध करो। किन्तु ब्रह्म तो वेध वस्तु नहीं है। तब उसे लक्ष्य बनाकर बाण द्वारा कैसे विद्ध किया जा सकेगा? किम्बहुना, ब्रह्म के स्वयं वेध योग्य न होने पर भी उसमें अचिन्त्य मायाशक्ति ने 'त्वं' तथा 'तत्' रूपी भेद कल्पित कर दिया है। यह भेद तो अवश्यमेव वेध योग्य वस्तु है! आत्मा स्वरूपत: ब्रह्म है; तथापि त्वं पदार्थ रूप से स्वयं को अल्पज्ञ, अल्पशक्तियुक्त मान रहा है। वह ब्रह्म को सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान मान रहा है। जब वह ब्रह्म में ऐसी सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता का चिन्तन करता है, तब यह उसकी अपनी कल्पना नहीं है। शुद्ध अक्षर ब्रह्म स्वयं का प्रकाशन सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान रूप से कर रहा है। यदि यह कल्पना भी है, तब भी यह जीव की कल्पना कदापि नहीं है। यह है ब्रह्म की स्वकल्पना। द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे 'मूर्त्तश्चामूर्त्तश्च'। इस कल्पना के द्वारा शुद्ध ब्रह्म अपने ऐश्वर्य में स्वयं को प्रकाशित करके भी लुक्कायित है, छिपा हुआ है! जैसे भक्ति सिद्धान्त के अनुसार भगवत्ता की स्वरूप माधुरी भी उनके ऐश्वर्य में छिपी रहती है। 'रसो वै स:' रूपी परम अनुभूति द्वारा ऐश्वर्य के ही अन्तर्गत माधुर्य को पाना और उसका आस्वादन करना होगा। यह संभव है रसानुग साधना द्वारा! इसलिये यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म का अथवा 'तत्' पदार्थ का एक अनिवर्चनीय वेध होता है। जीव के स्वरूप का वेध होता है अविद्या तथा अज्ञान जनित। ब्रह्म अथवा भगवत्ता के साथ जीव का जो प्रकृत सम्बन्ध है उसका मान क्यों नहीं हो रहा है? इसका कारण है अज्ञान। इस अज्ञान वेध को विद्ध करना होगा। यही है 'त्वं' पदार्थ का शोधन। ब्रह्म का जो स्व आवरण है (जैसे अन्तरंगा रसाश्रित साधन के चारो ओर बहिरंग ऐश्वर्य) उसका भी वेध करना होगा। यह है 'तत्' पदार्थ का शोधन। इन द्विविध शोधन द्वारा वेध स्वयं ही विद्ध हो जाता है और आत्मा रूपी 'शर' ही प्रणव रूपी धनु से निक्षिप्त होकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य का वेध सम्पादित करके उसी में तन्मय हो जाता है ॥३९॥

यदि छन्द: ब्याज के द्वारा विद्ध हो, तब वह ऋजुगति न होकर वक्रगति रूप हो जाता है। जब छन्द: ब्याज एवं विघ्न द्वारा विद्ध नहीं होता, तब वह है वज्र सत्व-वज्रायुध एवं वज्रवर्ग। अत: ऐसे छन्द: को अन्य कुछ भी वेधित करने में समर्थ नहीं है। वह समस्त रोधजन्य बाधाओं का वेध स्वयं ही कर देता है ॥४०॥

वेधरूपी मूषिक का अन्वेषण करके एक सर्प वक्रगति से चलता जा रहा है। एक मयूर (बर्हि) सर्प को बाधा दे रहा है। देवसेनानी स्कन्द इस छन्दोग मयूर

को अपना वाहन बनाये रखते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि किसी अशुभ वेध को करने के लिये हम जिस उपाय का अवलम्बन लेते हैं, वह उपाय यदि ऋजुग न होकर वक्र हो जाता है, तब वह वेध की अपेक्षा और भी गुरुतर अशुभ का कारण है। अत: यह देखना होगा कि अशुद्ध की निवृत्ति का उपाय किसी और बड़े अशुभ का कारण न बन सके। यदि अवलम्बित उपाय वक्र एवं कुटिल हो जाये (अर्थात् व्याज-विघ्न उपस्थित हो जायें), उस स्थिति में उसके परिहार अथवा संशोधन का क्या उपाय हो सकेगा ? किम्बहुना छन्द का आश्रय लेना ही उपाय रूप है। छन्द: का प्रतीक है बर्हि। इसी बर्हि (मयूर) के पंख (बर्हं) को निखिल छन्द: की परम मधुरिमा मूर्त्ति श्रीकृष्ण अपने शिर पर धारण करते हैं।

यह बर्हि है छन्दोग। अथवा छन्द ही उसकी गति है। छन्द के अभाव में इसकी गति नहीं होती। सुरसेनापति स्कन्द ने इसी छन्दोग को ही अपना वाहन बनाया है। असुरों पर सुरों की विजय इसी छन्द: की ही सहायता से संभावित हो सकी है। जीव का मन विषयविद्ध है। अत: वह 'रसो वै स:' रुपी भगवान् से विमुख है। भगवान का स्मरणनामकीर्त्तनादि (जप) ही इस वेध निराकरण का श्रेष्ठतम उपाय कहा गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यदि अवलम्बित उपाय व्याज (कैतव-कापट्य-कौटिल्य) द्वारा विद्ध होता है (अर्थात् व्याज व्याल हो जाता है) तब वह बर्हि न होकर उरग (भयानक सर्प) रूपी विषय वर्द्धक हो जाता है। विषयासक्ति के वेध के निराकरण का उचित उपाय है ऋजु एवं निर्मल भगवदासक्ति। भगवान् में रुचि, रति, प्रीति, प्रेम। आत्मेन्द्रियतर्पण लालसारूप काम को जय करने का प्रकृष्ट उपाय उसे भस्म करने की चेष्टा करना (Elimination) नहीं है, किन्तु उसे मन्मथों के मन्मथ (श्री भगवान) के "काम" रूप में विवर्त्तित (With the Sign Completety changed) कर लेना (Sublimation) ही है। तथापि किसी प्रतीक (जैसे प्राकृत परकीया भाव आश्रय) का आश्रय लेकर साधना करने से व्याज व्याल विद्ध होकर महापराध में निपतित होने का भय अवश्यमेव अधिकतर है। अत: हे साधु ! सावधान ॥४१॥

१०. विघ्नविद्धस्य छदित्वम्॥

दैशिकादिविघ्नजालैराच्छादयति छन्दसम्।
चलतास्तब्धताभेदाज्जायेते ते छदिश्छदा ॥४२॥

विघ्न से विद्ध होना ही छदि है ॥

(Harmony as veiler)

विघ्नालोचना प्रसंग में हमने देखा है कि दैशिकादि भेद से विघ्न चार प्रकार के हैं। यदि इन समस्त विघ्नजाल के द्वारा छन्द का स्वरूप आच्छादित हो जाता है, तब वह छन्द के स्थान पर है छदि। 'छद्' धातु का अर्थ है आच्छादन।

अतः छदि है आच्छादित छन्दः। आच्छादन में रजोगुण का प्राधान्य रहने पर वह चल स्वभाव युक्त होने के कारण छदिः (Dynamic velier) है। यदि आच्छादन में तमोगुण की प्रधानता है, तब वह स्तब्ध स्वभाव है। इसे कहते हैं विसर्गविहीन छदि (Static velier)। एक है क्षिप्त, दूसरा है पंगु। इन दोनों का (वैगुण्य का) वर्जन करके सत्वप्रधान छन्दः का (जो छन्दः धीर एवं उदात्त है; उज्वल अथच स्निग्ध रमणीय है, ऋजु अथच उदार है, निरपेक्ष अथच दक्ष है, उसका) समाश्रय लो ॥४२॥

११. ओजोराहित्ये छन्दत्वम् ॥

व्याजविघ्नविहीनस्य सांसिद्धिकं हि छन्दसः।
ओजस्वित्वं वज्रसत्वं वाधावेधक्षमं महत् ॥४३॥
श्रेयसे प्रेयसे छन्दः प्रेयसेऽन्यस्तु केवलम्।
स्वैरच्छन्दः परच्छन्दः स्वछन्द इति स पुनः ॥४४॥
प्रणवपुटितं बीज मोजस्वत्तरतां ब्रजेत ॥४५॥

यदि छन्दः ओजरहित है (ओजस्वी नहीं है) तब वह है (विसर्गविहीन) छन्द। (Harmony as pleasure) ॥

व्याल अथवा सर्प होने पर व्याज और आखु अथवा मूषिक होने पर विघ्न। समस्त प्रकृति में व्याप्त होकर यह खनन कर रहा है अतः मूषिक का नाम है आखु (आ + खन् + उ)। इस व्याल एवं आखु का पूर्णतः परिहार करके जो छन्दः है, उसमें स्वाभाविक ओजस्विता धर्म विद्यमान है और वह महत् वज्रसत्व हो जाता है। अतः सर्वविध बाधा का वेध करने में सक्षम है ॥४३॥

इस प्रकार का जो छन्दः है, वह श्रेयः एवं प्रेयः, इन दोनों का दोहन करने में समर्थ रहता है। पक्षान्तर से विसर्गरहित ओजोरहित जो छन्द है, वह केवल प्रेय का निमित्त (agreeble) हो सकता है। द्वितीय प्रकार का छन्द तीन प्रकार का है, स्वैरच्छन्द, परच्छन्द तथा स्व च्छन्द। अन्य किसी व्यापक अथवा बृहत्तर छन्द के शासन को माने बिना जो छन्द उश्रृंखल गतियुक्त है, वही है स्वैरच्छन्द। इसमें नियमानुग भाव का अभाव रहता है। जो अपर किसी के द्वारा बाध्य है, अतः जिसमें आनन्द और लीला का किंचित् लेश नहीं है, उसे कहते हैं परच्छन्द। अतः इसमें स्वच्छन्दानुगभाव का अभाव रहता है। जिस छन्द में स्वैरगति नहीं है अथवा अन्य के द्वारा कोई बाधा नहीं है, जो छन्द स्वभाव में रहने पर भी अपनी ओजस्विता को खो चुका है, उसे स्व च्छन्द कहते हैं। परिणामतः उसमें बलिष्ठ छन्दानुग भाव का अभाव रहता है, यद्यपि यह यथार्थतः छन्दः है। इसकी आकृति का भ्रंश अथवा विकास नहीं होता, तथापि यह जड़ता को प्राप्त होकर प्रकृतिभ्रष्ट हो जाता

है। जैसे कोई कहे कि मैं स्व च्छन्द में हूँ। यहां स्व च्छन्द से यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि वह व्यक्ति किसी झंझट अथवा झमेला में नहीं है। किन्तु यथार्थ स्व अथवा आत्मा का छन्दः होने पर वह अब निर्जीव सर्प के समान कुछ भी नहीं हो सकता कूप मण्डूक की स्वच्छन्द वृत्ति रसायन नहीं होती।

जैसे आत्मा को बलहीन व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते, उसी प्रकार आत्मा का जो निजस्व छन्दः है, वह कभी भी बलहीन नहीं हो सकता। उस छन्द में जो व्यक्ति सम्यक् रूपेण प्रतिष्ठित है, वही है स्वराट् आत्मराट्। किसी बीजमन्त्र का आश्रय लेकर जपादि साधना करने पर ओजविहीन स्वैरच्छन्द में और परच्छन्द में जप करने से वह जप अक्षेमकर और भयस्कर भी हो सकता है। यह सोचकर कि जप स्व चछन्द में चल रहा है, निश्चिन्त हो जाना उचित नहीं है। यह देखते रहना होगा कि वहाँ छन्द ओजस्वी है अथवा ओजोविहीन है। उसका निजस्व वीर्य बचा हुआ है, अथवा नहीं! जिस बीज में वीर्य है, उस बीज के द्वारा महाशैलोत्पाटन भी सम्भव हो सकता है। लंकाधारी दशानन में वीर्य था, तभी वह साक्षात् कैलाश को भी उखाड़ सकने में समर्थ हो सका! जप ने अपने ओजोगुण को खो दिया है, यह प्रतीत होते ही ओंकार का आश्रय लेना चाहिये। इसीलिये ओंकार ने प्राणरूप से इस विश्वभुवन को सजीव कर रक्खा है। विश्व में जो कुछ भी स्पन्दित हो रहा है, वह प्राण स्पन्दन का ही परिणाम है। अतः किसी बीज के आदि तथा अन्त में प्रणव को रखकर जप करने से उस बीज की ओजस्विता व्यक्त तथा वद्धित होने लगती है। जैसे यदि भूः—भुवः—स्वः इत्यादि सप्त व्याहृति के जप को प्रणव पुटित करें, तब वह जप प्राणवान् होकर हमें व्याज विघ्न संकीर्ण त्रिपुरी अथवा त्रिपुर से मुक्त करके सप्त महाव्याहृति की अकुंठ-अक्लिष्ट और विराट अनुभूति में उपनीत कर देता है ॥४४-४५॥

१२. उर्जोराहित्ये बन्धत्वम् ॥

उर्जस्विता हि धर्मेण सर्व वृद्धिविकासभाक्।
साधिष्ठमपि तद्धीनं छन्दोऽपि बन्धनायते ॥४६॥

उर्जोरहित होने पर छन्दः बन्ध हो जाता है ॥

(Enchaining Ensalving Harmouy)

उर्ज्वस्वता धर्म के ही कारण पदार्थों की विशेष रूप से वृद्धि और विकास की स्थिति होती है। इस धर्म के अभाव में वह हो सकना सम्भव नहीं होता। जो रजः उर्ध्वग है, वही है, उर्जः। जब चल स्वभाव रजोगुण निम्नाभिमुखीन न होकर उर्ध्वाभिमुख होता है, तभी वह है उर्जः। अब वह प्रकाशशील सत्वगुण का साधक है। वह उसका बाधक नहीं है। इस उर्जः का अभाव हो जाने पर श्रेष्ठ छन्दः भी बन्ध का हेतु हो जाता है। हम कल्पवृक्ष के एक बीज का रोपण करे। यदि इस

बीज में उर्जः का अभाव है, तब वह यथावत ही रह जायेगा। उससे अंकुर आदि का उद्गम नहीं हो सकेगा। उर्जा: है वाराही शक्ति ! जिस शक्ति के द्वारा अवनत अथवा निमज्जित सत्ता उन्नीत एवं उत्तोलित होती है, जिसके द्वारा पदार्थ की Energy level उपचित एवं वर्धित होती है—वह है वाराही शक्ति ! किसी एक बीज से जब अंकुर, प्ररोह और पादपोत्पत्ति होती है, तब हम यह स्पष्टत: देखते हैं कि मानों कोई रहस्य शक्ति पादप के अवयव के उपादान समूह को और रस धारा को मृत्तिका स उर्ध्व में ले जा रही है। वह ले जा रही है पृथ्वी के मध्याकर्षण से विपरीत दिशा की ओर ! यह रहस्य शक्ति ही उर्जः कहलाती है। अभिज्ञ आचार्य के समक्ष विशेष साधना की साधिष्ठ विद्या को प्राप्त किया और उनके उपनिषत् को भी सुना, किन्तु श्रद्धावीर्य का अभाव रहने पर पूर्वोक्त उर्जा का अभाव प्रत्यक्षगोचर होने लगेगा। अत: वह विद्या हमारे अभ्युदय और नि:श्रेयस का उपाय न होकर प्रकारान्तर से बन्धन का ही कारण हो जाती है। श्रद्धावीर्यहीन साधन क्रमश: एक बन्धन शृंखला में परिणत हो जाता है। ॥४६॥

१३. वर्चोराहित्ये तस्यान्धम् ॥

आदवन्तेच मध्येच कृत्स्नो सम्पृक्तशृङ्खला।
कान्तदृष्ट्या यतो दृष्टा तच्छन्दो जायते कविः ॥४७॥
ऋतस्याध्वनि पान्थो यः पाथेयदीपवर्जितः।
अन्धं तमो विशत्येव छन्दःशृङ्खलचालितः ॥४८॥

वर्चोरहित होने पर छन्द अन्ध हो जाता है॥

(Harmony as brute Blind Law)

पुराणों में अन्धकासुर का उपाख्यान प्राप्त होता है। इस असुर का प्रादुर्भाव होने पर "जगदान्ध्यं प्रसज्यते' यह जगत् अन्धकाराच्छन्न हो जाता है। ऐसा होते ही विश्व में द्रष्टा— दृश्य अथवा दर्शन की सत्ता नहीं रह जाती। महादेव ने इस दैत्य का संहार किया है, अत: उनका एक नाम है अन्धकारी। महादेव के त्रिशूल में प्रणव की मात्रात्रय के रूप में त्रिविध दृक्शक्ति का समावेश रहता है। पुराणों में यह भी कहा गया है कि अन्धकासुर का एक पुत्र है। उसका नाम है 'आवि'। यह लक्ष्य करो कि यह आवि विसर्ग रहित, है, अर्थात् आविः नहीं है। अत: आवि में ज्योति:, ओज: तथा वर्च का अभाव है। अब यह विचार करके देखो कि विश्व में जो छन्द: ओतप्रोतरूपेण विद्यमान है और यह विश्व जिस छन्द का व्यक्त विग्रह है, वह छन्द: किस प्रकार का है ? क्या वह अन्ध है अथवा चक्षुष्मान् है ? चक्षुष्मान् होने पर वह स्वयं को भी देख सकता है और अपने में अभिव्यक्त विश्व को भी देख सकने में सक्षम रहता है। यदि वह अन्ध है तब वह स्वयं को देख सकने तथा विश्व को देख सकने में भी अन्ध है। किसी मत से (पाश्चात्य जड़

विज्ञान के मत से) यद्यपि यह विश्वच्छन्द की अभिव्यक्ति है और छन्द के द्वारा शासित है, तथापि वह छन्द अन्ध है। स्वयं को नहीं देखता और इस अपरूप विश्व को भी नहीं देखता। उसके इस विश्व में जहाँ किंचित भी चैतन्य का आलोक प्रकट हो रहा है, वहाँ इसी आलोक की सहायता से वह स्वयं भी प्रकाशित हो रहा है और उसकी अपनी अपरूप रचना भी प्रकाशित हो रही है।

जहाँ मस्तकमणिप्रभा प्रवर्त्तित दीप नहीं है अथवा जहाँ उस दीपक का आलोक नहीं पहुँच रहा है, वहाँ पर अन्धतमिस्त्रा के अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं है। एक जड़ परमाणु में जो अपूर्व छन्द विराजित है अथवा इस विराट विश्व में जिस छन्द का सुसमञ्जस शासन परिलक्षित हो रहा है, उसे कौन देखता है? जैसे किसी एक प्राणीदेह का अपूर्व गठन तथा गति कौशल! मनुष्य के अतिरिक्त इस गठन का और गतिकौशल का बोद्धा और वेत्ता कौन है? क्या पौधा स्वयं ही जानता है कि विचित्र छन्द द्वारा उसकी परिणति एवं विकास घटित हो रहे हैं? जड़ विज्ञान अभी भी इन प्रश्नों का सकारात्मक उत्तर दे सकने में समर्थ नहीं है! उसकी वैज्ञानिक दृष्टि में यह प्रतीत होता है कि मानों अभिव्यक्ति के किसी विशेष स्तर से उठ रहा यह विश्वच्छन्दः आलोक को देखकर आत्मसंवित् प्राप्त कर रहा है! अतः इस दृष्टिकोणानुसार जगत के आधाररूप में और प्रशासन रूप में जो महाछन्दः है, वह चेतनछन्दः नहीं है। वह तो उनके अनुसार आनन्दछन्द और प्राण छन्दः भी नहीं है। यह अवश्य है कि जड़ विज्ञान सत् का संन्धान देना चाहता है और दे रहा है, परन्तु उसे चित् एवं आनन्द का कोई सन्धान ही नहीं है! चित् एवं आनन्द का कोई सन्धान न दे सकने के कारण वह छन्दः होने पर भी एक विराट जड़ शृंखला ही है। इस प्रकार के छन्दः को अन्धाकासुर का पुत्र विसर्गरहित 'आवि' ही कहा जा सकता है। क्योंकि जब प्राण-चैतन्य तथा आनन्द मूल में है, तभी ज्योतिः-ओजः एवं वर्चः सम्भावित होते हैं, अन्यथा वे सम्भावित ही नहीं हो सकते। यद्यपि हम यह जानते हैं कि सूर्य एवं वन्हि में ज्योतिः है, तथापि वह उनकी अपनी ज्योतिः नहीं है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति''। चैतन्य के अभाव में ज्योतिः अथवा प्रकाश की चर्चा करना ही व्यर्थ है।

पक्षान्तर से जो छन्द क्रान्तदर्शी है, वह छन्द कवि है। इस विश्व के आदि-मध्य तथा अन्त में परस्परतः सुषम सम्पर्क में जो अपूर्व घटक घटित घटना शृंखला रहती है, उसे समग्ररूपेण जो देखता है, वही है क्रान्तदर्शी। समस्त भूत पदार्थ ही अव्यक्त आदियुक्त एवं अव्यक्त अन्तयुक्त (अव्यक्तनिधन) हैं। केवलमात्र मध्म ही व्यक्त होता है। जन्म और मृत्यु की यवनिका को हटाकर उसमें क्या हो रहा है, यह नहीं देख सकते। जितना देख सकते हैं—वह सब आंशिक, खण्डित, कुण्ठित तथा गुंठित रूप से। ऐसे दर्शन को क्रांतदर्शन नहीं कहा जाता। जो छन्दः कवि है,

उसके दर्शन में इस प्रकार के कार्पण्य और कुण्ठा को कोई स्थान ही नहीं मिल सकता। इस प्रकार से छन्द की दो प्रकार से उपलब्धि होती है आवि एवं कवि। यदि आवि का आश्रय लिया जाये तब ऋत् के साधन में अग्रसर होते समय हमने पथ का प्रदीप तो साथ ही नहीं लिया। इसलिये अन्धकासुर का पुत्र 'आवि' के वज्र-निगड़ में बन्ध कर 'अमरमी—अदरदी' यन्त्रताड़ित होकर घोर तमिस्त्रा में पतित हो रहा है ॥४७-४८॥

१४. **तेजोराहित्ये मान्द्यम् ॥**

> **समारम्भकदौर्बल्यात् समवायविलम्बनात् ।**
> **सहायसमूहाभावाद् वैलक्ष्यस्य व्यपाश्रयात् ॥४९॥**
> **प्रतिबन्धकबाहुल्यात् प्रतिरोधस्य स्वपाटवात् ।**
> **तेजोमान्द्यञ्च कल्प्येत समापकपराभवात् ॥५०॥**

तेजोरहित छन्द को मन्द कहते हैं ॥

(छन्दोमान्द्य–Insufficient, Ineffectual Harmony) छन्द का मान्द्य अथवा मन्द होने के कारण का निरूपण किया जा रहा है। क्रियामात्र में कतिपय हेतु की अपेक्षा रहती है। अन्य हेतु भी रहते हैं किन्तु इस मुख्य हेतु का अभाव होने पर क्रिया का आरंभ ही नहीं होता, यही है आरंभक हेतु। इसी समारंभक के द्वारा वे प्रतिबंधक दूर हो जाते हैं, जो क्रिया की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान रहते हैं। जैसे एक कांच के पात्र में दो गैस किसी निश्चित अनुपात में मिश्रित है, किन्तु उनमें रासायनिक मिश्रण नहीं हो रहा है। यहाँ विद्युत शक्ति के प्रभाव से मिश्रण तो अवश्यमेव हो जाता है, तथापि जिस परिमाण में विद्युत शक्ति आवश्यक है, उतनी मात्रा में विद्युत शक्ति प्रयुक्त हुए बिना मिश्रण क्रिया नहीं हो सकती। यहाँ पर वैद्युतिक शक्ति के प्रयोग को मिश्रण का आरंभक तो कहा जा सकता है, परन्तु वह दौर्बल्य युक्त स्थिति में अर्थात् कम मात्रा में होने पर मिश्रण नहीं बना सकती। जपादि साधन के समय साधक की श्रद्धा अथवा आग्रह शक्ति है समारंभक हेतु। इसमें दुर्बलता होने पर श्रद्धावीर्य का, भावभक्ति न रहने पर जपादि क्रिया का अभीष्ट फल नहीं मिल सकता। अतः यहाँ छन्द के मान्द्य का कारण है **समारंभक दुर्बलता !**

द्वितीय कारण है समवाय विलम्बन

समारंभक हेतु तो विद्यमान है, परन्तु अपरापर हेतुओं का समवाय-समायोग न होने से विलम्बन हो रहा है। जैसे पूर्वोक्त रासायनिक प्रक्रिया में वैद्युतिक शक्ति उपयुक्त मात्रा में है, किन्तु जिसके ऊपर इस शक्ति का प्रयोग किया जा रहा है, वह यथानुरूप स्थिति में समवेत नहीं है। यहाँ पर अभीष्ट मिश्रण नहीं बन सकता। यदि साधना में साधक के आग्रह का प्राबल्य होने पर भी विद्या और उपनिषत् उपयुक्त रूप में नहीं हैं, अथवा उनकी इस उपस्थिति में विलम्ब होता है, तब भी

अभीष्ट फल नहीं मिल सकेगा। अतः समवाय विलम्बन की स्थिति में छन्द का मान्द्य हो जाता है। यह है द्वितीय कारण।

प्रत्येक क्रिया मे साक्षात् कारणों के अतिरिक्त भी कतिपय सहकारी कारणों की विद्यमानता रहती है। जैसे बीज के विकासार्थ आलोक, वायु तथा अनुकूल परिपार्श्विक अवस्था (Envirnmental Conditions) आवश्यक है। जपादि साधना में साक्षात् कारण हैं साधक की अपनी विद्या, श्रद्धा तथा उपनिषद् (रहस्यविद्या) और भगवान् की अनुग्रह शक्ति। अनुग्रह शक्ति ही गुरुशक्ति के द्वारा शिष्य पर क्रिया करती है। इन साक्षात् कारणों के अतिरिक्त अनेक सहकारी कारणों की भी अपेक्षा रहती है। जैसे देश-काल आदि की अनुकूलता, संशय के निवारणार्थ और कर्त्तव्य निरूपणार्थ उपयुक्त संङ्ग और उपदेश प्राप्ति इत्यादि। यदि सहायक हेतु समूह यथेष्ट रूप से विद्यमान नहीं रहते अथवा उनके 'समूह' का अभाव हो जाता है, उस अवस्था में छन्द का मान्द्य घटित होने लगता है। 'समूह' शब्द केवल समष्टिवाचक नहीं है। सम्, सम्यक् तथा संगत रूपेण जो "उह" किंवा चेष्टा है, वही है समूह। ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है 'सङ्गच्छध्वम् संवदध्वम्'। यहाँ 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग करके श्रुति ने केवल मात्र मिश्रण अथवा मिलित होने की बात को नहीं कहा है, किन्तु किसी महान् लक्ष्य के उद्देश्य से हमारे वाक्य-मन तथा क्रिया को छन्दोबद्ध एवं संहत् रूप से शक्तिमान बनाने का उपदेश दिया है।

इस प्रकार से शक्तिमान होने पर वे 'समर्थ' हो जाते हैं और पारस्परिक व्यवस्था अथवा विन्यास के द्वारा जिस फल की प्राप्ति होती है, वही है समूह। विज्ञान के एक दृष्टान्त को देखो। प्राण की मूल वस्तु अथवा उसके उपादान की वैज्ञानिक परिभाषा है प्रोटोप्लाज्म। यद्यपि हम रासायनिक विश्लेषण द्वारा इस पदार्थ के मूल उपादानों और उनके मिश्रण के अनुपात को जान लेते हैं, तथापि जिस रहस्य मिश्रण अथवा समूह द्वारा वह प्राणशक्ति का आधार, वाहन अथवा यंत्र बन जाता है, हम उसे जान सकने में समर्थ नहीं हैं। इसे जान लेने पर कृत्रिम उपायों द्वारा प्रयोगशालाओं में भी सजीव प्रोटोप्लाज्म का निर्माण संभव हो सकता है। जपादि साधना में इस 'समूह' का अभाव आंशिक रुपेण अथवा पूर्णतः हो सकता है। मन्त्रों का जो अक्षर है और उनका जो मिलन है, वह इस समूह स्वरूप को प्राप्त नहीं करता, इसी कारण मन्त्र सजीव नहीं हो पाते। यथार्थ मन्त्रोच्चारण और मन्त्र चैतन्य का अभाव रह जाता है। समूह होते ही वह हो जाता है 'समर्थ'। संगीत में भी समूह होने पर सुरच्छन्दादि का सम्यक् लय होता है। अतः मन्त्रादि साधना भी समूह साधना ही है। श्रद्धावीर्य द्वारा अनुग्रह शक्ति की कृपा प्राप्त करके जपादि की यह समूह साधना करना चाहिये। यह केवल अपनी चेष्टा से नहीं हो सकती। यह संभावित होता है आग्रह शक्ति और अनुग्रह शक्ति के पूर्ण सहयोग द्वारा। यदि समूह स्तब्ध हो जाता

है और व्यूह व्याहृत हो जाता है, तब होता है व्यामोह। अतः छन्दः के मान्द्य का यह **तृतीय कारण है समूह का अभाव, स्तब्ध व्यूह अथवा व्यामोह।**

अतएव जपादि साधन में विशेषतः सतर्क होना चाहिये कि साधना किसी भी स्तब्ध व्यूह (Static Habit or Complex) से आबद्ध न हो, अथवा किसी व्यामोह (Morbid functioning or activisation) में पतित न हो। इस प्रकार की स्थिति होने पर समूह में लौटने वाले उपाय का आश्रय लेना होगा।

चतुर्थ कारण है वैलक्ष्य व्यपाश्रय।

जो लक्ष्य से अथवा अभीष्ट से न्यून है, जो ऋजु एवं ऋत् पथ पर आश्रित नहीं है, उससे विच्युत, वक्रग तथा वक्रताजनक लक्ष्य है, उसे वैलक्ष्य कहा जाता है।

जपादि साधना में जो मुख्य लक्ष्य है, उसका अनुसरण करने पर कोई लाभ अथवा प्राप्ति घटित हो सकती है। किन्तु यदि कोई न्यून अवान्तर प्राप्ति परमप्राप्ति को पथभ्रष्ट कर देना चाहती है, तब यही मानना पड़ेगा कि वैलक्ष्य आ रहा है।

किसी प्रबल प्रारब्ध के कारण भी वैलक्ष्य आ सकता है—जैसे तपस्या में भोगेच्छा। जैसे समूह के अभाव में स्तब्ध व्यूह तथा व्यामोह हो जाता है, उसी प्रकार लक्ष्य के व्यतिक्रम में भी द्विविध वैलक्ष्य है। प्रथम है मूढ़ वैलक्ष्य, अन्य है घोर वैलक्ष्य। मधु एवं कैटभ। वैलक्ष्य व्यपाश्रय वर्जनीय है।

पंचम कारण है प्रतिबन्धक बाहुल्य।

समारंभक हेतु प्राथमिक रूप से प्रतिबन्धकों को दूर करके क्रिया को प्रारंभ कर देता है, तथापि प्रतिबन्धक तो पग-पग पर उपस्थित होते रहते हैं। वास्तव में जो क्रिया की गतिरेखा (Curve) है, उस प्रतिबन्धक परम्परा को चूर्ण (Blasting the rosks of Resistance) करके ही चलना होगा। प्रतिबन्धक भी व्याज विघ्न-अवरोध-प्रतिरोध आदि कई प्रकार के होते हैं। यदि इनका बाहुल्य है, तब वास्तविक गतिवेग (मोमेन्टम) धीमा हो जाता है। वास्तविक वेग की अभिवृद्धि के अभाव में मान्द्य होने लगता है।

षष्ट कारण है प्रतिरोधका अपाटव

जिस प्रकार से प्रतिबन्धक परम्परा आ रही है, यदि उनका प्रतिरोध उसी प्रकार से नहीं होता, तब प्रतिबन्धकों का प्रारम्भ और शेष बाकी रह जाता है। प्रतिबंधकों का यह संस्कार तथा अवशेष सम्मिलित रूप से एक प्रबल प्रतिबन्धक की सृष्टि करने लगता है। प्रतिबन्धकों में परस्परतः मिलित होकर संघबद्ध रूप से एक प्रबल अन्तराय की सृष्टि करने की योग्यता रहती है। इस प्रवणता के कारण राक्षस, असुर तथा दैत्यों का व्यूह एवं दुर्ग बन जाता है। यह व्यूह अथवा दुर्ग न बने, इसके लिए पूर्वापर दृष्टि रखते हुये चलना होगा, क्योंकि यदि इनका निर्माण हो जाता है उस स्थिति में उसे भेद कर सकने में सुरपक्ष तथा देवपक्ष के लिए भी

कठिनाई उपस्थित हो जाती है। इसलिये प्रतिबन्धकों को हटाने के लिये हमें अपने प्रतिरोध को संघबद्ध और पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार 'समूह' करना ही होगा। प्रतिरोध की समूहता (Strategie (disposition) को पाटव कहते हैं। इसका अभाव हो जाने पर प्रतिबन्धकों का उपचय हो जाता है और साधक में तेजोमान्द्य उपस्थित होने लगता है।

सप्तम कारण है समापक का पराभव।

जैसे क्रियामात्र का आरंभक है, उसी प्रकार समापक भी है। इस समापक द्वारा क्रिया की समाप्ति और चरितार्थता होती है। यदि किसी कारण से यह समापक पराभूत हो जाये, उस स्थिति में क्रिया अन्त तक अग्रसर होकर भी अपनी रक्षा नहीं कर सकती। जैसे साधना में प्रवृत्त होकर श्रद्धावीर्यादि की सहायता से प्रायः अंतिम सोपान के पास तक जाकर स्थित हुआ, किन्तु यदि वहाँ दम्भ तथा अभिमान उपस्थित हो जाता है, उस स्थिति में साधक की आग्रह शक्ति एवं भगवान की अनुग्रह शक्ति का परिपूर्ण सम्मिलन नहीं हो सकता। अतः इस साधना के समापक का भी पराभव हो जाता है। साधना की चरम भूमिका में अहमिका का बीज किसी प्रकार से अंकुरित हो जाने पर इस महान अनर्थ के घटित होने की आशंका शेष रह जाती है। वहाँ पर 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' आत्मा में यह पूर्णाहुति और उसमें समर्पण नहीं हो सकता। साधना के परिपक्व होते-होते पुनः सब ध्वस्त हो गया। यही है मान्द्य का अंतिम कारण ॥४९-५०॥

१५. तेजीयस्त्वे पुनरिद्धत्वम् ॥

समारम्भकमारभ्य सप्त स्थानानि तेजसे।
समिध्रूपाणि कल्पध्वं यानि जाड्याय चासते ॥५१॥
सप्तव्याहृतिभिस्तानि समिध्यन्ते हि बर्हिषि।
सप्तार्चिषो भवेयुस्तेऽग्नयश्छन्दांसि सप्त वा ॥५२॥
समारम्भकभूतं भूः समवायकरं भुवः।
सुवः समूहमूलञ्च महति लक्ष्यता महः ॥५३॥
सर्वजनिनिधानत्वाज्जनो निष्प्रतिबन्धकः।
तेजसोऽभीद्धतायाश्च प्रतिरोधशूरं तपः ॥५४॥
सत्यं समापनस्थानं सत्ये नास्ति पराभवः।
भूरादिभिरतो धीर जुहुधि समिधः क्रमात् ॥५५॥
समारम्भं जगत्या च समवायमनुष्टुभा।
त्रिष्टुभा च समूहञ्च पङ्क्त्या संलक्ष्यमेवयत् ॥५६॥
बृहत्याऽव्याजविध्नत्व मुष्णिगभीद्धतेजसे।
गायत्र्या च समावृत्त्या कल्पयस्व समापनम् ॥५७॥

तेज की विवृद्धि हो जाने पर छन्द इद्ध हो जाता है ॥ (Kindlied Fire or Flame) ॥

समारम्भक दौर्बल्य से प्रारम्भ करके समापक पराभव पर्यन्त पूर्वोक्त सात हैं जाड्य तथा मान्द्य के स्थान। इन सप्त स्थानों से छन्द की शक्ति का अपचय घटित होता है। शक्ति अथवा तेज का उपचय साधित कैसे होगा? स्वयं में जो प्राणब्रह्मरूपेण रहते हैं उनकी बर्हि तथा अग्निरूपेण भावना करो। ब्रह्म एवं बर्हि एक ही बृह धातु से निष्पन्न हैं। बृह धातु के आदि में 'ब' बिन्दु है और अन्त का 'ह' महाप्राणरूप नाद है और मध्य का 'ऋ' है ऋतम्। नाद-बिन्दु मिथुन है एवं वह अभिन्नरूपेण 'सत्यम्' है। ब्रह्म में यह ऋतम् तथा सत्यम् एक अभिन्न आधाररूपेण विद्यमान रहता है। बर्हिः में ऋकार इन्ध (इकार युक्त) होता है और विसर्ग (सर्ग वृत्ति) का आश्रय लेता है। अतएव बर्हि है प्राणब्रह्म। श्रुति की रहस्यवाणी में अग्नि। क्रियाकारक फल रूप से यह है यज्ञ। यज्ञ शब्द का 'य' (वायुबीज) है। गति अथवा क्रिया ज (जनिबीज-जन्माद्यस्य यतः) है कारक, अर्थात् जिसके साथ क्रिया का अन्वय है और 'न' (दान) 'ज' किसके योग से 'ज्ञ' होकर 'मखद' होता है अर्थात् मख, यज्ञ जिसे दान करता है। अतः यहां फल ही विदित हुआ।

प्राण की अग्निभावना करके उसमें अग्निहोत्र, हवन करो। इस हवन में समिध रूप से कल्पना करो इन सप्तविध मान्द्य की (जाड्य अथवा आश्रय की)। अर्थात् मान्द्य अथवा जड़भाव ही सप्त समिध है। सप्त समिध की यथाक्रमेण ऊँ भूवः इत्यादि प्रणव पुटित सप्त व्याहृति द्वारा आहुति देने से अब मान्द्य किंवा जाड्य का स्थान ही नहीं रह जाता। उसका समिध सम्यक् रूप से इद्ध हो जाता है। यद्यपि सम् + इन्ध् धातु × क्विप = समिध् है, किन्तु इस अवस्था में समिद्ध किंवा उद्दीपित होने की संभावना मात्र ही रहती है और प्रतिबन्धक विद्यमान से रह जाते हैं। सप्त व्याहृति में जो सात प्रकार का तेजः विद्यमान है, वह प्रणव के सहयोग से ब्रह्मभावना की प्राप्ति करता है। अतः मान्द्य का समिध भी ब्रह्मवर्च्च के द्वारा समिद्ध करने में, सम्यक्रूपेण इद्ध करने में समर्थ हो जाता है। अतएव प्राणात्मा की शाश्वत सन्दीपन ज्योति में (unkindled Flame) में आहुति दो इस जड़ समिध की। फलस्वरूप वह उद्दीपित होगी (kindled Flame)। इस प्रकार से आन्तर अग्नि में हवन हो जाना ही सब कुछ को अग्नीन्धन एवँ अग्निवीर्य करने का उपाय है। सप्त समिध ही सप्तार्चि है "Seven flames or Seven fold Flame." सप्त अग्नि, सप्तार्चि तथा सप्तच्छन्द रूप से प्राणयोग के क्रियाकारक फलरूपत्व की भावना करो। कारिका के श्लोक में किस व्याहृति एवं किस छन्द के साथ किस मान्द्य अथवा जाड्यरूपी समिध् का उपयोग होता है, उसे प्रदर्शित किया गया है। 'भूः' वास्तव में मूलतः समारंभ

का सूचक है । 'हो जाओ' यह अनुज्ञा उसमें निहित है । 'भुव:' समवाय सूचक है। जो अव्यक्त (unmanifest) है एवं जो अभिव्यक्त है, इन दोनों के बीच का सेतु है 'भुव' । इसका आश्रय लेकर ही अभिव्यक्ति को अवकाश प्राप्ति घटित होती है । स्व: है पूर्व व्याख्यात समूह का मूल । मह: है महत्, महत्तर, महत्तम प्रकाश-विकास की ओर अभिमुखी प्रवणता का सूचक । जन: = जिससे समस्त जात है, उससे नि:श्रृत मूल आवेग (orginal urge) । यह निष्प्रतिबन्धकता सूचक है । तप: = अभीद्ध तेज की प्रकर्ष भूमि । अत: समस्त व्याजविघ्न प्रतिरोध का शूर । अन्त में सत्यम् = सर्वविध प्रकर्ष (Ascending Process) का समापन स्थान । अत: सत्य में पराभव नहीं है । हे वीर साधक ! भूरादि व्याहृति के योग से क्रमान्वय में हवन करो। हवन काल में यह रहस्य संकेत अवश्य स्मरणीय है । इस प्रकार से समारंभ में जगती, समवाय में अनुष्टुप्, समूह में त्रिष्टुप, संलक्ष्य में पंक्ति, अव्याजविघ्न हेतु में बृहती, अभीद्धतेज के निमित्त उष्णिक् और समापनार्थ समावृत्तिमूर्ति गायत्री छन्द: की भावना करो।

पूर्वोक्त प्राणहोम का प्रदर्शन क्रियांगरूपेण तो किया गया है, परन्तु इसे भावांग एवं ज्ञानांग रूप से भी दिखलाया जा सकता है । भाव तथा ज्ञान के भी सात मान्द्य हैं और उनकी भी पूर्वोक्त क्रमानुसार क्रमश: समिधरूपी कल्पना करके श्रद्धा-निष्ठा-रुचि एवं शुभेच्छा विचारणा तनुमानसादि द्वारा, सप्त व्याहृति द्वारा, शुद्धभाव और शुद्ध ज्ञानाग्नि में हवन करना होगा । जैसे "ॐ यदिदं मयि अश्रद्धधानत्वरूपं मान्द्यं तदहं हव्यं कल्पयामि, तच्च श्रद्धामयोऽयं पुरुष इति" (श्री श्री इष्टदेवता) "श्रद्धारूपोपलक्षित परम ज्योतिष जुहोमि" ।

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनम: ॥

ॐ भू स्वाहा ॥५१-५७॥

— ❁ —

जपसूत्रम्
चतुर्थ भाग
प्रथम अध्याय

४. निरपेक्षाक्षरत्वमाधारत्वम् ।।

अक्षर पदार्थ के निरपेक्ष होनेपर उसकी संज्ञा है 'आधार' ।।

अधिष्ठान सूत्र में अनपेक्ष । आधार सूत्र में निरपेक्ष । इन दोनों में जो भेद है, उसका विचार करना होगा । अनपेक्ष कहने पर नैष्कल्यशून्यता, अर्थात् सर्वप्रपंचोपशम निर्विशेष निरंजन वस्तु रूप अवधि विवक्षित होना । निरपेक्ष कहने पर यह ज्ञात होता है कि विवक्षा उतनी दूर पर्यन्त, अवधि पर्यन्त नहीं थी । साकल्य शून्यता अवधि ही विवक्षित है । जैसे क-ख-ग रूपी तीन कारक सहगभाव से क्रियमाण होकर किसी फल का उत्पादन कर रहे हैं । अब इन्हें शून्य कोटि में ले आने पर फल भी शून्य हो जाता है । यही शून्य है नैष्कल्यशून्यता ! केवल साकल्य शून्यता मात्र ही नहीं, प्रत्युत् साकल्यसमता भी लक्षण में आ जाती है ।

अतएव आधार का तात्पर्य है पदार्थ की एक छोटी संस्था जहाँ संस्था मे प्रसज्यमान अथवा संस्थित सहग कारकसमूह (assemblage of Co-factars) शून्यता में न आने पर भी सामान्य में अवस्थान करते हैं । फलतः उक्त संस्था प्रत्येक कारण व्यापार हेतु निरपेक्ष रहती है । स्थिर जलराशि तथा उसके वक्ष पर उदित तरंगों के दृष्टान्त के अनुरूप ही इस निरपेक्ष अक्षर भाव की परीक्षा करो । वाक् के दृष्टिकोण से नाद तथा वर्णादिरूपी कलावितान में भी इसे देखो ।

(ग्रन्थ में) पहले से ही बहिर्विश्व (फिजिकल युनीवर्स) को उसके छन्दः-वस्तु आकृति द्वारा एक सामान्य आधार में लाने की चेष्टा की जा रही । इस आधार के सम्बन्ध में धारणा को क्रमशः अग्रगा होना है । प्राण तथा मन के सम्बन्ध में इस प्रकार के सामान्य आधार (यूनिफाईड डाईनेमिक बैकग्राउण्ड आर फील्ड) को कल्पना तथा मन के क्षेत्र में ले आने पर भी (जैसे anima mundi इत्याकि) आधुनिक विज्ञान के समीक्षा-परीक्षासम्मत सिद्धान्तकी सीमा अभी भी प्राप्त नहीं हो सकी है । क्या निखिल व्यष्टि प्राणी की आधारभूता कोई विराट प्राण सामग्री स्थित है ? इसी प्रकार क्या निखिल व्यष्टि मानस की भूमि में क्या व्यष्टित्व (सेपरेट इन्डिविजुऐलिटी) ही तथ्य (Fact) है, सामान्य समग्रत्व (अथवा सामान्य सामग्री) केवल कल्पित एवं आरोपित ही है ? 'आधारभूता जगतस्त्वमेका' यह 'जगत्' कौन सा जगत है, कौन अवधि है ? 'आत्मैवेदं सर्वं', यहाँ 'इदं सर्वं' की व्याप्ति तो सर्व-

कुण्ठालेशशून्य प्रतीत होती है ! 'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थितां जगत्' यहाँ भी जगत् का विशेषण 'कृत्स्न' है । और जो व्याप्य हो रहा है, वह है स्वयं चिति। यह भी लक्ष्य करो कि वह चण्डी के पूर्वश्लोक में 'व्याप्तिदेव्यै' रूप है ।

आर्ष प्रज्ञान में समस्त व्यष्टिप्राण तथा मानस का आधारभूत प्राण और मानसामग्री प्रतिष्ठिता है । व्यष्टिप्राणादि जिस आधार में हैं, उसमें वे कुंठित-गुण्ठित लुण्ठित भाव से ही विद्यमान रहते हैं । यह जो 'परांचि मुखीन' हमारे व्यवहार का निर्वहण कराने वाली सृष्टि है उसमें व्यष्टि अथवा व्यक्ति की इस प्रकार की कुंठितादि भावरूप वृत्तिमत्ता (functioning subject to veiling and straining Conditions) अवश्यम्भाविनी है, फिर भी वह इस सम्पर्क स्थल में 'तथ्य' नहीं है। वह तथ्य का आभास मात्र ही है । अथवा वह है अतथ्य का आरोप ! वस्तुत: यह है भ्रान्ति (प्रैगमेटिक मिसएप्रिहेन्शन), अथवा भ्रान्ति के कारण यही है कुण्ठाकार्पण्य-दोष । प्रत्यक्मुखीन होकर इस भ्रान्ति के निरसनार्थ ही जपादि साधन का प्रयास किया जाता है ।

ओंकार प्रभृति कोई जप क्यों न करो, अ उ इत्यादि क्षर वृत्तिसमूह (कला) को पहले नादरूप अखण्ड सामान्य आधार में लाना ही होगा । व्यक्तनाद को लाना होगा पराव्यक्त विन्दु में और अन्त में इस त्रितय को लाना होगा परामाव्यक्त में । यह परिलक्षित होता है कि यह केवल वाक् की आधार सन्धानसीमा नहीं है । यह प्राण तथा चित्त की भी आधार सन्धानसीमा है । जैसे गायत्री जप में विलय ओंकार की गति का पुनः अनुसरण करना । (इसे द्वितीय-तृतीय खण्ड में विवेचित किया गया है ।)

निखिल चलिष्णु, क्षरिष्णु खंडित गति में अक्षर-अखंड तथा ध्रुव कहाँ है, इसका सन्धान आधार में प्राप्त करना होगा । आधार में आ जाने पर सकल क्षरवृत्ति अथवा गति कहने लगती हैं "हम तो सब आती-जाती हैं, टूटती-जुड़ती हैं, उठती-गिरती हैं, किन्तु हे मोद के आधार ! हम सब तो तुममें ही तो हैं; सभी का निवास तुममें ही है । जैसे तरंग का निवास है जल राशि में । तुमने स्वयं को हमारे सम्बन्ध में "अच्छा-खासा" निरपेक्ष ही पाया है । हमारे रहने अथवा न रहने की तुम्हे कोई 'चाह', अपेक्षा नी नहीं है ?"

तथापि अनपेक्ष तथा निरपेक्ष एक ही बात नहीं है । आधार में नानात्व एवं तरतमत्व का अन्त ही नहीं है । आधार जाति तथा आधार परम्परा तो रहती है । क-ख-ग का संघात फल अनन्त प्रकार का हो सकता है । यदि प्रतिज्ञा करता हूँ कि उक्त फल शून्य होगा अथवा सम होगा, उस स्थिति में अनेक प्रकार से उस शून्य अथवा सम की उपलब्धि होती है । यदि यह उपलब्ध किया जा सके, तब एक ऐसा 'अक्षर' प्राप्त होगा जो यह कहेगा "तुम सब तो अनेक प्रकार से परिलक्षित हो रहे

हो, तथापि यह देखो मैं तो एक ही शून्य अथवा सम हूँ। अतः मैं निरपेक्ष हूँ"। वृत्ति तथा व्यापार समूह की प्रकारता भेद के भी कारण यह अक्षर निरपेक्ष मात्र है। अतः यह निर्व्यूढ़ किंवा नियत नहीं है। क-ख-ग इत्यादि में अशेष प्रकार की संभ्रात संभावनाओं में भूमिष्ठ स्थलों का वर्णन किया। क्योंकि हमारे अभीष्ट इस शून्य अथवा सम का अनुभव नहीं करा सकते। जो अवशिष्ट बचा (Residual probabilities) वह शून्य अथवा सम का फल अवश्य देता है तथापि सम्भाव्यता क्षेत्र में (In the realm of probability) ही देता है। जब यह अभीष्ट (Require) सम्भावना परिलक्षित होगी, तभी यह शून्य अथवा सम प्राप्त होगा।

अतः इस प्रकार की सम्भाव्यता का अपेक्षाधीन जो अक्षराधार है, वह अपेक्षिकमान (In the relative sense and context) अक्षर एवं निरपेक्ष है। यद्यपि जल अपने वक्ष पर उदित तरंगादि के सम्बन्ध में निरपेक्ष आधार है, तथापि जल अपने तथा वाह्य कारकवृत्ति व्यापार की 'अपेक्षा' रखने के उपरान्त ही इस प्रकार से निरपेक्षहोता है। वे कारक वृत्तिव्यापार समूहभी अन्य 'समूहों' की अपेक्षा रखते हैं। ये समूह फिर अन्य समूहों की अपेक्षा रखते है। इस प्रकार से क्रियाकारक फल की शृङ्खला (Chain) सूक्ष्म से सूक्ष्मतर में, संकीर्ण से व्यापक तक में चलती रहती है।

यदि किसी घटना को घटित भाव से देखो अथवा घटक के दृष्टिकोण से देखो तब उसके रूपद्वय की उपलब्धि होती है। प्रथमतः अनेक संभावनाओं में से वह अन्यतम प्रतीत होती है और द्वितीयतः अनादि एवं असंख्यात घटक पुंज परम्परा के अन्तिम फलसमूह में वह अन्यतम प्रतीत होती है। हमारे व्यवहार तथा प्रत्यय में घटनामात्र ही संभावित सम्भूत का सम्मिश्रण है, Mixture of Chance and law है। सृष्टि के मूल में लीला है अथवा 'कीला' (बन्धपाश) है, यह प्रश्न उत्थित होता है। हम यहाँ दोनों को ही देखते तथा उपलब्ध करते हैं, थोड़ा बहुत ही 'बन्धे हिसाब' से उपलब्ध करते हैं, शेष वास्तविक को तो उपलब्ध कर सकने में अक्षम से रह जाते हैं!

अब यहाँ जिस प्रकार से उपलब्धि हो रही है, व्यावहारिक क्षेत्र में किसी भी आधार को शुद्ध एवं समग्र रूप में अक्षर तथा निरपेक्ष रूप में नहीं देखा जा सकता। अतएव जो शुद्ध तथा पूर्ण है, उसकी खोज में लगना ही होगा। आपेक्षिक तथा खंडित परम्परा कहाँ जाकर कहेगी "अब हम आपेक्षिक नहीं हैं?" श्रुति में उक्त 'आधारमानन्दमखंडबोधम्' की खोज कहाँ, कितनी दूर तक करनी होगी? श्रुति के इन तीन शब्दों का पुनः चिन्तन करो-आनन्द-अखंड-बोध।

यद्यपि व्यवहार तथा प्रत्यय में आपेक्षिक आधार ही रहता हूँ, तथापि ऐसा स्वरूप एवं स्वभाव में नहीं है। अतः ऐसे आपेक्षिक को निरपेक्ष किस 'शर्त्त'

पर कहा गया, क्यों कहा गया, यह मानो भूल न जाऊँ। कारण यह है कि एकान्तिक अपेक्षारहित की खोज ही तो वास्तविक आधार की खोज है जहाँ आनन्द, अभय तथा बोध की स्थिति अच्युत, अखण्ड और अकुण्ठ सी रहती है अनपेक्ष अनपाय स्थिति हेतु इस निरपेक्ष को सेतु-सन्धि तथा सहायक रूपेण प्राप्त करो। सर्वसापेक्ष और सर्व अनपेक्ष के मध्य ही यह निरपेक्ष भाव है।

'निर' शब्द के वर्णरसायन में जाओ। 'त' वर्ग का अन्तिम वर्ण 'न' क्या कहता है ? वह किसी तत्वृत्तिता में स्थित क्रिया से कहता है 'यही तो है तुम्हारा फल। यहीं रुक जाओ। और नहीं !' 'अन्' से ही है यह निर्व्यूढ़ आत्यन्तिक। किन्तु 'नि' क्या कहता है ? वह कहता है कि "क्रिया के फल को एक साथ 'खतम' नहीं होने दिया। अपने में बचाकर रखा सम्वेग सँस्कारादि रूप से (as potentials)। जैसे पृथ्वी पर पड़ा कोई बोझ ऊपर उठाकर रख दिया जाता है। अब 'निर' से क्या तात्पर्य भासित होता है ? केवल अपने में उठाकर रखने से ही निश्चिन्त नहीं हुआ (जैसे विश्राम, निद्रादि में), परन्तु प्रत्येक संस्कार के 'फ्यूज' में अग्नि लगाकर रक्खा। टाईम बम का फ्यूज ! समय पर इसका विस्फोट होगा।

अत: 'निर' कहता है "इस समय हममें मानों क्रियाफल समूह नहीं है, अथवा एकभाव है, किन्तु हम उनके संवेग को अपने में धारण किये रहते हैं और उन्हे नूतन रूप में स्वयं को सजाकर 'हाजिर' करने का समय भी देते हैं।" जो पदार्थ किसी भी क्षेत्र में अथवा अवस्थिति में स्वयं अक्षर पदार्थ का 'प्रतिभू' होकर अपने में पूर्वोक्त रीति से (निर+अपेक्ष, रूपी फारमूला से जो विदित होता है) उन-उन अवस्थान में प्रसज्यमान (Relevant to those special situations) क्षरवृत्ति समूह का आलम्बन हो जाता है, वह पदार्थ उन-उन स्थल में उन क्षरवृत्ति समूह का आधार कहा जाता है।

अत: आधार ही :—

(क) स्वयं में सब कुछ को घटित होने देता है,

(ख) और जो घटता है उसके वस्तु, शक्ति, छन्द तथा आकृति की स्थिति एवं गति को धारण करता है,

(ग) जो घट रहा है, उसके सम्वेग समूह और संकार समूह को धारण करता है,

(घ) पूर्वोक्त क्षरभाव में स्वयं 'अक्षर' रहता है,

(ङ) अक्षर रूप से उनका प्रशासन भी करता है।

इसलिये आधार पदार्थ Static और Passive मात्र नहीं है। जैसे दो वस्तुओं के शक्तिकेन्द्र में अन्तरीक्ष नहीं है। मुक्त-उदार-तेजसत्तारूप द्यौ: की पहले विवेचना हो चुकी है।

भूरादि के आधारत्व का परीक्षण तत्तद् लक्षणों द्वारा करो। व्याहृतिसप्तक ही आधार सप्तक है। आधार ही पूर्ण अस्तितारूपेण सत् है और वह भातितारूप से चित् है। वह अस्ति-भाति-प्रियम् रूप से आत्मा है। कठश्रुति का 'महानात्मा' ही 'यच्छति' स्थल रूपेण 'शान्तआत्मा' है। बृहदारण्यकोक्त 'असतोमा' इत्यादि अभ्यारोह मन्त्र में आधारशुद्धि के द्वारा 'तच्छुद्धं विमलमशोकममृतं सत्यं परं' रूप परम सत्य आधार का सन्धान वर्णित किया गया है। आहारादि शुद्ध पंचक भी वस्तुतः आधारशुद्धि ही है। शुद्धि लक्षण की पुनः चिन्तना करो। मूलस्पन्द का जो स्व-छन्दः भाव है, उसके वैरूप्यादि का परिहार करते हुये सारूप्यसाधन करना ही शुद्धिसाधन कहा जाता है। पहले यह देखा गया कि तुम्हारा अभीष्ट आधार केवल प्रेमछन्द युक्त है अथवा श्रेय छन्द युक्त है। जपादि साधना का प्रथम लक्ष्य है आधार को श्रेयछन्द में लाना। पहले प्रेयः रहता है और पश्चात्काल में श्रेय का अनुगत हो जाता है। सर्वान्त में उसमें मिल जाता है। जैसे प्रथमतः अलवण हविष्यान्न। पश्चात्काल में स्वाभाविक रसोल्लास।

मूलस्पन्द को पकड़ने के लिये मूल का अन्वेषण करना होगा। जो समस्त आधार-व्यवहार में हैं, उनके सूक्ष्मता तथा व्यापकता का क्रम पकड़कर वहाँ पहुँचा जा सकता है जो मूल है, जो शुद्ध तथा अखण्ड है। यह स्मरण रखना होगा कि सृष्टि में केवल जीव ही नहीं (जीव-जिसमें कोषपंचक रूप आधार परम्परा निरूपित है) प्रत्येक पदार्थ में अनेक आधार स्थूल-सूक्ष्म-कारण रूपेण एक सज्जा में विन्यस्त रहते हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ में ही मूल का सन्धान करना होगा (मूल = बेसिक बीइंग, फंक्शनिंग)। यहाँ तक कि हममें जिस "मैं" के आधार में (I-Consciousness) जिन समस्त व्यवहारसमूह का निर्वहण हो रहा है, वह 'मैं' भी एक नहीं है। ऐटम अथवा जीवकोष (न्यूक्लियस के समान) का एकत्व एक अद्भुत् अनेकत्व का संघात ही है। अतः अहं पदार्थ का मूल खोजने में अनेक वर्जन तथा पूरणयुक्त शोधन क्रिया की आवश्यकता रहती है। अहं तत्व क्या है, यह जानने के लिये हानोपादान विरहरूप निष्ठित सामग्री को जानना होगा। उसे जानना होगा जिसमें न तो कुछ जोड़ा जा सकता है और न कुछ घटाया ही जा सकता है!

सामान्यतः वस्तुदृष्टि से सब में निष्ठित आधार को वज्रसत्व (The Impregnable, Imperishable, substratum) कहते हैं। शाक्तीदृष्टि से उसे मूलाधार कहा जाता है। वह छान्दसी एवं मान्त्री दृष्टि से ओंकार अथवा गायत्री है। आकृति और यान्त्री दृष्टि से उसे कहा जाता है बिन्दुगर्भिता हृल्लेखा। परिनिष्ठित आधार ब्रह्म, महामाया, आत्मास्वयं!

निष्ठित और परिनिष्ठित में 'अति' तथा 'उप' उपसर्ग द्वारा 'अक्षर' में उसका शोधन सम्पूरण का क्रम दिखलाया जाता है। 'अति' कहता है कि "यह

व्यवहार का अक्षर अवश्य है किन्तु इसके भी अतीत हो जाओ।" 'उप' कहता है "समीप में अवश्य आया, किन्तु सम्यक् रूप से नहीं आया। अतः 'उत्तम' हो जाओ।" एक देता है Progression और Transcendence तथा निर्देश। दूसरा देता है Immanence and perfection. यह धारा जहाँ निरतिशय-निर्व्यूढ़ परिसमाप्त हैं, वही है गीतोक्त पुरुषोत्तम।

साधारण दृष्टान्त है एक वृत्त अथवा पैराबोला। वह कागज पर है अथवा अन्यत्र है। उसे सम्यक् मान मर्यादा में रखने के लिये एक निरूपणाधार Frame of Reference, a system of Co-ordinates आवश्यक है। यह है यान्त्रीदृष्टि। इसमें उप तथा अतिरूप गतिद्वय की सूचना मिलती है। पूर्ण शुद्ध यन्त्राधार (Basic world pattern) हेतु विन्दु रेखा, दिक्, संस्था, संख्या को मूल में ले जाकर समझना होगा। मान्त्री दृष्टि वृत्ताभास तथा वृत्त प्रभृति के लिये केवल जेनरल इक्वेशन आफ दि सेकेण्ड डिग्री के छन्दः का निर्देश करने से ही कार्य नहीं होगा। समस्त छन्दों की माता गायत्री के अंक का ही पालन तथा धारण कृत्य करना होगा। यह स्मरण रखना होगा कि केवल ओंकार जप तथा गायत्री जप की ही नहीं, प्रत्युत् समस्त गति स्थिति लय छन्द की माता वे ही हैं ! The ground Matrix of all matrices, the Supreme Rule, Law or equation! वह कैसी है इसका आभास पहले दिया जा चुका है। एक साथ ही शून्य पूर्ण किसी विन्दु से शक्ति का व्यक्तोदय (एक्चुअल मैनीफिस्टेशन,) सुषम कलावितान (प्रोग्रेसन एज ए हारमोनिक सिरीज) व्यक्त होता है और पुनः विन्दु में ही विलय, प्रत्यावर्त्तन ! यह Basic Rhythmicity जो स्वयं को स्वभाव में निरूपित करती है, वही है विश्व की, विश्वमूल ओंकार की स्व-छन्द गायत्री। हमारे तुम्हारे विश्व व्यवहार के प्रत्येक छन्दः अथवा इक्वेशन को इसी छन्दों की माता-गायत्री की अनुवृत्ति में प्राप्त करना होगा। शास्त्री तथा वस्तु दृष्टिद्वय को किसी अमूल मूल पर्यन्त ले जानें पर ही उनकी पूर्ण विश्रान्ति होती है, यह भी भावनीय तथ्य है।

अत्यक्षरमतीत्य स्यात् प्रायस्त्वेन ह्युपाक्षरम्।
प्रशासनमक्षरस्य सप्तधा पञ्चधा त्रिधा ॥१॥
नैष्कल्यशून्यतासिद्धावधिष्ठानत्वमिष्यते ।
साकल्यशून्यतासिद्धावाधारत्वञ्च गृह्यते ॥२॥

पश्चात् वाले श्लोक (२) का तात्पर्य पहले ही कहा जा चुका है। प्रथम श्लोक में उक्त 'अति' तथा 'उप' का भी प्रसंग किंचित् विवेचित हो चुका है। 'अतीत' तथा 'समीप' (प्रायः) इन दो उपाधियों को अक्षर प्रशासन ने विश्व में सर्वत्र नियोजित किया है। श्लोक में अक्षर प्रशासन को तीन मौलिक संख्या में भी वर्णित किया गया—७-५-३ ! इन तीन संख्याओं के गुणन से प्राप्त होता है १०५।

इसके साथ ३ को जोड़ देने पर = १०८ ! अतएव प्रशासन को विश्लेष दृष्टि कोण द्वारा १०८ रूपों में उपलब्ध किया जाता है। इन तीन संख्या को सभी क्षेत्रों में उपलब्ध करो, समझो। जैसे परमाक्षर, अव्यक्तमूलाक्षर तथा अध्यक्षर। इनके साथ अन्वक्षर तथा प्रत्यक्षर को जोड़ने पर = ५ ! अत्यक्षर और उपाक्षर को जोड़कर ५ + २ = ७ ! केवल इन्हे नाम संज्ञा देकर निश्चिन्त नहीं होना चाहिए। भाव निष्कर्ष द्वारा इन्हें पुनः जपादिसाधना एवं जीवन विनियोग में लाना ही होगा, तभी लाभ होगा। जैसे कोई गतिरेखा अथवा उर्मि इत्यादि। उसके आधार को देश-काल, कार्यकारण सम्बन्ध निरूपक छन्दः (Equation) तथा वस्तु शक्ति और गतिस्थिति के संस्था निरूपक विन्दु रूपी कतिपय अक्षर रूप में दिखलाना होता है। देशकाल को चतुः संख्या में लो (x, y, z, t)। प्रणवादि जप में परमाव्यक्त, पराव्यक्त (विन्दु), नाद, सेतु, सन्धि, मेरु एवं कला रूपी सप्त आधार में ग्रहण करना होगा।

अब है निधानसूत्र :—

५. अनन्योपेक्षाक्षरत्वं निधानत्वम् ॥

जिसमें अपने से इतर (स्वेतर-अन्य की) कोई भी अपेक्षा नहीं है, वह है निधान ॥

सजातीयविजातीयापेक्षयोः स्थापकं स्थितेः।
स्वेतर—निरपेक्षं यन् निधानं तत् परं मतम्।
अश्वत्थस्यास्य चैकाङ्घ्रि निधानं बीजमव्ययम् ॥ ३ ॥

पूर्वसूत्र में जिस साकल्यशून्यता (समता) की विवेचना की गई है, उसमें साकल्य को स्वगत, विजातीय तथा सजातीय रूप से देखा गया है। अर्थात् लक्षणानुयायी आधार ऐसा पदार्थ है, जो इन तीन प्रकार के सकल-वृत्तिविभेद में 'निरपेक्ष अक्षर' है। निरपेक्ष तथा अनपेक्ष का पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए यह कहा जा चुका है कि निरपेक्ष में अपेक्षारहित भाव पूर्णतः नियत एवं निर्व्यूढ़ नहीं भी हो सकता है; अतएव आधार परम्परा और उनका शोधन परिपूरण सम्भावनीय है।

वर्त्तमान सूत्र में इन तीन प्रकार के साकल्य (मैनीफोल्डनेस) में स्वगत को ग्रहण करके शेष दो (विजातीय-सजातीय) को छोड़ दिया गया है। आधार पदार्थ अपनी (In those Specified Situations) वृत्ति व्यापार स्थिति के साथ विशेष सम्पर्क नहीं रखता। अतः निरपेक्ष है unrelated है। जैसे गणित कोई एक 'सिस्टम आफ कोआर्डिनेटस्' विभिन्न प्रकार की रैखिकादि आकृति से विशेष सम्पर्क नहीं रखते। किन्तु निधान की स्थिति में मानो कोई पदार्थ यह कहता प्रतीत होता है "मैं सजातीय-विजातीय अन्य अथवा 'ऊपर' के साथ नियत, अविनाभाव सम्पर्क तो नहीं रखता किन्तु जो स्वयं में निष्ट तथा स्वगत है उसके साथ सम्पर्क में रहता हूँ। अतः साकल्य सम्बन्ध त्रयी मुझ में निहित है। निहित है, अतः मैं निधान हूँ।"

आधान अथवा आधार में स्वगत नहीं भी रह सकता है (स्वगत — इनट्रिन्सिक)। आधार में एक युक्त उदासीन (फ्री, ईम्पार्शियला) भाव उपलक्षित रहता है, इसलिए अदिति और द्यौ: का दृष्टान्त दिया गया है। मानों निधान में वस्तु-शक्ति-छन्द-आकृति धनीभूत (कन्सन्ट्रेटेड, कामपैक्त) है। नाभि, बीज, चक्र, कोष प्रभृति गूढ़ व्यूहरूपता आ रही है। "एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:"। आद्याशक्ति नाद को दिखलाते हुये कहती है "यह समस्त कलित फलित कला का आधार है।" वह विन्दु की ओर ईंगित करते हुए कहती है "यह नाद तथा कला का निधान है।" जो आधार में व्यापक एवं व्याप्ति की काष्ठा है उसका अन्वेषण। निधान में सूक्ष्मत्व तथा अणुत्व का अन्वेषण। जो आधार में पूर्ण तथा शुद्ध है, वह स्वयं को 'महतो महीयान' रूप से प्रदर्शित करना चाहता है। निधान स्वयं को 'अणोरणीयान' क्रम से शून्य रूप से अथच निरतिशय समर्थ रूपेण प्रदर्शित करने में समर्थ है।

अत: वह साकल्यत्रयी में से स्वगत को 'निष्ठ' (नितरां स्थित:) किये रहता है। इसलिये निधान एकांध्रि (one-dimensional relatedness) है। इसका साधारण दृष्टान्त है एक बीज। उसमें स्वगत ही नियत प्रधान है। (यद्यपि बीज को बाह्य की अपेक्षा रहती है, तथापि बाह्यापेक्षा नियत नहीं है।)

केवल यही नहीं—समस्त सजातीय (tolal environing conditions) की उसके सम्बन्ध में जो स्थिति (Actual bearing or conlext) है, उसका स्थापक (Reactive agent, responsive and selective Factor) वह स्वयं है। यद्यपि आधार के ही समान निधान भी अक्षर पदार्थ है, तथापि लक्षणानुसार यहाँ काष्ठा का सन्धान सावकाश रूप से प्राप्त करना होगा। यदि बीज के उदाहरण से निधान को समझने का प्रयत्न करो, तब निसर्गरूप इस महान् अश्वत्थ के 'निधानं बीजमव्ययं' की खोज में अवश्यमेव लगना होगा। उसे जान लेने पर 'सर्वमिदं विज्ञातं भवति'! यहाँ स्वजातीय विजातीय भी स्वतन्त्रशून्यता में आकर स्वगत हो जाते हैं। अब वाह्य (out) वाह्य नहीं है। वह पूर्णत: In (अन्त:) हो गया है! निधान इस काष्ठा में आने पर हो जाता है 'पर'। 'परम' शब्द के सम्बन्ध में और भी कुछ कहना शेष है!

६. व्यपेक्षाविरहाक्षरत्वमाश्रयत्वम् ॥

जिसमें व्यपेक्षा अथवा विजातीय की अपेक्षा नहीं है, ऐसे अक्षर पदार्थ को कहते हैं आश्रय ॥

विजातीयस्य याऽपेक्षा व्यपेक्षा साऽभिधीयते।
तद्विरहेण याऽपेक्षा सा द्विपात्वेन गृह्यते ॥ ४ ॥
स्व-सजातीयभेदेन समाश्रयव्यपाश्रयौ।
व्यतिरेकाद् व्यपाश्रित्य स्वान्वयेन समाश्रयात् ॥ ५ ॥

विजातीय की जो अपेक्षा है, उसे व्यपेक्षा कहते हैं। इस विजातीय के अभाव में (विरहेण) अपेक्षा विपक्षी हो जाती है। स्वगत एवं स्वजातीय (Intrinsic and allied) एक प्रकार से Homologus हैं। आश्रय अर्थात् एक ऐसा अक्षर पदार्थ जहाँ समस्त 'आश्रित' स्वजातीय सम्पर्क में रहते है। उनमें जो स्वगत् सम्पर्क में हैं, उनका समाश्रय और सजातीय का व्यपाश्रय !

यहाँ व्यपाश्रय का तात्पर्य है कि यहाँ व्यतिरेक सावकाश है। 'अधिकांशतः हमारे समान तथापि पूर्णतः हमारे 'समान नहीं' यह भाव (Similarity in difference) सजातीय में रहता है, तभी व्यतिरेक (निगेटिंग दि डिफरेन्स) का प्रयोजन है। 'यह ठीक हमारे समान नहीं है, परन्तु इसे समान कैसे करना, यह समस्या रह ही जाती है। किसी सजातीय को पूर्णतः 'आत्मसात्' करना सम्भव नहीं रहता। जहाँ अपर अथवा इतर का लेशमात्र भी विद्यमान है, वह आश्रय भी सम्यक् तथा पूर्ण नहीं है। गीतोक्त अपरा प्रभृति प्रसंगों को इस सन्दर्भ में विचार द्वारा समझो। सर्वथा स्वान्वय हुये बिना स्व में, तत्व में, आत्मा में अन्वय हुए बिना किसी का भी समाश्रय सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः विज्ञान तथा साधना के क्षेत्र में अन्याश्रय (अ-स्वतन्त्र, अ-स्वच्छन्द भाव), इतरेतराश्रय, अपाश्रय अनाश्रय, प्रभृति को छोड़ते हुए व्यतिरेक मुख के व्यपाश्रय और अन्वय मुख के समाश्रय में उपनीत होना ही होगा।

आश्रय को द्विपात् अर्थात् Two-dimensional relatedness की संस्था रूप से जानो।

अपाश्रय में आश्रय का अपेत भाव रहता है। अतः यह क्रमशः व्याश्रय में ले जाता है। व्याश्रय = विपरीत तथा विरुद्ध आश्रय। अन्वाश्रय की स्थिति उपाश्रय में अनुगत एवं उपेत भाव से रहने पर व्यपाश्रय तथा समाश्रय में स्थिति हो जाती है। व्यपाश्रय = जिससे अपाश्रय विगत हो रहा है। समाश्रय ही आश्रय का सेतु है। संश्रय द्वारा सेतु तत्वसंन्धि की प्राप्ति होती है।

अतः आश्रय तत्व ही सर्वश्रयण की परिसीमा है।

७. सपेक्षाक्षरत्वे भूमिः ॥

अक्षर पदार्थ में पुरा (त्रिपात्-चतुष्पात प्रभृति रूप से) सापेक्षता आने पर वही भूमिः है।

(A field as tri-or-multi-dimensional relatedness. Or, a frame of Reference analysable into any system of coordinates--संस्थासूत्र।)

सापेक्षत्वं विजानीत त्रिपात्वादिविलक्षितम्।
अन्वयो व्यतिरेकश्चोभौ चेति वा भिद्यते त्रिधा ॥ ६ ॥

त्रिपाद्याद्यक्षरं भूमिः संस्था हि सूच्यते यतः ।
ओंङ्कारादिषु बीजेष्वधिष्ठानादीनि पञ्च च ।
अपेक्षा मक्षरे न्यस्य यथाक्रमं विचारय ।। ७ ।।

जब अपेक्षा (अपेत होकर ईक्षा-Relatedness) तीन या अधिक संख्यामान का परिग्रह करती है (जैसे यन्त्राकृति में त्रिभुज के तीन कोण, वृत्त में केन्द्र-व्यास-प्रभृति) तब वह त्रिपात् प्रभृति लक्षण युक्त हो जाती है। इस स्थिति में उसकी सापेक्ष संज्ञा परिलक्षित होती है। जब तक समस्त व्यवहार तथा प्रत्यय में 'तीन' संख्यामान नहीं मिल जाते, तबतक मानों अपेक्षा को और कुछ की अपेक्षा रहती है। अत्र तीनों (भूर्भुवः स्वः इत्यादि) कहते हैं "इस बार प्रत्यय तथा व्यवहार स्व छन्द में चले"।

सापेक्ष होने पर अन्वय, व्यतिरेक तथा अन्वय + व्यतिरेक के घटक सूत्र का इस सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता है। जैसे कोई सापेक्ष वस्तु है 'क'। अन्य कोई सापेक्ष वस्तु है 'ख'। वह 'क' से कैसे सम्पर्क में हैं? दोनों का सम्पर्क कैसा है? इसका उत्तर है तीन प्रकार से — जैसे 'क' रहने पर 'ख' रहता है।' 'क' के अभाव में 'ख' भी नहीं है। तीसरा रूप है कि 'क' के रहने पर 'ख' रहता है। 'क' के अभाव से 'ख' का भी अभाव हो जाता है। 'क' तथा 'ख' सम्बन्धित वस्तु, शक्ति, छन्द तथा आकृति रूपी पदार्थों के द्वारा ही इस अन्वयादि की परीक्षा की जाती है। पादमात्रा कालकाष्ठा से भी परीक्षा ली जाती है।

जैसे वृत्त अथवा पैराबोला में यह देखा कि वहाँ एक स्थिर विन्दु है और इस स्थिर विन्दु के साथ नियत मान रखते हुये अन्य किसी विन्दु की गति है। वृत्त अथवा पैराबोला में इन दोनों धर्मों का अन्वय है। दोनों में (स्थिर विन्दु में तथा अन्य विन्दु गति में) मान अलग-अलग ही रहता है। क्लीं तथा ह्रीं बीजों में तथा प्रसंगतः सर्व मन्त्रों में अन्वयिनी समानता कैसे है? साधारण मान्त्री आकृति क्या है? इसका अनुसन्धान करना अत्यन्त आवश्यक है। जपसूत्र में यही सन्धान चल रहा है।

'भूमि' में संस्था व्यवहरित, (Concretely, Practically) सूत्रित तथा निरूपित हो रही है। सूत्रित कहने से मन्त्रित (assigned by formulation and equation) और निरूपित कहने पर यंत्रित (डिजाइन्ड विथ रेसपेक्ट टू ए डिफिनिट आर डिफाईन्ड फ्रेम आफ रिफरेन्स) जानना चाहिये। अक्षर वस्तु 'त्रिपात्' होकर सापेक्ष हो गई। अर्थात् 'भूमि' सम्भावित हो गई!

अब अधिष्ठान से प्रारंभ करते हुये भूमि पर्यन्त अक्षर वस्तु की पंच प्रकार 'अपेक्षा' का ओंकार आदि बीज में विचार पूर्वक अवलोकन करो। अनपेक्ष,

निरपेक्ष, अनन्योपेक्ष, व्यपेक्षाविरहविशिष्ट तथा सापेक्ष। ओंकारादि जप में व्यक्त (कलित—फलित) जो विन्दु नाद कलाकृति (exhibited actual pattern) है, वही है भूमि। यह अवश्यमेव साधारण भूमि है। विशेष विशेष कलित, फलित रूप इस साधारण भूमि में 'अपेक्षित है' और भूमि ही उनकी 'सापेक्ष' है। (अर्थात् उनके कारण भूमि सापेक्ष है)।

इस भूमि को वाक्-मन तथा प्राण के अनुबन्ध द्वारा ग्रहण करना होगा। तीनों को मिलाकर भी और पृथक् करके भी ! यहाँ वाक् के दृष्टिकोण से भूमि विवेचना हो रही है। वाक् की भी वैखरी आदि चतुः भूमियाँ हैं। अतः यह जानते रहना चाहिए कि जप किस भूमि में चल रहा है। जप जिस भूमि में चल रहा है, वहाँ से क्या वह उत्तर भूमि हेतु आरुरुक्षु है अथवा अधर (अधः) भूमि की ओर अवरुरुक्षु है ?

भूमि परम्परा रहने पर सेतुसन्धि भी रहती है। सेतु का आश्रयण किये बिना एक भूमि से अन्य भूमि की ओर आरोह किंवा अवरोह नहीं होता। इसमें पुनः सेतु की अवर सन्धि प्राप्त होने पर (जैसे मध्यमा में) 'आश्रय' होता है। सेतु की वरसन्धि पर्यन्त गति होने पर 'समाश्रय', और सन्धि के पार वाली भूमि में स्थिति हो जाने पर 'संश्रय' हो जाता है। भूमि अथवा संस्थागत् सर्वविध परिणाम में इन आश्रयादि को सम्यक् रूप से जान लो। दीक्षाप्रभृति के द्वारा गुरु-इष्ट-साधना का आश्रय प्राप्त होता है, किन्तु समाश्रय, संश्रय अनेक परिश्रम के उपरान्त ही प्राप्त हो सकेगा। यह दोनों कृपा द्वारा भी आयत्त हो जाते हैं। सामान्यतः मान्त्री दीक्षा से आश्रय, शाक्तीदीक्षा द्वारा समाश्रय और शांभवी दीक्षा के द्वारा संश्रय घटित होता है। सब प्रकार के जप में अर्धमात्रा प्रसन्न होकर जापक को उदय-विलय आदि सेतु का आश्रय प्रदत्त कर देती है। सेतु प्राप्त हो जाने पर, उसकी वर तथा अवर सन्धि उपलब्ध तथा पार हो जाने पर समाश्रय, संश्रय साधना का समापन करना चाहिये। अर्धमात्रा जागरिता होकर विन्दु को निधान तथा नाद को आधान रूपेण प्राप्त कराती है। स्वयं तो आश्रय तथा निधान-आधान, इन तीनों में आधार (परारूप से) रहता है। अन्त में वे परापारीणा होकर परम रूप अधिष्ठान को प्राप्त करा देती हैं। यहाँ पर आधान का वर्णन आधार से पृथक् रूप से किया गया है। 'पूर्णमदः' मन्त्र रूप दीप का विन्दुनाद के सम्बन्ध में पुनः स्मरण करो।

८. कौर्म्मत्वेन भूमेस्तलादयः ॥

भूमि को कूर्म भाव से ग्रहण करने पर उसका 'तल' इत्यादि रूप से व्यवहार होता है॥

कौर्मत्व = क्षर में अक्षरमुख्यत्व (Preponderance of Staticity and Stability-Factual Or Conventional)।

शिवाद्वैतमधिष्ठानं कलाद्याधाररूपिणी ।
इन्दुबिन्दोर्निधानत्वमाश्रयत्वं हृदः पदोः ।
भूमिश्च मन्त्र—यन्त्रादि—सापेक्षत्वेन भावनम् ॥ ८ ॥
ब्रह्माद्वैतमधिष्ठानं माया चाधाररूपता ।
निधानं कारणं सूक्ष्ममाश्रयोऽन्त्या च पीनता ॥ ९ ॥
अनुप्राविशदेतेषु सर्वेष्वक्षरमेव यत् ।
क्षरेष्वक्षरमुख्यत्वे कौर्मत्वं स्यात्ततस्तलः ॥ १० ॥

जो शुद्धाद्वैत (प्रपंचोपशम) शिवतत्व है, उसे अधिष्ठान कहते हैं। उस अधिष्ठान में आद्याकला शक्ति को निखिल सृष्टि प्रभृति का आधार जानो। यदि उस आद्याकला का ध्यान काली आदि मूर्ति रूप से करते हो, तब तुम्हारे ललाट का जो चन्द्रविन्दु है, वही विन्दु विश्व बीज (निखिल शब्द, अर्थ तथा प्रत्यय) का निधान है। इस मूर्ति में हृदय तथा पादपद्म रूप द्विविध आश्रय हैं। पाद है युंजान युक्त आश्रम, हृदय है युक्तर-युक्ततम आश्रय। हृदय है भाव में तथा रस में। पादपद्म है कर्म तथा समर्पण में। दोनों मिलाकर रसज्योति। ललाट में शशिकला! अन्त में आद्याशक्ति के यंत्र-मंत्र-तन्त्रादिरूप इस सापेक्ष भावन को भी भूमि ही समझो।

इस प्रकार से ब्रह्माद्वैत ही अधिष्ठान है। माया है आधाररूपता अर्थात् माया के आधारपट पर ही नामरूपात्मक विश्वचित्र उदित हो रहा है। विश्वचित्र का कारण रूप ही निधान है। (सूक्ष्म है आश्रय और स्थूल को अथवा व्यक्त को भूमि कहते हैं सूक्ष्म तथा स्थूल को नाना स्थल पर दृष्टान्तों द्वारा देखो)। पूर्वोक्त सर्वक्षेत्र में अक्षर अनुप्रविष्ट रहता है। अधिष्ठान में अक्षर परम, मायाधार में विपरम (अर्थात् जो परम को विवर्त्तित विचित्र रूप से परिलक्षित कराता है) निधान में पर, आश्रय में परापर और अन्त में, भूमि में, अपर। क्षरपरिणाम में अक्षर की अध्यक्षता मुख्य रूप से है 'कौर्म'। इसी कौर्म अधिकार में तल इत्यादि हैं (इत्यादि = क्षेत्र-स्तर आदि)। अंग्रेजी में भूमि को ground अथवा Position और तल को given Plane (straight or Curved); स्तर को Section of given तथा क्षेत्र को Speeified Field कह सकते हैं।

कौर्माधिकार में पृथ्वीतत्व की प्रधानता रहती है। इसका बीज है 'लं'। प्रणवानुगृहीत इस बीज के जप से "कौर्म प्रसन्नता" होती है। अतः भूमि में स्थिरता आती है। कहीं भी अस्थिर होने पर 'ॐ लं' उसका स्थैर्य मन्त्र है।

९. मीनत्वेनौकस्त्वम् ॥

भूमि की मीनताधर्मावच्छिन्नता है ओकः ॥

तलसूत्र में कौर्म अर्थात् स्थिरताधर्म की प्रधानता है। वहाँ Stablizing Factor ही dominant है। चलिष्णुता धर्म (Mobility) की प्रधानता होने पर

मीनताधिकरण है। तद्रूप स्थल को; भूमि को ओकः कहते हैं। ओकस शब्द के वर्ण रसायन में भी वही प्राप्त होता है। 'ओ' स्वर वृत्ति का ध्यान करो Wave इत्यादि में। साधारणतः ओकः = a fluid field. स्वाधिष्ठान में इसका आधार है अपतत्व। 'वं' (ओयाम्) है इसका बीज। इसके जप से (प्रणव के साथ जप द्वारा) समस्त जाड्य (Inertia Stagnation) कटकर 'सावलील स्वच्छन्द भाव आ जाता है। इसका विनियोग है स्त्यान, जड़ता के निरसनार्थं।

मीनत्वं क्षरमुख्यत्वे तेनौकश्चार्णवोऽपि वा।
सीमाबद्धः क्षरब्यूहोऽभौंकः ह्रस्वोऽपि वेतरः।
बीजौघधारणादोको मीन ओंकारलीनता ॥ ११ ॥

ओंकार को पीन तथा लीन रूप से उपलब्ध किया। पीनता में ओंकार अ-उ-म रूप स्फुट (Patent) आकार में आकारित होता है। जैसे जल में तरंग। जैसे तरंग जल में ही उठकर जल में ही मिल जाती है उसी प्रकार से अ—उ—म (स्फुटस्वर) स्फोट (नाद) में उदित तथा विलीन होते रहते हैं। नाद में वाहिता (क्षर) तथा स्थितता (अक्षर) रूपी भावद्वय रहते हैं। इनमें वाहिता है मीनत्वाधिकरण और स्थितता है कूर्माधिकरण।

जबतक वाहिता चलती है, तब तक हमारा लक्ष्य तथा प्रयोजन दो है यथा अखण्डवाहिता एवं प्रशान्तवाहिता। एक प्रकार से स्व छन्द में सावलील भाव। स्थितता को स्थिर करने के लिये सेतु का समाश्रय लेकर विन्दु-अधिगम होता है। क्योंकि जबतक परम अथवा शुद्ध अधिष्ठान नहीं मिल जाता, तब तक गति का सम्वेग (मोमेन्टम) रहता है। जहाँ शून्य तथा पूर्ण एक साथ है, वही अर्थात् विन्दु ही स्थिर होने का एकमात्र स्थान है। इसीलिये स्थिर और अचल प्रतिष्ठ होने के लिये जपध्यानादि में विन्दु साधन है।

मीनताधिकरण में अखण्डवाहिता के रूप में शुद्धवाहिता को भी जानना होगा। जड़ के देश में (संसार में) जैसे प्रवाही (fluid) पदार्थ की अखण्डता के लिये Hydrodynamics के Equation of Continuity आदि नियामक सूत्रों की स्थिति है, विद्यमानता है, उसी प्रकार प्राण तथा अध्यात्म क्षेत्र में भी अखण्ड वाहिता का नियामक सूत्र स्थिर निश्चित करना ही होगा।

जैसे कानों में नाद सुना। उसे किस प्रकार का होने पर अखण्ड कहा जा सकेगा? प्रशान्त, शुद्ध होने पर? झिल्ली प्रभृति के शब्द को राजस उपसर्ग कहते है। क्या ये नाद के साथ हैं, और उसके साथ रहकर क्या नाद को छिन्न करते हैं? और इनके साथ अन्य कौन सा शब्द स्पन्द है, जो नाद को यथायथ रूप से श्रुति-गोचर नहीं होने देता? राजस-तामस शब्द रूपी उपसर्गद्वय मिल कर क्या एक विच्छिन्न शब्दजाल (Confused medley of Sounds) की सृष्टि तो नहीं

करते ? इस जाल में शुद्ध अनाहत नाद कितना है ? कितना बाह्य अथवा आन्तर प्रक्षेप इसमें मिल चुका है ? (प्रक्षेप = फिजिकल, साईकोलाजिकल) ।

नादश्रुति के अखण्ड तथा शुद्ध होने पर (even and pure) उसमें स्वाभाविक सत्वस्फूर्त्ति की कृपा से एक अपूर्व प्रसन्न सौम्य भाव की अनुभूति होगी। इस अनिर्वचनीय गुण को 'प्रशान्त' कहते हैं । इसमें अग्निषोमीय समता रहती है। यहीं पर गायत्री का 'वरेण्यं' तथा 'वर' साक्षात् रूप से प्राप्त होता है । यहाँ पर 'सुरगण' असुरदौरात्म्यमुक्त हैं ।

स्वाधिष्ठान चक्र में 'अप' का एक यही मीनाधिकरण्य एक संस्थान है । 'स्वाधिष्ठान' रूपी नाम में ही अखण्डादि भाव की बहमानता का नियामक सूत्र रक्षित है । मानो प्राणब्रह्म को पुकार कर कहा जा रहा है "तुम नादादि गति रूप से 'स्व' में अधिष्ठित हो जाओ । जाल में, ग्रंथि में, पतित मत हो । समस्त विजातीय से सत् को पृथक् करो । सुरक्षित करो । समस्त स्वजातीय को अपना बनालो" ।

इस अत्यावश्यक व्याप्ति शुद्धि शान्तिकर्म के सम्यक समाधान का प्रकृत उपाय क्या है ? उपाय है उसके नियामक सूत्र तथा विनियोग को उपलब्ध कर लेना । पदार्थ विज्ञान में Equation of Continuity का उल्लेख मिलता है । यहाँ जिस समीकरण सूत्र का प्रयोग हुआ है, वह है संभूय समुत्थान (Emergent) समीकरण । देह में और सूक्षत: सर्वत्र ही क्षिति आदि पंचतत्व के पंचकेन्द्र (चक्र) विद्यमान रहते हैं । इनसे उर्ध्व में है आज्ञा (डाईरेक्टिव सेन्टर) । कौर्म प्रभृति सूत्रों में इन्हीं केन्द्रों का निगूढ़ तत्व विद्यमान है । आज्ञा में अधिष्ठित ओंकार शासन स्थित क्षिति आदि पंचतत्वकेन्द्रस्थ लं-वं इत्यादि बीजों को सक्रिय एवं संहत करो । प्रथम केन्द्र (मूलाधार) की जागृति के फलस्वरूप जो चिकीर्षा (urge to act Activising moment) है; वह तुम्हारे सव्य समीकरण का प्राथमिक सम्भूत मान (Frist emergent term) है । इस मान को पृथकत: नहीं रखना चाहिये। द्वितीय में (ऊँ वं) वह आहूत तथा चिकित्सित होता है । अर्थात् मूलाधार में चिकीर्षा और स्वधिष्ठान में चिकित्सा ! जो कूर्म में जड़ रूप से बद्ध है, मीन ने उसे अभीष्टानुबन्ध से मुक्त तथा सावलील कर लिया । यह प्रथम (मूलाधार) का निषेधरूप भी नहीं है । बीज का तथा उसके अंकुर का परीक्षण करो । बीज के 'नाश' से क्या विदित होता है, इसका भी विचार करो । जैसे धारणा के अनन्तर ध्यानवाहिता। तृतीय अर्थात् मणिपूर (तेजतत्व रं) में प्रथम तथा द्वितीय तत्व (पृथ्वी-जल तत्व) का अध्याहार आदि होता है ।

इसके पश्चात् के सूत्र में विवेचित होगा वाराहाधिकरण । तदनन्तर यं तथा हं रूपी वायुबीज तथा आकाशबीज (तत्वबीज) द्वारा व्यापनी एवं शमनी का साधन करो । वायु एवं यं बीज के द्वारा सर्व संकीर्ण अभौंकत्व (Small and restricted dimensionality) अपगत हो । वह अब महौकस्त्व हो जाये । यही है नारसिंह

धिकरण। अन्त में हं बीज द्वारा समस्त संवेग स्थिर-शान्त तथा अनाकुल हो जाय। क्षिति आदि पंचतत्वों का प्रणव के साथ बीजपंचक युक्त जो हवन (अग्निषोमीय हवन) प्रारंभ हुआ है, उसकी पूर्णाहुति 'हं ॐ' मन्त्र के द्वारा सम्पन्न हो। यही है उरुक्रमाधिकरण। यह जो संभूय-समुत्थान समीकरण है, इसके द्वारा यह पाँचभौतिक विश्व और विश्वान्तर्गत प्रत्येक व्यष्टिकोष में अग्निषोमीय समता रक्षा की प्रवणता रहती है। फिर भी विषमविवर्त्त में (थर्ड इमर्जेन्स में) व्यतिक्रम होता है और हो रहा है। जपादि साधन में सुषमता-ऋजुता-समता लाना ही होगा। इस प्रसंग में मूलाधार आदि षट्चक्र अथवा केन्द्र के नाम की और संस्था की परीक्षा करो।

अब कारिका का भावार्थ:—

मीनतत्र में क्षरभाव की प्रधानता है अथवा क्षर का क्षेत्र सम्मुखीन रहता है। ऐसी भूमि को ओक: तथा अर्णव: दोनों ही कहा जा सकता है। ओक: तरंगादि रूपेण व्यक्त (Kinetic Actual) है। अर्णव: में सामान्य उदभव भूमिरूप की प्रवणता (Potential plenum in readiness to be actual) है। सीमाबद्ध क्षरव्यूह की ह्रस्वता होने पर वह अभौक: कहा जाता है (जैसे Atomic थ्योरी में wave packet)। और अन्यथा होने पर महौक: (जैसे फील्ड आफ कास्मिक रेडियेशन)। वह निखिल बीज (उव) को धारण करने के ही कारण ओक: मीनाधिकरण है। अर्थात् निखिल विश्वस्पन्द (तद्रूप में as such) जिस भूमि में अपना बीज अथवा मूल स्थित रखता है, वह है ओक:। ओ = स्पन्द (उर्मि)। क = व्यंजनमुख = प्रथम अभिव्यक्ति। स् = सिंचित रूप (रेडियेटिंग)। पहले मीन तथा ओंकारलीनता आलोचित हो चुकी है। श्रीभगवान के मीनावतार को प्रत्येक भूमि में ही उपलब्ध करना होगा।

जैसे जप में विलयधारा। इसमें नाद 'अभौक: तथा महौक: की परिसीमा के और पर्यवसान के विन्दु में मिलकर शान्त हो जाता है। अर्भ अथवा ह्रस्व की परिसीमा infinitesimal है। महान की परिसीमा है Infinite। अर्भ = a closed (Short circuit) mobile field।

१०. वाराहत्वेन लोकत्वम् ॥

भूमि का वाराहाधिकरण लोक है॥

लकारेण हि लीनत्वमुकारेण समुद्धृति:।
स्थापकत्वं ककारेण लोकस्येति विचारणा ॥१२॥
ऊर्ध्वगेन दता येन लीनमग्नस्य तून्नति:।
ऊर्ध्वः तदूर्ध्वमित्येवं क्रमेण व्युत्थितस्थिति: ॥१३॥
ऊर्जितोजा: स वराह उर्वीणां गोष्पतिर्गिराम् ॥१४॥

लोक तथा ओक: के अवस्थान की विचारण करो। आर्षवाणी में १४ लोकों का वर्णन प्राप्त होता है। इन्हें स्थूलत: बहिर्देश संख्या-पर संस्था समझना उचित

नहीं है (जैसे हमारे वायुमण्डलस्थ Startosphere, Ionosphere आदि) । 7 × 2 = 14 इस संख्या की जैसी व्यापक गूढ़ व्यंजना है, वैसी ही व्यञ्जना है लोक शब्द की । ल + उ + क—इस प्रकार से वर्ण विश्लेषण करते हुए कारिका में कहा गया है कि 'ल' कार में लीनता, 'उ' में समुद्भूति तथा 'क' में स्थापकत्व की इन त्रिविध वृत्ति की संहति होने पर ही 'लोक' संज्ञा गठित होती है । एक लीनता की भूमि है (मीनाधिकरण) अर्थात् a potential field उस भूमि से किंचिद् समुद्भूत Kinetised हो रहा है वराहदंष्ट्रा । अब वह भूमि स्थापित estalilished हो गई (वसुन्धरा) कौर्माधिकरण । अतः वराहाधिकरण (लोक) में मीन तथा कूर्म रूपी वृत्ति के मन्थन द्वारा एक अभिनव उध्र्वाधः क्रमविन्यास परिकल्पित होता है । फलतः विश्व में सर्वत्र वस्तु, शक्ति, छन्द तथा आकृति एक अभिनव अभिव्यक्ति पारम्पर्य (प्रोग्रेसिव मैनिफीस्टेशन अथवा इवाल्यूशन) प्राप्त करते हैं । वेगमन्थन का प्रतीक है महा चक्र जिसे वाराही शक्ति धारण करती हैं ।

दंष्ट्रा तथा चक्र का संघात शंखावृत्ति (spiratine movement) रूप है । अन्तर्बहिः सर्वत्र 'अभ्युदय' अथवा अभ्यारोहार्थ (Levelliug up) इसकी आवश्यकता रहती है । यही मंत्रादि के भी सम्बन्ध में कहा जा सकता है, जैसे ओंकार में 'उ' । वसु का अर्थ सम्पत् (value) है । अतः आध्यात्म प्रभृति समस्त सृष्टि सम्पदा (ऋद्धि) को धारण करते हुये उन-उन सम्पदा की स्व-स्व मर्यादा का रक्षण करती हैं वाराही शक्ति । वसु का स्व-स्व मर्यादा से समुद्धृत् एवं स्थापित अवस्थान ही लोक है । 'उ' में है वसुमुख्यता । अतः जो समस्त, सब कुछ के अन्तर में (केन्द्र तथा नाभि में) वास करते है, वे हैं वसु । जैसे सूर्य सौरमण्डल में । वसुओं की आठ संख्या को विभिन्न प्रकार से समझो । जैसे आकुंचन-प्रसारण के द्वारा सबकी पाद-मात्रा-कला-काष्ठा द्विगुणित होती है ४ × २ = ८ । अ इ उ रूपी स्वरत्रय और क च त ट प पंच व्यञ्जन, ३ + ५ = ८ । बिन्दु + रेखा + धन + – ऋण + कोण + देश + काल + संख्या + अनुपात = ८ । विभिन्न क्षेत्र में वसुतत्व की भावना करो ।

जैसे 'आयु रक्षतु वाराही' । यहाँ जो देहधारण है, इसके वसु कौन हैं ? प्राण ही वसु है । जबतक प्राण अपनी ओजः शक्ति के द्वारा बल, वीर्य, इन्द्रियपाटव, स्मृति, मेधा रूपी समस्त सम्पद की ऋद्धि (Requisite, adequate, level में) में वर्त्तमान रहता हैं, तभी तक आयु है । अजपा की संख्या एवं छन्दः पर ही आयु निर्भरशील रहती है । जब छन्दः युक्त होता है, तब वह साधक योगी है । योगी की आयु को वाराही युक्तछन्द अथवा स्व छन्द में धारण करती है । वहाँ पतन(Running Down) प्रायः निरुद्ध रहता है । अतः इच्छामृत्यु होती है । यद्यपि 'अयुक्त' स्थिति में भी वाराही शक्ति आयुरूप वसु को धारण करती हैं, तथापि वे वहां पर प्रारब्ध को ही प्रधान एवं प्रबल हो जानें देती हैं, वे जीवनकाल में कर्म को अपना सहग, अनुचर बना कर ही रखती हैं । अयुक्त स्थिति में स्वतत्रता, स्वाधिकार लुप्त नहीं

होता, वह कुंठित और सीमाबद्ध हो जाता है। वाराही की कृपा के अभाव में यह कुण्ठा-कार्पण्य जाल उच्छिन्न नहीं हो सकता। युंजान छन्दः पर्यन्त गति नहीं हो सकती। जप ही एक प्रकृष्ट साधना है। युंजान होने की साधना में प्रथमतः विषम तथा व्यस्त को सुषम तथा समस्त (Integrated) करते हैं। द्वितीयतः सुषम तथा समस्त को सम एवं समग्र (सिमिलर तथा इन्टायर) करना चाहिये। अब युंजान के अनन्तर युक्त की साधना प्रारम्भ की जाती है। तृतीयतः सम तथा समग्र को एक और अखण्ड स्थिति में लाने का साधन। अब युक्ततर का साधन प्रारंभ होता है। चतुर्थतः तृतीय स्थिति की अनुभूति को तुरीयातीत (परमाव्यक्त) में ले जाने का साधन। अब युक्ततम स्थिति आ जाती है। एक मूमि से अन्य भूमि में वसु को उठाने वाली तथा वहाँ स्थापित करनें वाली शक्ति ही 'वाराही' है। युंजान से लेकर युक्त पर्यन्त जाने का जो सेतु अथवा सरणि है, वह है सुषुम्ना। इसके अधर एवं उत्तररूपी मुखद्वय भी हैं।

वाराही के चक्र तथा दंष्ट्रा की संघात वृत्ति को शंखावृत्ति कहा जाता है। यदि दंष्ट्रा को उपलब्ध नहीं किया तब चक्र में, चलती चक्की में, घूर्णित होते ही रहना होगा। दंष्ट्रा = vertical Movement, uplifting elan है। इसके लिये वाराही का प्रबोधन अथवा जागृति प्रयोज्य है। इसके अभाव में किसी भी प्रकार से सुषुम्नाद्वार अपावृत नहीं हो सकता। उर्ध्वग से पुनः Rigid, Inelastic नहीं हुआ जा सकता ! क्योंकि प्रयोजनानुसार ऊपर से नीचे उतरना भी पड़ता है, जैसे जपादि में अग्निमात्रा। जैसे यात्रा में चढ़ाई-उतराई। धन तथा ऋण रूपी मुखद्वय में दंष्ट्रा शक्ति को सक्रिय करना ही होगा। अतः जहां अभ्युदय, अभ्यारोह लक्ष्य है, वहीं है धनमुख्यता। विलय में वह है ऋणमुख्यता।

सभी साधनों में, अभ्यारोह एवं अवरोह में, सुषुम्नामार्ग का आश्रयण आवश्यक है। साधना में जो विश्राम, शयीथाः अथवा विलय है, वह प्राकृत (eutropy अथवा Running Down) नहीं है। यहाँ पर the Second Law of Thermodynamic सावकाश नहीं है। पहले जिस सम्भूय-समुत्थान समीकरण (ऊँ हं ऊँ शेष) का वर्णन किया गया है, यहाँ उसका ही अविकार क्षेत्र अनुभूत होता है। थर्मोडाईनेमिक केवल 'रं' बीज का एक विशेष प्रत्यवच्छेद जात ही है (specified cross-sectioning)। वर्त्तमान थर्मोन्यूक्लियर के विपुल प्रयोग में अभी पूर्वोक्त षट्चक्रीय समीकरणों का प्रयोग नहीं हो सका है। अतएव वस्तुकेन्द्रीण महाशक्ति अपने रौद्रातिरौद्र रूप में संज्ञात हो रही है। उस महाशक्ति का सामग्रिक रूप "अतिसौम्यातिरोद्रायै", "जगत्प्रतिष्ठायै" तथा "देव्यै कृत्यै" ही है। इन पदों में 'ऊँ लं ऊँ' से 'ऊँ हं ऊँ' पर्यन्त समग्र अग्निषोमीय और 'मित्रावरुणीय' समीकरण अन्तर्भुक्त रहते है।

'आयुर्वैघृतम्' प्रभृति में घृतम् = आयुः। अतः इसे वाराही अधिकरण में ही रक्खा गया है। 'ऋ' वर्ण विशेषतः वाराही के दंष्ट्रा का द्योतन करता है। घ वर्ण गतिशक्ति के महाप्राण की घनीभाव स्थिति का द्योतक है। त वर्ण = उर्ध्वतर तल का वाचक। अतः 'घृत' में वाराहीशक्ति परिस्फुट वृत्तिमती हैं। यज्ञ का प्राण = हविः अथवा घृतम्। गीतोक्त सभी यज्ञों में यही है। आदिपुरुष यज्ञ में भी। वहाँ किसने स्वयं की कल्पना हविरूपेण किया है, इसका चिन्तन करो। पुरुष ने यहां पर स्वयं को ही वर्चः, ओजः, तेजः रूपी प्राणशक्ति के रूप में हविः बनाया है। 'ब्रह्महविः। अतएव 'यज्ञवाराही' तनु आदि। तभी जपादि में हविः एवं घृतम् का समर्थ और सम्यक् रूपेण प्रयोग करना होगा। आन्तर याग की भूमि में उसके 'रूप' की भावना करनी होगी।

मणिपूर अथवा तृतीय केन्द्र में वाराही शक्ति को विशेषतः 'संस्थिता' करो। सौर केन्द्र के बिना कहीं भी समुत्थान तथा विधारण नहीं होता। जैसे सूर्य सौर जगतस्थ अपचीयमान प्राणादि समस्त शक्तिसमूह का उन्मेषण और विधारण करते हैं, उसी प्रकार देहादि संस्थाओं में भी होता है। जप में, नामसाधना में भी ऐसा ही है।

शुद्ध चक्रावृत्ति के द्वारा सृष्टि का सुषमपर्व प्रवर्त्तित होता है। हमारे व्यवहार में जो विषमपर्व है, उसमें यह सुषमपर्व अपने स्वभाव में नहीं है। वह तो वैरुप्य-वैगुण्य से घिर गया है। अतः प्राथमिक कर्म है चक्रादि सुषम पर्व में सब कुछ को लाना! चक्रादि = सुषम उर्मिवितान। अब चक्रादि के स्वभाव-स्वरूप की रक्षा करने के लिए वाराही के दंष्ट्रा का सहयोग-सौष्ठव होना चाहिये। अन्यथा सृष्टि में सर्वत्र ही सुषम गतिमात्रा के विषम हो जाने का एक 'झोंका' 'आशंका' विद्यमान है। इसी कारण जो अभी स्व छन्द में घूर्णित हो रहा है, वह क्रमशः स्व छन्द में नहीं रह जाता। वह क्लिष्ट, अवसन्न (Running Down) हो जाता है। सुषम गति से Leak, dissipation प्रभृति को उच्छिन्न करते हुए उसे स्व छन्द मान में (प्रापर एनर्जी तथा फंक्शन वैल्यू में) रखना चाहता है वाराही शक्तिका दंष्ट्रा! यह कहा जा चुका है कि सर्वगतिमान जबतक अपने ही स्व छन्द 'मान' में रहते हैं, तबतक आयुः है।

अन्त में वाराही सूत्र की द्वितीय कारिका का अवधारण करो। इसमें एक साथ चार लक्षण कहे गये हैं :—

(१) क्रमोन्नति अथवा अभ्युदय,
(२) व्युत्थित स्थिति (यत्किंचित) अथवा प्रतिष्ठा,
(३) तेजः अथवा प्राण का उर्जितत्त्व,
(४) उर्वी वाक् (गिरां) अर्थात् नाद प्राकट्य का आधिपत्य (गीष्पतिः)।
वाराही के बिना अव्यक्त अणुरूपा वाक् व्यक्त उरुरूपा नहीं होती!

११. नारसिंहत्वेन लोकस्त्वम् ॥
नारसिंहाधिकरण में भूमि को 'लोकस् कहा जाता है ॥

पहले मीनाधिकरण में 'ओक:' और वाराहाधिकरण में 'लोक' का विस्तृत वर्णन किया गया। लोक में स्थापित अथवा व्यवस्थित भाव ही मुख्यता है। चक्र और दंष्ट्रा (cyclic and elevating moments), किसी वस्तु संस्था से सम्बन्ध बनाकर कहते हैं "यहाँ निम्न से उठाकर तुमको स्थापित किया। अब यहीं स्थित रहो"। मिट्टी में बोया गया बीज जैसे ऊपर शाखा, फल तथा फूल बन जाता है। मानों उर्ध्वगा शक्ति यहाँ आकर विश्रान्त सी हो गयी! Moving Energy ही Rest-Energy में परिवर्तित हो जाती है। किन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार से उठना-गिरना, उठते-गिरते रुक सा जाना, सभी भूमियों में परिलक्षित अवश्य हो रहा है, किन्तु क्या इस व्यापार में सेतु-सन्धि-ग्रंथि-संकट भी परिलक्षित होते हैं ?

एक संस्था से होकर किसी उर्ध्व अथवा अध: संस्था में जाने के लिये उद्यत होने पर सेतु एवं सन्धि का माध्यम मिलना आवश्यक है। यह संस्थान्तर मृदु-मध्य तथा अधिमात्र भी हो सकता है। अत: २ × ३ × २ = १२। १२ प्रकार की संभावना संस्थान्तर में होती है। वर-अवर तथा बराबर रूप ग्रंथिक्रय अथवा संकटत्रय को ग्रहण करने पर और प्रत्येक को अन्य के साथ गुणित करने पर ३ × ३ = ९ संख्या प्राप्त होगी। पहले वाली १२ × ९ = १०८ संख्या।

नृसिंह-भगवान इन १०८ प्रकार के ग्रंथि संकट (विघ्नादि) का विदारण-निरसन करते हैं। "किसी अभीष्ट स्थान पर नहीं जाना है, यहीं इसी स्थान पर गांठ बांधना है" यह है ग्रंथि का रूप! संकट का रूप है "अभीष्ट पथ पर ऋतम् के अनुसरण में नहीं चलना है, 'झक्क झमेला करना है।" समस्त अभीष्ट गति अथवा परिणति में ये दोनों प्रबल बाधक हैं। विशेषत: पूर्वोक्त अधिमात्र स्थल में जहां शक्ति का कार्यकर मान (इफीसियेन्सी इन्डेक्स) एक चरम (Critical) कला में उपनीत हो रहा है, वहाँ अब एक पूर्णांगीण परिणति (टोटल ट्रांसफारमेशन) आसन्न है। जो गति अबतक हवा की तरह वेगवान थी, वह अब आलोक के समान गतिमान हो जाती है। समस्त Emergent Evolution के 'पूर्वान्ह' में एक चरममान की अपेक्षा रहती है। इसमें व्याघात होने पर इमरजेन्ट इवाल्यूशन नहीं होता। केवल बहिर्विश्व में ही नहीं प्रत्युत् अध्यात्म क्षेत्र में भी विशेषत: इस अधिमात्र मान की चरम भूमि में अव्याघात रहना आवश्यक है। अन्यथा बूंद-बूंद करके समुद्र भी शेष करने के लिए अगस्त्य प्रतीक्षा में हैं! अतः विन्दु का आश्रय लेकर चलो। विन्दु ही सिन्धु प्राप्त कराता है। विन्दु से ही सिन्धु !

जप में १०८ संख्या इस १०८ ग्रन्थि संकट का निवारक है। किन्तु मेरु का लंघन होना अनुचित है। क्योंकि मेरु वह स्थान है जहाँ मृदु-मध्य समस्त मान अधिमात्र होने के लिए संचित तथा संहत हो जाते हैं। लंघन करने से इन सब का

हरण हो जाता है। उनकी मान मर्यादा और गौरव कम होने लगता है। विचार आता है 'मेरु भी तो एक गोटी है, वहाँ ऐसा क्या है !' वहीं सबकुछ है। वहीं रुक जाओ। लंघन नहीं करो। वहाँ दोनों ओर से संभलो। दक्षिण तथा वामा दोनों रूप से ! दक्षिणा-वामा (पाजिटिव निगेटिव) परस्परतः एक दूसरे का आकर्षण करते हैं। जैसे मेरु की दो पीठ। दक्षिणावर्त्त में उसे 'धन' से चार्ज किया। वामावर्त्त में ऋण से। मेरु के दोनों Pole में इस धन ऋण चार्ज ने एक दूसरे को रोक कर रक्खा। कोई भी पृथकतः नहीं रहा। पुनः यही, फिर यही। फलस्वरूप इलेक्ट्रिक कन्डेन्सर के दोनों पृष्ठ देश के समान यह 'चार्ज' बढ़ने लगा। मृदु तथा मध्य अधिमात्र होने का प्रयत्न करने लगा। वे एक चरममान में आकर 'स्पार्किंग'' इत्यादि प्रकार से शक्ति का उद्‌बोधन तथा संचरण करने लगे। एक प्रकार से अभीष्ट फलवत्ता लक्षित होने लगी। वाराही ने अधिमात्र पर्यन्त उत्त्थित किया। किन्तु Leakage, Fuse, Failure, damping, Screening इत्यादि विघ्न तो रहते ही हैं। यदि चरम मान घटित न हो तब क्या करें ? तब नारसिंही !

पुराणों की कथा में विन्ध्यगिरि इसी अधिमात्र का प्रतीक है, किन्तु यदि 'मान' ही 'अभिमान' रूप हो, तब तो महाविघ्न है। जिन अगस्त्य ने विन्दुशोषण-कारी के लिए सिन्धु का एक चुल्लू में शोषण किया, उन्होने ही इस अधिमात्र मान अभिमान को 'नतमान' किया, अभिमान का समर्पण किया। 'तल्लभस्त्र प्रणिपातेन'। अगस्त्य ? हमारे-तुम्हारे अन्तः में चरमभूमिकादिकरण में कार्यकारी गुरु शक्ति ! अर्थात् अधिमात्रोपक्रम एवं अधिमात्र संक्रम में अगस्त्य यात्रा ? किसकी ? शक्ति विवृद्धि से अभिमान रूप जो उष्णता है, उसकी। जैसे 'ऐं' बीज जप में तुम 'ई' को 'खड़ा' ही रखते हो, उसे तुम नत तथा विन्दुविलीन यहीं होने देते। यही है अतिमान तथा अभिमान।

नृसिंहतापनी (पूर्व एवं उत्तर) में नृसिंह के ३३ अक्षरों का मंत्र अंकित है। इसे मन्त्रराज भी कहा गया। एक-एक अक्षर आदि से अन्त तक प्रणवपुट अपूर्व द्वात्रिंशत श्लोक युक्त 'नति' को भी सुनाते हैं। इसके एक-एक मन्त्राक्षरों का प्रणवपुटित जपन तथा स्तवन परम फलदायक है। इसमें अक्षर चेतना और तत्व चेतना परि-सीमा पर्यन्त भावित होती है। यहाँ पूर्वोक्त १०८ प्रकार के अरिष्ट मोचनार्थ नृसिंह मन्त्रराज के अक्षर संख्यारूप 'वज्राधिकनखस्पर्श' हैं। अर्थात् ३२ मन्त्राक्षर × ३ = ९६। इसके साथ १२ अक्षर का योग करो 'ॐ नमो भगवते नृसिंहाय ॐ अर्थात् ९६ + १२ = १०८।

मन्त्रयोग में उदयग्रंथि, विलयग्रंथि, नादग्रंथि, कलाग्रंथि, अग्निषोमग्रंथि, विन्दुग्रंथि (पर तथा परम) रूपी अष्टग्रंथि अथवा पाश का विदारण नृसिंह भगवान करें। वे लययोग में सुषुम्नाग्रंथि, चक्रग्रंथि, नाभिग्रन्थि, हृदयग्रन्थि, द्विदलग्रन्थि, समना तथा सकल ग्रन्थिपाटन द्वारा 'इदं' 'अहं' के पार निष्कल परमतत्व में विलीन

करें। हे नृसिंह भगवान ! 'तत्वमस्यादि' में असंम्भावना, विपरीतभावना; संभावना तथा तद्रूप भावना रूपी चतुः ग्रन्थियों का मोचन करिये। राजयोग में पंचक्लेश व्यूह बीज के साथ सबीज सविकल्प के मूल को भी अपनीत करिये। भाव को 'स्वभाव' के मर्म केन्द्र से दूर रखने में तत्पर जो असुरगण हैं, उन्हे भी आप उस महाबली हिरण्यकश्यप के समान विदीर्ण करिये ! इस प्रकार से समस्त अनुबन्ध का ध्यान करना चाहिए।

नृसिंह मन्त्रराज में जिन उग्रं-वीरं-महाविष्णुं-ज्वलन्तं सर्वतोमुखं-नृसिंहँ-भीषणं-भद्रं तथा मृत्युमृत्युं, इन ९ विशेषण पद का अंकन है, इन में से श्रुति के आदेशानुसार (प्रत्येक को) ध्यान करो।

इस प्रकार भावना करो—

शक्ति ही तेजः, ओजः रूप से जाग्रत होकर कहती है "देखो, मैं कितनी उग्र-प्रचण्ड हूँ ! यह देखो मैंने अत्युग्र, महोग्र रूव धारण किया है।" साथ ही साथ उसमें आकर कोई और यह कहता है "उग्र हुई है। किन्तु यह देखो, अक्षर प्रशासन मूर्ति द्वारा मैं तुम्हारा शासव करता हूँ। मैं वीर हूँ।"

"किन्तु तुम मुझपर शासन कैसे करोगे ? मैं तो सर्वव्यापी हूँ, महा-विष्णु हूँ।"

"सचमुच तुम महाविष्णु हो, किन्तु महाभास्वर, उत्तमौजाः रूपेण तुम्हारा अविर्भाव तो होगा ! उस प्रकार से तुय ज्वलन्त हो।"

"ज्वलन्त होने पर भी मैं सर्वतोमुख हूँ। अर्थात् मेरे इस प्रकार के आविर्भाव को केवल पाद-मात्रा-कला-काष्ठा की दृष्टि से देखना उचित नहीं है।"

"तथास्तु। किन्तु इस प्रकार का प्रकाश कहां है ?"

"उसी पूर्व अनुध्यात नृसिंह में मेरा प्रकाश है।"

"किन्तु वह तो भीषणं-भीषणानां है !"

"तथापि, तत्वतः वह भद्र है, सर्वतोभद्र तथा परम भद्र भी है !"

"फिर वह भीषण मृदुरूपी काल ?"

"मैं मृत्यु का भी मृत्यु हूँ अमृत-अभय, अच्युत-अक्षर !"

अब यह परीक्षण विशेषतः करो कि 'क्ष्रौं' बीज मे नृसिंह के उक्त नवधा नामों की भावना निहित है। अब 'क्ष्रौं' का विश्लेषण किया जाता है। क=व्यञ्जनमुख, उग्र होने के लिए उद्यत। ष=अर्थात् अच्छा पहले तुम्हें मैं मूर्धा में धारण करूँ (वीर)। र=अक्षर का स्ववर्ण अर्थात् महाविष्णु। 'र'=अग्निवीर्य (ज्वलन्तं)। क्षौ=सर्वतामुख। क्ष्रौं=नानादिरूपेण नृसिंह। उदय में भीषण। विलय में भद्र। और सेतुरूपा अर्धमात्रा विन्दु तथा विन्दु के अतीत=यह त्रितय अर्थात् मृत्यु-मृत्यु। इसमें सेतुरूपा अर्धमात्रा की 'अपरभवीय'; मेरुविन्दुरूपा अर्धमात्रा की 'पंरभवीय' और विन्दु के अतीत-विन्दु पारीण अर्धमात्रा की स्वभवीय किंवा बीजभवीय मृत्यु भी

निरस्त हो जाती हैं। अपरभवीय = अपकृष्ट-इतरहेतु सम्पादित मृत्यु-साधारण मृत्यु। परभवीय = उत्कृष्ट स्वेच्छा से तथा संकल्प से मृत्यु। स्वभवीय = यहाँ आत्मा नहीं परन्तु अनादि जन्ममृत्यु परम्परा का मूल अथवा बीज ही इसका तात्पर्य है। 'क्ष्रौं' बीज की परमाक्षर की रौद्रातिरौद्र अथच सौम्यातिसौम्य शक्ति के रूप में भावना करो। क्ष + र + औ + नादविन्दु = क्ष्रौं !

गतीनां गतिरूपाणां गमकाः सर्वभूमिषु।
नियन्ते मूर्च्छनासन्धिं सन्धिभिदोग्रवीर्यतः ॥१५॥
वज्राधिकनखस्पर्शः सर्वतोमुखकेशरी।
सन्धिं सन्धाय यो ज्वलन् विदारयति सङ्कटम् ॥१६॥
वेविष्टे चोत्तमौजास्तल् लोकस्त्वं लोक ऋच्छति।
ओङ्कारपुटितं मन्त्रमाब्रह्मस्तम्बमश्नुते ॥१७॥

गतिरूप अर्थात् गति की आकृति (Pattern)। मूर्च्छना सन्धि = उर्ध्व अधः आरोह-अवरोह, पहले कहे गये सन्धिस्थल। सन्धिभिदा = सन्धि स्थल में समस्त ग्रन्थि भेदन (पुराणोक्त हिरण्यकश्यप के संहार का संक्षिप्तण भी)। उग्रवीर्यतः = उग्रवीर्य द्वारा। श्लोक १६ में संकट (विशेषतः सेतुविघ्न) का विदारण संधि सन्ध्या में होना अंकित है। अर्थात् सेतु की वर एवं अवर सन्धि की अभिज्ञता न होना ही संकट है। जैसे जप में कहीं है उदय सन्धि और कहीं है विलयसन्धि। वैखरीभूमि से लगाकर मध्यमा, पश्यन्ति में भी ऐसा ही है। यहाँ 'ज्वलन' विशेषण भी है। इसके द्वारा विवक्षित होता है तम का दीपन-बोधन और रजः का दहन-शमन रूपी निःशेष ! वेविष्टे = महाविष्णु। नृसिंह को उत्तमौजा कहा गया है। वराह हैं उर्जितौजाः। जो ओजः शक्ति द्वारा उर्जित हैं, वे समस्त ग्रंथि संकट से मुक्त होकर जब परिसीमा में उपनीत हो जाते हैं, तब हुए उत् + तम। फलस्वरूप क्या होगा ? अब 'लोक' हो जाता है 'लोकस' ! (जैसे लोकस् Locus—गणित में. सर्वशंकामुक्त एक निर्दिष्ट मान में स्व छन्द में है)। लोक के Static होने के कारण नाना प्रकार की उलझनों की आशंका हो जाती है। लोकस् में वह Dynamic तथा स्व छन्द में है। ओंकार पुटित मन्त्रराज आब्रह्मस्तम्ब (भोग तथा योग में) पर्यन्त (विज्ञान तथा प्रयोग में) आयत्त करा देते हैं। किन्तु यहाँ तक पहुँचने के लिए तो क्रम की अपेक्षा है। जब तक क्रम है तब तक भ्रम का भय पूर्णतः दूर कैसे होगा ? उर्जित तथा उत्तम गति में भी स्थिति आवश्यक है।

क्रममात्रा का परिणाम (मात्रादि) रहता है। अनुक्रम, संक्रम, उत्क्रमादि भी हैं। अतः प्रश्न उत्थित होता है कि क्रम का अतिक्रमण कैसे हो ? क्रम चाहे जितना भी विक्रमी-पराक्रमी क्यों न हो, वह भूमा, ब्रह्म, महामाया कदापि नहीं है। वह माया के अधिकार में है। फिर भी वह मानो स्वयं में भूमा को वामन बनाकर छिपाये रहता है ! 'मध्ये वामनमासीनम्'। तभी क्रम उर्जित होकर, उत्तम आदि होकर

'उरुक्रम' में रूपान्तरित हो जाता है। वह स्वयं का भी अतिक्रमण करने लगता है। बलि के उपाख्यान में यही अघटन घटित हुआ है। 'त्रिपादभूमि' क्या है, इसे विभिन्न प्रकार से विभिन्न अनुबन्धों द्वारा विचारो। यह क्रमानुरोधित्व तथा अतिक्रम आगे सूत्रों में विवेचित होगा।

१२ क्रमानुरोधि त्रैविक्रमम् ॥

(त्रिपात्, त्रिमात्रादिरूपेण) क्रम का अनुरोध विद्यमान रहने पर 'त्रैविक्रम' अधिकार जानो ॥

आरोहे चावरोहेऽपि सृतिसृणिं बिधूनयन् ।
क्रामति त्रिषु लोकेषु कलयिता क्रमस्य च ॥१८॥
छन्दःसु पदमात्राश्च स्वरेषु देशकालयोः
विष्णुक्रान्तादयस्तिस्रो नादविन्दुकलादयः ।
त्रैविक्रमपदाक्रान्ताः सर्वाः सन्ति निरङ्कुशाः ॥१९॥

आरोह तथा अवरोह (एसेंडिङ्ग तथा डिसेंडिङ्गफंक्शन) में सृति (Seriality) चलती है किन्तु उसमें सृणि भी परिलक्षित होने लगती है। फलस्वरूप गति-सृति निरंकुश (फ्री-Unobstructed) नहीं होती। गति है साधारण नाम। सृति अर्थात् जो किसी केन्द्र से प्रसृत हो रही है। (यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी) जैसे रेडियम से अल्फा किरणें। 'सम्' युक्त ! यही है संसृति अथवा संसार। अर्थात् सम्यक्। सृणि ही सृति की शक्ति, छन्द तथा आकृति को अक्षर प्रशासन से दूर ले जाना चाहती है। उसे उलट कर 'टेढ़ा-मेढ़ा' कर देती है। जैसे कोई ग्रह अपने गति कक्ष से ! जैसे नाद श्रुति 'झिल्ली' प्रभृति ध्वनि द्वारा ! किन्तु त्रिविक्रम अक्षर प्रशासन रूप से स्वयं ही क्रम का भी कलन करते हैं। इसलिए त्रिलोक में सर्वप्रकार क्रममाण होने के कारण उनके अधिकार में इस सृति-सृणि का विधूनन (इलिमिनेशन) होता है। त्रिविक्रम हैं क्रान्तकृत्, क्रान्तभृत् तथा क्रान्तदृक्। अतः उनके आश्रय द्वारा सर्वप्रकार सृति का क्रम निरंकुश हो जाता है।

इसीलिए कारिका में कहा गया है कि छन्द की पादामात्रा, कलाकाष्ठा, स्वर, देश तथा काल में भी समस्त क्रमानुरोधिनी सृति (वेव पैटर्न, है, इसके द्वारा समस्त परिमिति और संख्यान का प्रसंग भी हुआ विष्णुक्रान्ता-अश्वक्रान्ता-रथक्रान्तादि त्रिविध क्रान्ता, नाद-विन्दु-कला प्रभृति समस्त त्रिधा अथवा त्रैविध्य का क्रम त्रिविक्रम द्वारा पदाक्रान्त होने पर निरंकुश हो जाता है। छन्द एवं स्वर द्वारा विशेषतः मन्त्र, देश-काल द्वारा विशेषतः यन्त्र, विष्णुक्रान्तादि द्वारा विशेषतः तन्त्र और नादादि के द्वारा इन तीनों का त्रैविक्रम अक्षर प्रशासन होता है। अर्थात् नाद-विन्दु-कला के मूल में जाकर सभी प्रकार के साधनों के क्रम को निरंकुश बनाने के लिये त्रैविक्रम अक्षर प्रशासन में स्थित हो जाओ। बलियज्ञ का प्रसंग इस सन्दर्भ में अनुधावनीय है। वामन को तो पहचानते हो। समस्त परिमित (पादमात्राकलाकाष्ठा) क्रम को ही

त्रिविक्रम बना देते हैं उरुक्रम । प्रत्येक Closed function उनके द्वारा expanding Function और Transcending हो जाता है ।

१३. उरुक्रमोऽतिक्रमात् ॥

(क्रमानुरोध) अतिक्रम अर्थात् उरुक्रम ॥

क्रमानुरोधवृत्तित्वमक्षरस्य प्रशासनात् ।
सर्वतश्चानुवध्नाति त्वक्रमिकः क्रमातिगः ॥२०॥
क्रमविक्रमविश्रान्त उरुगाय उरुक्रमः ॥२१॥

निखिल जात (उत्पन्न) पदार्थ के क्रमानुरोध में जो वृत्तिमान होकर स्थित हैं उसकी यह स्थिति कूर्म-मीन आदिरूप अक्षर प्रशासनवशात् ही होती है । यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि समस्त अनुबन्ध में अक्षरतत्व त्रिविध रूप से रहता है यथा अक्रमिक, क्रमातिग, क्रमविक्रमविश्रान्त । अर्थात् समस्त क्रमिक अथवा कमानुरुद्ध स्थलों में अक्षरवस्तु यह कहती है :—

(क) सब कुछ क्रमशः तथा क्रमिक रूपेण गतिशील है, किन्तु यह सब तुम्हारी गणना ही है । Conventional Stock Taking में ही है । वस्तुतः एक ऐसा अक्षर पदार्थ है जो उनको बाहर से घेरे रहता है । यह अक्षर पदार्थ तुम्हारे परिमाप तथा क्रम का अतिक्रमण किये रहता है । समस्त 'डिटरमिनेट' की पृष्ठभूमि में यही 'इन-डिटरमिनेट' स्थित है । अतः यह गणना में 'तनिक' सा ही आता है । 'समूचा' नहीं आता । अतः कहते हैं 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' । क्रम का विक्रम जब 'चूड़ान्त' होता है, तब एक विराम किंवा विश्रान्त की भूमि प्राप्त हो जाती है । जपादि में यह साधना तो करनी ही होगी । जिस भूमि में क्रम का विक्रम पराहत है, उसे कहते हैं पराक्रम । इसके अतिरिक्त भी प्रकारद्वय से अतिक्रम की सत्ता है ।

(ख) अक्रमिक—पादमात्रादि में जो क्रमिकता है, वह क्रमशः स्वयं को खो देती है । जैसे गगन में एक मेघ का टुकड़ा गतिशील था, परन्तु वह सहसा गगन में ही निमज्जित होकर खो गया ! क्रमशः क्रमिक रूपेण चलते-चलते हठात् एक उछाल (जैसे इलेक्ट्रान का अपने orbit में Jump) । परिणाम होता है एक अभावनीय संघटन (उद्भवादि) । जैसे प्रकृति के क्षेत्र में Emergence. जपादि अध्यात्म साधना में भी इस अक्रमिक अघटन के घटन की प्रतीक्षा करना ही होगा । 'सहसा' एक अपूर्व उद्भव ! नाश अथवा अपगम में ही तद्रूप, इसी प्रकार । इस सूत्र के आलोक में कृति तथा कृपा के सम्बन्ध की भी विचारणा करो । कृच्छगति सरिता भी एक दिन सरिन्नाथ (समुद्र) में अपना 'तट' भी खो देती है, अपनी गति को भी उन्हें सौंप कर अनाकुल शान्त हो जाती है ।

इस अक्रमिक को भी नाना क्षेत्रों में देखो । यद्यपि उत्थान का पथ है तथापि पतन का भी पथ है । हठात् ऊँचे 'पहाड़' से गिरने पर 'चूर्ण विचूर्ण' 'चुरमा' हो जाता है । अतः उत्थान-पतन, दोनों में अवधान आवश्यक है । जैसे एक विपुल

Life वैसे ही खतरनाक 'fall'। दोनों में ही उपक्रम करो, परन्तु शनैः शनैः। तुलनार्थ अक्रमिक स्थिति भी विवेच्य है। जैसे अ उ म इत्यादि की तुलना में नाद अक्रमिक अवस्था है। और उदय-विलय नाद की तुलना में अनाहत अथवा स्फोट अक्रमिक है। 'नियत' अक्रमिक ! जैसे जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति की तुलना में तुरीय।

(क) (ख) दोनों ही क्रम में साथ-साथ (Immanently) रहते हैं। अर्थात् क्रम की प्रसज्यमानता के कारण। किन्तु (ग) स्थिति क्रमातिग है। वह क्रम को पार करके Transcendent है। वह क्रम के साथ अथवा उसके आगे-पीछे नहीं है। यद्यपि जप में, विन्दु विलय में, पराव्यक्त नियत अक्रमिक में गति अवश्य होती है, तथापि पुनः क्रम में वापस लौटना पड़ता है। पारापारीण में है क्रमातिग।

अन्त में 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' का अंकन है। प्रथम में 'गै' धातु के कारण छन्दः विशेषतः विवक्षित है। छन्दः (सुषम छन्दः) उत्तरोत्तर (परिणयी प्रभृति क्रमेण) उत्कर्ष भूमि का लाभ करते-करते अपनी परिसीमा रेखा का अतिक्रमण कर लेता है। यह परिसीमा जिस परमपद के प्रान्त में है, वह परमपद 'उरुगाय' है। और क्रम के सम्बन्ध में है इस प्रकार का 'उरुक्रम'। जपादि में यह उरुक्रम ही क्रम को सर्वथा परिपूरणादि करे और उसका क्रमातिग में पर्यवसान हो। और 'उरुगाय' हो रस में और ज्योति में। 'निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे'।

अतः अक्षर प्रशासन का 'प्रकार' कहा जा रहा है :—

१४. अक्षरस्य हंसत्वसिंहत्वे सुपर्णत्वञ्च।

अक्षर के मूल प्रकार भेद तीन हैं हंस, सिंह तथा सुपर्ण॥

त्रैविध्यमक्षरस्यापि हंसत्वादि विकल्पितम्।
आदित्य-प्राणहंसत्वं वाग् वन्ह्योश्चापि सिंहता।
सोमः सुपर्ण एवापि यतो मनश्च चन्द्रमाः॥२२॥

पूर्वोक्त क्रमविचार से अनुक्रम, उरुक्रम, परिक्रम प्रभृति क्रमभेदों को नाना प्रसंग में आलोचित किया गया है। अब उन्हें पुनः विवेचित नहीं किया जा रहा है। पराक्रमादि से क्रम का बद्ध छन्दपार्श्व खुल जाता है। मुक्त हो जाता है।

अनुक्रम में जिस छन्दः अथवा भाव के आकार में अन्वय हो रहा है और उरुक्रम के घटित होने में जिसका अन्वय होगा, वह सब परिक्रम में सर्वतोभावन वृत्तिमान हो रहा है। (जैसे कोई ग्रह सूर्य के चारो ओर परिक्रमणशील है, नाद भी विन्दु समाश्रित है, अनुभाव-विभाव प्रभृति स्थायी रस के आश्रित हैं आदि)। Conforming, approximating, Co-ordinating and Co existing.

अब अक्षर के हंसत्व, सिंहत्व एवं पूर्णत्व की मूल प्रकारता की भावना करो। इन तीनों द्वारा ही समस्त संघातत्रय (Triple Constitution तथा Function) होते हैं। आदित्य तथा प्राण में हंस, वाक एवं वन्हि में सिंह, सोम तथा मनः में सुपर्ण रूप विकल्पना का चिन्तन करो। हंसादि जो राहस्यिक परिभाषा आर्ष विज्ञान

में हैं, उसे वर्णरसायनादि द्वारा अनेक स्थल पर कहा जा चुका है। अब हंस से 'अ' का, सिंह से 'इ' का और सुपर्ण से 'उ' रूपी मूलरूपी स्वरत्रय का दोहन करो। इन तीनों में आदित्य-प्राण-वाग्-वन्हि तथा मनश्चन्द्रमा: (सोम) केन्द्रीण एवं विकर्ण अर्थात् विन्दुग तथा नादग आकृति में विराजमान रहते हैं। अब सूत्र का चिन्तन करो :—

१५. अभिभूमित्यभिव्यञ्जकभेदात् ॥

अम्, इम्, उम् इन तीन प्रकार के अभिव्यञ्जक भेद कारण अथवा प्रयोजन से ॥

अमिति हंसमूलं स्यादिमिति सिंहलिङ्गकम् ।
उमिति च सुपर्णस्य त्र्यक्षरत्वस्य चान्वयः ॥२३॥
पारस्परिक संयोग वियोगवशतः पुनः ।
ह्रौं सो ह्रीमादिरूपत्वं प्रत्येक भजते त्रयी ॥२४॥

अक्षर मूलत: (Basically) इन स्वरों के चेक्रीयमाण (रीपिटेडली फंक्शनिंग) संहतरूप का अनुगमन करते हैं। इन तीनों के पारस्परिक संयोग वियोग के कारण यह त्रयी अपने प्रत्येक स्वर में 'ह्रीं, ह्रौंसः' आदि बीज की अक्षररूपता से 'भजना' (अनुगमन) करती है।

जैसे हंस का स्वरमूल (बेसिक वावेल साउण्ड) है 'अम्'। सिंह का है 'इम्'। दोनों के संयोग द्वारा उपलब्ध होता है अ+इ+म=एम्। अब 'अ' को द्विगुणित करो। (उसकी मात्रा को दूना करो)। अब अ+एम्=ऐम्। अन्तिम स्पर्शवर्ण को नादविन्दुरूपेण समुत्थित कर सकने पर 'ऐं' वाग्भव बीज उपलब्ध हो जाता है। 'ए' तथा 'ऐ' का वर्णरसायन विवेचित किया जा चुका है। 'ए' किसी तल को प्राप्त करना चाहता है। ऊपर अथवा नीचे के तल को (+अथवा—)। 'ऐ' उससे कहता है "तुम ऊपर ही चलो, और ऊपर"। 'म' का स्पर्शमात्र उ पर देने पर अर्थात् (ं) वह नादविन्दु में, मूर्द्धा में अथवा परिसीमा में आ गया।

इस प्रकार अ+उम्=ओम् की योजना करके परीक्षा करो। हंस तथा सुपर्ण! आदित्य-प्राण-सोम! 'अ' आदित्य प्राणरूपेण अक्षर के मूल आधार में गिरा। उ ने (वेधमुख्या वृत्ति से) उसे उत्थित किया। जैसे जल में उर्मि। उर्मि को केवल जल का ऊपर उठना ही मानना उचित नहीं है। एक ऐसा भी अवस्थान है जिसमें जल अपने तल से ऊपर उठता है और एक वेधमान (थर्ड डाइमेंशन) भी आयत्त कर रहा है। यह है अ+उ='ओ' रूपी स्वराकृति (वेवपैटर्न)। 'ओम्' कहने पर उर्मि का दोनों ओर तल के साथ चूड़ान्त स्पर्श भी परिलक्षित होता है। (दोनों ओर=उठना-गिरना); अर्थात् वेवलेन्थ तथा फ्रीक्वेन्सी। किन्तु 'ओं' ने उसे सामग्रिक विश्व प्राण के (किंवा आदित्य ब्रह्म के) मूल उदय विलय स्थितिरूप प्राणब्रह्मवाचक प्रणव रूप में अभिव्यक्त किया है। जब तक मात्रा को 'ठीक' रखते

हुये ओम्-ओम् कहते हो, तब तक तुम कतिपय सुषम आकृति प्राण तरंग का वितान (Propagate) कर रहे हो । जगद्बीजांकुरा कृति अर्धमात्रा क्या है, निखिल प्रपंच बीज ब्रह्मविन्दु क्या है ? जब तक अपने Physical और Vital को Matephysical तथा Spiritual स्थिति में नहीं ले आते, तब तक प्रणव सम्यक् रूप नहीं होता । पहले ही क्रम की जिन अनुक्रम आदि बद्ध भूमि का प्रसंग विवेचित हो चुका है, उन सबका अतिक्रमण करते हुये जपविक्रम-पराक्रमादि मुक्त स्व छन्दः भूमि में जाना आवश्यक है । केवल अनुपात क्षेत्र में आनुपातिक होने से ही परम अनपाय गति कैसे प्राप्त होगी ?

अतः क्रमिक जप (मात्रासंख्यादि निरूपित) हेय नहीं है, परन्तु वह उपादेय भी है । जब तक कि विक्रमपरिसीमा प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक इसकी आवश्यकता रहती है । मात्रा-संख्यादि के छन्दोग हो जाने पर, उसके प्रभाव से क्रमशः शक्ति समृद्ध होती है । ऐसा विशेषतः अव्यक्त भूमि में होता (Potential Field) है । यह है स्पन्दन विज्ञान द्वारा प्रमाणित तथ्य । शक्ति का मान वर्द्धित होते-होते, जब वह किसी मेरु में उन्नीत होता है, तब क्रान्ति का ग्रंथिविमोचन (नारसिंह शक्ति से) हो जाता है । तब शक्ति प्रभृति की नव तथा भूयसी जागृति एवं प्रवृत्ति (A novel Dynamic resurrection) होती है । इन कतिपय 'पर्गो' (क्रिटिकल Epoch) के अनन्तर शक्ति का मान एक ऐसे चेतन मान में आ जाता है जहाँ पर उसका विक्रम अपना ही अतिक्रमण (Surpases and transcends itself) कर लेता है । वर्त्तमान सूत्र में जब तक क्रम नियमानुसार चल रहा है, तब तक (अम्) हंसः है । विक्रम परिसीमा में (इम्) सिंह, अन्त में अर्थात् अतिक्रमण में (उम्) सुपर्ण ।

प्रकृति के सभी क्षेत्रों में यह लक्ष्य करो कि यद्यपि शक्ति तथा क्रिया परस्परतः ह्रास-वृद्धि का एक अनुपात रखते हुये चलती हैं, तथापि ऐसा सर्वदा नहीं होता । एक सीमा में आते ही क्रम का रूप परिवर्त्तित हो जायेगा (जैसे Stimulus and sensatson में) । तब शक्तिमान वृद्धिगत है, तथापि जैसे क्रिया चल रही थी, वैसे नहीं चल रही है । ह्रास होने लगा । स्तब्धवत् हो गई, Sense and tone and nature परिवर्त्तित हो गये । Pleasant हो गया Painfnl.

तत्पश्चात् क्रम की परिणतिरेखा (कर्व Curve) का पूरा घुमाव बदल जाता है । (आकृति-प्रकृति आमूलतः बदल जाती है) । जैसे जिसी वृक्ष की परिक्रमा (साधारण जप में) नियमित, वृत्ताभास, वृत्ताकृति में घूम-घूम कर होती है । जप से नाद 'खुल' गया, ज्योतिः स्फुरण हुआ, विन्दु में सम्यक् शान्त-विलय घटित हुआ, आनन्द का अलक्षित भाव उच्छिन्न हो गया । अब जपक्रम 'पराक्रम' में जा रहा है । इस प्रकार परम पर्यवसान पर्यन्त समझो ।

सूत्रकथित तीन मूल स्वरमातृकायें दीर्घादि मात्रा ग्रहण करते हुये ह-क-श व्यञ्जनों का आश्रय लेकर ह्रीं, क्रीं, श्रीं प्रभृति बीजमन्त्र का रूप ग्रहण करती हैं। अब है आदिस्वर 'अ'।

१६. अकारेणरसामान्यव्यपदेशः ॥

अकार द्वारा अक्षर सामान्य का व्यपदेश जानना चाहिये ॥

यहाँ अक्षर सामान्य का तात्पर्य क्या है? जहाँ अक्षर विशेष में प्रतियोगिता है, वही है अक्षरसामान्य। अर्थात् 'यह अक्षर' अथवा 'वह अक्षर' (विशेष अक्षर) नहीं, प्रत्युत अक्षर रूप से जो वाच्य है, तथा जो प्रमेयरूपेण उपस्थित हो जाता है, वही 'है अ'। किन्तु क्या 'अ' भी अक्षर विशेष नहीं है? हाँ, वह तो है, किन्तु वर्त्तमान तो 'अ' संज्ञा (व्यपदेश) है, वह अक्षर विशेषावच्छिन्न भाव नहीं है।

वर्णमाला का आदि तथा शेष (अ एवं क्ष) दो कोटि है। इन्हें सामानाधिकरण रूपेण 'अ' ने धारण किया है। 'क' कार आदि व्यञ्जनों में अ वर्ण (स्वर) तो आधार अवश्य है; इ, उ, ऊ, ऋ आदि सभी स्वर इसी से अन्वित हैं। 'अ' के अभाव में कोई भी स्वर 'स्थिति' प्राप्त नहीं करता (Base of subsistance or continuance)। अर्थात् 'अ' स्वर अन्य स्वरों से मानों कह रहा है "तुम लोग उठो-बैठो, तरंगायित हो जाओ। मैं समस्त स्वरों के सामान्य रूपी अधिकरण में हूँ, The base and frame of all varying movements".

पाणिनी के माहेश्वरसूत्र के प्रथम अक्षर हैं 'अ इ उ ण्'। इनमें प्रथम है अक्षर सामान्य। अन्य दो हैं इसकी दो मौलिक विषयरूपता। इसे अगले सूत्र में विवेचित किया जायेगा। वर्त्तमान सूत्र में जो व्यपदेश है, वह केवल मात्र वर्ण अथवा लिपिमाला हेतु नहीं है। अक्षरसूत्र क, 'अक्षर' यहाँ प्रसक्त है। अतः सर्वभूमि में इस 'अ' को ही जान लेना होगा।

जैसे चित्तशक्ति ने सृष्टि के लिए अपने परम घनीभाव (अकामयत्) रूप में 'विन्दु' रूप धारण किया। इस विन्दु का आदिम काम है "मैं गतिशील होऊँगा, स्वयं को बहुः करूँगा।" फलस्वरूप रेखा का आविर्भाव होता है। रेखा — ऋजुरेखा। यह है अकार की अटन-अंकन आकृति। विन्दु ने दिक् (सेन्स) की कल्पना करते हुये स्वयं को दो ओर गतिमान किया। अर्थात् यह अकार अब हुआ (+) तथा (−)। स्वयं से ही अपेत होना, अन्य होना, स्वयं ही उपेत होना, यह सब उसी (+) तथा (−) के व्यवहार (कन्वेंशन) पर निर्भर करता है। जो कुछ भी हो, यह द्विविध वृत्ति होने के लिये मूल में एक उदासीन स्थल अवश्य रहेगा। इसे 'शून्य' कहते है। यहाँ क्षर भी अक्षर में ही स्थित है।

जैसे पैराबोला का अंकन किया। इसमें प्रथमतः विन्दु कहता है 'यह देखो, फोकसरूपेण मैं स्थिर हूँ। इसमें तुम भी चलने पर भी स्थिर ही रहोगे!" तत्पश्चात् 'अ' कहता है "यह जो एक सरल रेखा है, directrix है, यह तुम को स्थिर तथा

व्यवस्थित रखने के लिये 'अक्षर सामान्य' होकर स्थित है।" इसके अनन्तर 'इ' तथा उ का कर्म ! उपर में विन्दु तथा रेखा के अक्षर प्रशासन का ध्यान करो। दोनों में जो विशेष है, वह भावनीय है। यदि रेखा को नादगोत्र कहें और नाद को विसर्ग कहें, उस स्थित में 'अ' कार प्रभृति मातृकाकृति (अं—अः इत्यादि) नाद-विन्दु के दृष्टिकोण से समझना ही होगा।

'अ' 'इ' 'उ' प्रभृति विशेष-विशेष आकृति में शक्ति आदि के विन्यास ही हैं। ऐसा ही सर्व भूमि में है। अत: 'अक्षर' का तात्पर्य केवल वर्णमाला किंवा लिपिमाला ही नहीं है। (जैसे प्रणव में अ आदि)। फिर भी वर्ण तथा लिपि केवल संकेतमात्र भी नहीं हैं।

साधारणत: शक्ति विज्ञान में अ = एक given field of Energy। ह = उक्त Field का महाप्राण तथा अबाध रूप। इ = उक्त Field के सम्बन्ध में outgoing lines of Manifestation—Levels of Kinetic functioning। उ = उक्त functioning that Combines the dimensions of up and down, broad and deep अर्थात् 'उ' में शक्ति तथा उसकी क्रिया का 'सर्वतोमुखं ज्वलन्त' (अथवा उर्जितत्व) साधित होता है। 'इ' में रेखा को केन्द्र अथवा नाभि ने जो ऋच्छतिरूप गति प्रदान किया, 'उ' ने उसे त्रिकोण त्रिकोष में पद्म आदि आकृति द्वारा ग्रहण किया। 'उ' है कोण—कोणिक सब कुछ। अतएव Circular measure, Wave function, Spiral pattern इत्यादि भी है। अगले सूत्र में इस प्रसंग का वर्णन होगा।

सामान्याधिकरण्यं यदक्षरधर्मताश्रयि।
सर्वक्षराक्षराणां तद्भूरकार इतीरितम् ॥ २५ ॥
ऋणत्वे तदपाय: स्यादनपायो घनत्वत:।
उभयत्र स्थितिः स्थाणुरुदासीना तु मध्यमा ॥ २६ ॥

इन दोनों कारिकाओं के भाव को कहा जा रहा है। अक्षर धर्म का आश्रय लेकर जो सामान्याधिकरण्य है, वह किस-किस पदार्थ के सम्बन्ध में है ? यह है समस्त क्षर तथा अक्षर के सम्बन्ध में। परम अक्षर निखिल का निर्दोषतम तथा ऐकान्तिक 'अधिकरण' है। अन्य किसी के साथ भी उसकी अधिकरण प्रतियोगिता नहीं है। अत उसके साथ 'अ' प्रभृति की साक्षात् वाचकता भी नहीं है। परन्तु जैसे ही परम अमेय आदिम 'मान' को अंगीकृत करते हैं, उनमें One dimension अथवा 'Measure' अध्यस्त हो गया। अत: वही है 'अयम्'। यह 'भूः' संज्ञा के रूप में साधारणत: ज्ञात होता है। इस प्रकार से यही है 'अ'। (अयम् में इस 'अ' को 'अय्' अथवा गतिरूपेण देखा जाता है, अथच यह स्थिर भी है)। गति स्थिति, दोनों में होने के कारण इसमें एक उदासीन स्थाणु स्थल (विन्दु) रहता है। इसके

दोनों दिक् (ऋण-धन में) हैं अपाय एवं अनपाय। दोनों की स्थिति (स्थाणु एवं उदासीन) है मध्यमा।

ऐसा नहीं है कि मध्यमा वाक्चतुष्ठयी में अन्यतमा मात्र है। विश्व की समस्त गतियों की धू: (Axis) के रूप में यह हृदिस्थिता है। यह है अक्षर की प्रतिभू। इसी का आश्रय लेकर सभी प्रकार की गतियाँ एक ओर अपाय हैं दूसरी ओर उपाय। इसका अर्धमात्रारूपेण समाश्रय करने पर सभी प्रकार की गति, उसकी ध्रुवा स्थिति और अनपाय धाम भी प्राप्त हो जाता है। 'यतो गता: न निवर्त्तन्ते'। जहाँ जाने पर उत्क्रान्ति नहीं होती।

अत: 'अ' के द्वारा इन पचलिंगों का विशेष ध्यान रक्खो :—

(क) वाक् रूप अक्षर सामान्य का व्यपदेश,

(ख) जो गतिमात्र का अक्ष सामान्य है, उसका व्यपदेश,

(ग) सब कुछ में (जैसे स्वर में, नाद में) अनुक्रम-अन्वय का व्यपदेश,

(घ) समस्त व्यापार में अपाय-उपाय प्रभृति दिकद्वय द्वारा अनपाय स्थल का व्यपदेश,

(ङ) सर्व क्षरा-क्षर के सामान्याधिकरण्य का व्यपदेश।

१७. आकारेणाततिः ॥

आकार (पूर्वोक्त अकाराश्रय द्वारा) आतति का व्यपदेश होता है ॥

स्थितिस्थाणुत्वमाद्यस्याततिं याति पराक्रमात्।
देशकालादिजन्यानाँ रोधानामपसारणात् ॥ २७ ॥
स्थितिभूस्ततिभूर्जाता येनाकार: स उच्यते।
दुर्गा दुर्गविरोधे हि तारानुत्तीर्यतारणे ॥ २८ ॥
महामाया पराविद्या राधा धारा—तदन्वयात् ॥ २९ ॥

अकार सूत्र में 'स्थिति भू:' भाव की जो मुख्यता है, उसे पूर्वोक्त लिंगपंचक दृष्टि के द्वारा हृदयंगम किया जाता है। "यह" अनुभव के आकार में स्थिर हो जाता है। वह कहता है "यही तो मै हूं। असीम अनन्त में यह तथा यही होकर स्थित रहता हूं"। अतएव इस प्रकार स्वयं को "यही तो यह" करके रखने के कारण 'अ' के अवस्थान के साथ निषेध भी है, अभाव का भाव भी है। तभी 'अ' में निषेध तथा अभाव का भाव आ जाता है। यह है प्राणब्रह्म की आत्मबलि, और उस राजा बलि के द्वार पर स्वयं का बन्धन। स्वरूपत: तो 'अ' ब्रह्म है। अनन्त, अनादि तथा असीम है।

एक 'अजब' बात है। जिन्होंने बलि के यज्ञ में समस्त पादमात्रा का अतिक्रमण किया था, वही तो उस सृष्टिरूप 'यज्ञ' का भरण करते है। इसी कारण उन्होंने स्वयं को बलि का द्वारपाल बना लिया! द्वार पर बंध गये। जो अतिक्रमी

हैं वही हो जाते हैं अनुक्रमी। क्या ऐसा नहीं है? सब में इसे विचारो। अनुक्रमी तथा अतिक्रमी दोनों में 'अ'।

किन्तु अनुक्रमी (Confirming) होने के लिये जैसे किसी form (formula इत्यादि) का आनुगत्य आ जाता है; उसी प्रकार वह आनुगत्य भी बद्ध बाध्यता में (Rigid Mechanicality में) जानें की प्रवणता से युक्त हो जाता है। सर्वक्षेत्रों में तथा जप में भी ऐसा ही है। जो यन्त्रम् है, वह यान्त्रिक हो जाता है। 'अ' में आ जाता है अवष्टम्भ। स्थिति भी अब स्थाणु होना चाहती है।

अतः इस पाश अथवा अवष्टम्भ को उच्छिन्न करने के लिये क्या चाहिये? पराक्रम! स्थितिभूः को अब होना है ततिभूः! इसके द्वारा देशकालादिजन्य अवरोधसमूह का मोचन हो जाता है। 'अकरण' हो जाता है आकरण तथा व्याकरण। यही है 'आकार'। यह 'अ' को पाशमुक्त करते हुये कहता है "तुम मुक्त हो जाओ, उदार एवं विशाल हो जाओ"। जो पहले Closed function था वह है Expanding Function!

कतिपय दृष्टान्त :—

दुर्ग अर्थात् जिससे और जिसके द्वारा कष्टपूर्ण गति होती है। दुर्गति ही उसका साधारण नाम है। दुर्गा नाम द्वारा इसका निरसन होता है। जो 'तारा' नाम से पार नहीं होता, वह भी पार हो जाता है। 'मा महामाया' नाम द्वारा मायातीता परा विद्या सुप्रसन्न होती हैं। राधा नाम में जो 'जड़ीय' प्राकृत धारा है, वह रस स्वरूप के अभिमुखीन अन्वय में उलट जाती है। अर्थात् जो रसाभासमुखी न थी, अब वह है रसैकमुखीन! श्यामा उमा प्रभृति 'आ' युक्त नामों का चिन्तन करो। काली नाम में 'आ' तथा 'ई' दोनों की मुख्यता है। इससे क्या विदित होता है? यह अन्य सूत्रों में वर्णित होगा।

यह स्मरण रक्खो कि वर्णमात्र ही प्राणब्रह्म का सृष्टि प्रभृति रूप में संकलन का द्योतक है। 'यह होगा' यही है प्राण की व्याप्रियमाणता (energising)। प्राण की ऐसी व्यापारवत्ता होने पर 'कौन-कौन सी मूल आकृति विश्वविश्लेषण के आदिम पर्व में प्राप्त है? 'अइउण्' यही है इस दृष्टि से (केवल Phoneticalty रूप से ही नहीं) इन्हें पहचान लेना होगा। अन्यथा जप के, बीजादि के अवयव मूलतः आवश्यक, Essential नहीं होंगे। अक्षर भी पदार्थ के साक्षात् अधिकरण में नहीं आयेगा।

लक्ष्य करो कि प्राणप्रयत्न का पंचधा विनियोग होता है। यह है संवृत, आवृत, परिवृत, विवृत तथा निवृत। मान लो कि अन्तर्बहिः की कोई प्रवृत्ति है, activation है। इसे यदि उस केन्द्र में अथवा नाभि में पूर्णतः ले जाओ तब वह है संवृत। (विन्दु विलीनता के समय नाद संवृत है)। अन्य किसी व्यापार में (जैसे झिल्ली प्रभृति नाद) वह है आवृत। वह आवृत न होने पर भी अन्य के द्वारा परि-

वृत (Environed) हो सकता है । इन सब के होने पर भी, अथवा इस प्रकार की अवस्था में जब उसका प्राकट्य एवं स्फुरण होता है, तब उसे कहते हैं विवृत । इन सब हेतु से निवारित होकर वह है निवृत !

जैसे एक वटबीज, उसके नाभिकोष (जर्म सेल) में संवृत । वह बीज त्वगादि अवष्टम्भक द्वारा आवृत है । मृत्तिकादि परिवेश द्वारा परिवृत । अंकुरादि उद्गम में विवृत् । बीज में अथवा परिवेश में उद्गम-उन्मेष जब प्रतिकूल हेतु द्वारा निवारित होता है, तब निवृत । निवारण होता है देशकालादि जन्य रोधसमूह द्वारा। ओं, ऐं प्रभृति के जप में विन्दु में जपक्रिया है संवृत । नाद में है विवृत । वाह्य शब्दादि द्वारा निवृत । अ—उ इत्यादि कला एवं पादमात्रा में परिवृत और राजस-तामस अन्तराय द्वारा निवृत । (प्रथम खण्ड में माण्ड्य की सप्त प्रकारता विवेचित है । उसका प्रणिधान करो ।) अ तथा आ के सूत्रद्वय में अभिव्यञ्जक शक्ति के सव्यापार होने का जो आधार (अक्षर रूप) वर्णित है, वहाँ उसे सामान्यभावेन कहा गया है । ये अक्षर सामान्यद्वय (अ तथा आ) समस्त सव्यापारा अभिव्यंञ्जक शक्ति के आधार 'Base हैं । पहले सूत्र में आधारकल्पन का परसमीकरण Index रेखा तथा लम्बरूप टू-डाइमेन्शनल हो रहा है । जो इदं अथवा अयं मात्र था, वह अब हो रहा है इदं—अहम् । शुद्ध प्रकाश के लिये द्वैत आवश्यक है, परन्तु ईक्षण (संवृत अथवा विवृत भाव में) में वह आवश्यक है । 'अ' स्वयं को विवृत करता है। इस प्रकार 'इ' तथा 'ई' की बारी है । बीज ही अंकुर आदि होगा । वह कहता है "इस बार मुझे लम्ब दो । मैं उठूंगा" । विन्दु से नाद के उदय में भी ऐसा ही है । यह 'व्यापार' एक ही भूमि अथवा डाईमेंशन में नहीं रहेगा ।

१८. इकारेणेद्धत्वाद् यत्कल्पनं तदीक्षणम् ॥
(इकारेणेद्धशक्तिः)

इकार में शक्ति (सव्यापार) इद्ध होने पर उसे जानना होगा । फलस्वरूप 'अ' में जो क्लृप्त था, 'इ' में उसका ईक्षण होने लगा । इस बार Fact स्वयं को देखेगा (sees Itcelf) और बहुधा विनियोग करेगा (Treats itself) । 'अ' में प्रकाश-विमर्श परस्पर में संवृत था । 'इ' में विमर्श कहता है "मैं अलग हो जाऊँ ? क्या इससे सहमत हो ? जैसे e तथा F (X + H) दो Function 'अ' में इस प्रकार से 'चुप' हैं । 'आ' में expanding की; बढ़ने की आकृति है । ई में ? स्वयं को Seris रूप में करके देखा — ईक्षण । ईक्षण किया Finite, Infinite, Convergent, divergent रूप से । 'इ' के अभाव में आकृति (गति के Curve आदि) का अंकन कौन करेगा ? ,इ' अन्तरीक्ष अथवा अन्तरिक्ष तत्वनिर्देश देता है । यह है भुवः, जैसे 'अ' है भूः ।

'आ' में 'आतति' की आकृति है । 'इ' में नितत की आकृति है । संख्या के दिक् से विन्दु (शून्य-पूर्ण) स्वयं से कहता है "यह देखो, मैं हूँ एक Last unit

अन्तिम इकाई।" इस 'एक' दिङमान प्राप्त करने से होता है +१, −१। अब अन्ततः बहिक्षेत्र में यह प्रमाणित हुआ है कि शक्ति की विततित (Propagation) से Inverse Square Law का छन्द: प्राप्त होता है। क्यों? उसका भी हेतु है। यह पश्चात् काल में विवेचित होगा। अपेत को वियोगचिह्न में लाने पर प्राप्त होगा $\sqrt{-1}$। अर्थात् 'एक' के अपेत रूप से गतिमान होने के लिये यह काल्पनिक संख्या चाहिये। गणित तथा विज्ञान में यह कल्पित व्यवहार मौलिक तथा अवश्यम्भावी है (जैसे de Moiver's Theorem आदि)। इसे कहो। यह है अ तथा आ के पूर्वोक्त क्लृप्तमान का सूचक। 'इ' में Exponential Base की आवश्यकता है, वह है e. क्योंकि 'इ' कार ही (अन्तरिक्ष) विश्व में सब कुछ का Exponent है। यही है वस्तुशक्ति को 'इद्ध' Explicate करने का हेतु। (गुरु शिष्य, मन्त्र-जापक आदि में अन्तरिक्ष की स्थिति का वर्णन किया जा चुका है और कहा गया है कि इसी पर गुरु शिष्य, मन्त्र जापक आदि दोनों का कार्यतः शक्तिसम्पर्कमान निर्भरशील रहता है)। उकार सूत्र में वेध तथा कौणिक वृत्ति के सहपात के कारण गणित विज्ञान के एक अन्य मौलिक मान का उद्भव होता है, यथा π (पाई)। इसके अभाव में वृत्त-उर्मि प्रभृति प्राप्त नहीं होते। ये तीनों स्वयं अमानी हैं, किन्तु सब कुछ के लिये मानद हैं।

यज्ञ तथा जप में, अ = अग्नि। आ = वेदी में आधान। इ = ईन्धन। उ (सू में जैसे हैं) = स्वाहा = अग्नि का उसके स्व-शक्तिमान में आवाहन। (व तथा उ को पुनः प्रणिधान में लाओ)। पक्षान्तर से नाभि = उ। अर = इ। नेमि = अ + ई = ए। 'अ' इन तीनों का ही अक्ष है, अक्षर सामान्य है।

विकल्पसूत्र में 'इद्धशक्ति' विवेचित है। 'इ' तथा 'श', ये दोनों ही तालव्य है। जैसे 'अ' किसी प्रकार की शक्ति का आधार, Base है। यह 'इद्ध' हो रहा है 'मान' में। उसमें दण्डधारणी वृत्ति आ रही है। जैसे रेडियम से अल्फा-बीटा-गामा रश्मियों का विकिरण होता है। विकिरण है "दण्डवृत्ति"। यदि यह विकिरण 'कनकेव मिरर' में सम्पादित हो रहा है, तब 'धारण' भी है। तालु एवं तालव्य, इन कनकेव प्रभृति भूमियों के सम्पातन का ही उदाहरण है। वाक् में प्राणशक्ति के कारण जो स्पन्दगुच्छ हैं, उनका तालु में इस प्रकार से सम्पातन (Incidence) है तालव्य वर्ण। इसका निर्देश है 'इद्ध' शब्द में। शक्ति शब्द के आदि अन्त में तालव्य है। मध्य में है उ। 'क' है व्यंजनमुख। 'त' अर्थात् तलसूचक।

अब 'उ'। ओष्ठ्यवर्ण, वेधवृत्ति। अर्थात् किसी प्रकार की शक्ति को केवलमात्र Valve के समान Canalize ही नहीं कर रहा है, परन्तु वह शक्ति इसी के द्वारा अग्र्या हो रही है। वह अग्र्या = (Pointed, brought to a hood) हो रही है इसी के द्वारा। अतएव पूर्वोक्त तालव्यवृत्ति (For example incidence

on a Concave mirror) केन्द्रीणवृत्तिता में (Massing and Focussing में) आ जाती है । इस सूत्रालोक में ह्रीं, ह्रूं, जूँ प्रभृति बीजों का परीक्षण करो । गणित की परिभाषा में अ, इ, उ हैं Bace, Index और Co-efficient ।

जैसे मृत्युंजय मन्त्र ऊँ जूँ षः सो जूँ ऊँ । इस मन्त्र के शक्ति लेख का अंकन कैसे होगा ? 'जूँ' बीज एक बार मूर्धन्य 'ष' के आगे है और एक बार 'स' के पश्चात् भी है । इससे क्या विदित होता है ? 'ज' है तालव्य । 'जूँ' द्वारा वाक् प्राणादिशक्ति का परिपूर्ण विन्दुघनीभूतभाव । 'ष' के द्वारा इसकी निरतिशय काष्ठा की, विसर्ग के द्वारा इस काष्ठा की सक्रियता तथा मुक्तता (सोम अथवा अमृतक्षरणरूपी सक्रियता) की सूचना मिलती है । स=सिंचितशक्ति है, परन्तु 'सो' उसे विक्षेप (dissipation) से हटाकर सुषम उर्मि में (ओ) में रखता है । अतः आयु का जो शक्तिक्षय है, उसका अपव्यय नहीं हो सकता । 'जूँ' के शासन में ही रह कर उसी में पुनश्च समाहृत, संगृहीत होता है । अतः शक्तिव्यय के पूर्व में और अन्त में 'जूँ' रूपी अमृत अव्यय का आधान-आश्वास (गैरन्टी) रहता है । जैसे अमृत (आहार के समय) का आवाहन दोनों प्रकार से किया जाता (आस्तरण तथा पिधान रूप से) । अब कहो, क्या सत्य ही मृत्युंजय, मृत्यु को जीतनें वाला मन्त्र है कि नहीं ? 'ष' तथा 'स' दोनों को सम्यक् रूप से पहचानना होगा ।

अकारेण धनुर्दण्ड आकारेण तदाततिः ।
ज्यारोपणमिकारेणोकारेण लक्ष्यवेधनम् ॥

एक श्लोक की उपमा इस प्रकार से देकर कहा जा रहा है कि अ=धनुर्दण्ड है । 'आ' ने उसे आतत किया । 'इ' ने उसमें ज्यारोपण किया । उ कार द्वारा (आकर्षण तथा शरसन्धान पूर्वक) लक्ष्यवेध भी सम्पन्न हुआ ।

अभिव्यञ्जकशक्तिर्हि सव्यापारा यदा भवेत् ।
क्रियाच्छन्दोनिमित्ताया बाधाया अपसारणे ।
द्विपदी सा तदा ज्ञेया भुवश्चेति निरूप्यते ॥३०॥
इकारेण यदिद्धत्वं तन्मूलं व्यक्ततां प्रति ।
स्वप्रकाश हि या चित् सा सर्वप्रकाशने चितिः ॥३१॥

अभिव्यंजक शक्ति सव्यापारा कब होती है ? (जैसे बीजादि में ?) क्रिया के छन्दः (दि ला आर इक्वेशन गवर्निंग दि एक्शन) से निमित्त-नैमित्तिक सम्पर्क रखने वाली जो बाधा है (रिटार्डिंग, रिस्ट्रिक्टिंग फैक्टर), उसका जब अपनोदन होता है तब वह अभिव्यंजक शक्ति सव्यापारा होती है । (यह विचार करो कि बीज से अंकुर कब बाहर आता है) अच्छा, कब क्या परिवर्द्धन होता है ? जो 'अ' तथा भूः रूप से एकपदी (धनुष का दण्डमात्र था, आधार Base मात्र था) वह 'इ' होकर त्रिपदी हुआ भुवः अन्तरिक्ष । (अब बीजांकुर अर्थात् Base Index, दण्ड तथा ज्यारूपी त्रिपाद परिलक्षित हुआ) । अतः 'इ' में जो पूर्वप्रदर्शित

इद्धभाव है, वह है समस्त अभिव्यक्ति (व्यक्तता Kineticity) का मूल। इसलिये परममूल में दृष्टि रखने से विदित होगा कि जो स्वप्रकाश चित् है, वह सर्व प्रकाशन से (अर्थात् इद्धभाव में जो 'इ' है, उसे अंगीकार करके) चिति हो जाता है। प्रकाशस्वरूपा चित् ही सर्वविमर्शमूल 'इ' को चितिरूपेण स्वीकार करता है।

चित् में यह आद्य इकार है। यह क्या करता है? सर्वप्रपंचोपशम, अवांग-मनसगोचर जो परम है, उससे मानों कहता है 'तुम हो, सत् एवं स्वप्रकाशस्व-रूपेण हो'। मानों सत् तथा चित् परस्पर एक दूसरे को पहचान लेते हैं। और अन्त में अपर 'इ' कहता है "तुम सर्वप्रकाशन भी हो 'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। उकारसूत्र में और भी एक पद है। धनु के दण्ड तथा ज्या के साथ है 'शर'। सत्-चित् के साथ आनन्द। 'उ' कार 'स्व' का वेध करते हुये आनंद स्वरूप को उन्मुक्त कर देता है। किसी भी Base के Index को Zero करने पर होता है 'एक (एक-मेवाद्वितीयम्) किन्तु Coefficient को Zero करने पर है शून्य। 'उ' के पूर्व में 'इ'। जैसे 'अ' के पश्चात् 'आ'।

१९. ईकारेणाभीद्धशक्तिः॥

दीर्घ 'ई' में अभीद्ध शक्ति है॥

'इद्ध' तथा 'अभीद्ध' में क्या अन्तर है? अति के द्वारा अभिमुखीनता (ओरियोन्टेशन, पाईन्टेडनेस) विशेषतः सूचित होती है। जैसे अग्नि है (अ); उसमें इन्धन छोड़ा। ताप में वृद्धि तथा विकिरण हुआ, किन्तु अपने अभीष्ट अभि-मुख ताप को कैसे प्राप्त करोगे? Blow pipe (भाती अथवा धौंकनी) तो चाहिये ही।

हममें कामादि वृत्तियां तो प्रायः इद्ध (Excited) होती हैं, किन्तु प्रेयः को त्यागकर वे श्रेयःरूपी प्रेयः की ओर गतिशील कैसे हो सकती हैं? यही तो समस्या है। बीजमन्त्र में 'ई' क्यों है? साधुसंगादि हो रहा है, फलतः प्रराप्रकृति में इद्धभाव हुआ, किन्तु दीक्षाकर्म होता है इसे अभीद्ध बनाने के लिये! यथेच्छ 'नाम' जप रहा हूँ, उससे 'इद्ध' स्थिति! किन्तु जब इसे मन्त्र रूप से ग्रहण किया जाता है, तब है 'अभीद्ध'। इद्ध में जो Patency मात्र है, (अर्थात् 'देखता हूँ कि व्यक्त हो रहा है), वही अभीद्ध में Potency के रूप में संयुक्त हो जाता है। (जैसे पंखे को हाथ से हिलाने पर थोड़ी ही देर घूमता है, परन्तु स्विच खोलकर शक्ति भण्डार से संयुक्त करने पर घूमता ही रह जाता है। रेगुलेटर द्वारा गति को न्यूनाधिक भी कर सकते हैं।) Potency = सब कुछ में कुण्डली शक्ति। निखिल सृष्टिमूल में विन्दु! Patancy = नाद है, तथापि नादविन्दु का शिवशक्ति के समान पारस्परिक सामं-जस्य रहने पर अक्षर – अव्यय।

सव्यापारा यदासौ स्यादाधारशक्तिकुण्डली।
अणुतनूरुसंस्थासु कारकच्छन्दसां धृतेः॥३२॥

अभिमुख्येन चेद्धत्वं तदा सौषुम्नवर्त्मगा ।
अभिती महदव्यक्तं व्यक्तेरिन्धनमाहर ॥३३॥

पूर्वसूत्रोक्त 'क्रियाच्छन्दः' वर्त्तमान सूत्र में 'कारकच्छन्दः' है। पहला है Law governing work और दूसरा है Power. कारकछन्दः को सम्यकतः धारण (धृतेः) करने में 'ई' का सविशेष उपयोग है। जैसे कागज पर एक वृत्त का अंकन किया। जिस कम्पास द्वारा अंकन किया जा रहा है, क्या वह कम्पास प्रत्येक व्यासार्द्ध का दैर्ध्य ठीक रख तो रहा है ? सर्वविध तन्त्र में 'इ' कार को, यन्त्र में 'ईकार' को और मन्त्र में 'उ वर्ण' को विशेषतः अनुकूल होना चाहिये। यदि कहो 'ऐं' मन्त्र में 'उ' कहां है ? स्थूलतः तो नहीं है, किन्तु वह विन्दु-विलेय रूप में है। अर्थात् व्यक्त एवं कलित-फलित नाद को अर्धमात्राश्रय में विन्दु विलीन किया है। ऐसा ऊँ आदि समस्त मन्त्र में है।

अणु, तनु, उरु प्रभृति संस्थाओं में ईकार के द्वारा कारकछन्दों की धृति होती है। अब कारकच्छन्दः यह नहीं कहता कि "ठीक-ठीक जप मत करो, व्याज-विघ्न में जाओ"। कारकच्छन्दः अर्थात् कर्त्ता, करण तथा अधिकरण (अधिष्ठान)। गीता में इसे ही कहा गया है "अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्'। जैसे आकाश में किसी सुदूरवर्ती लक्ष्य की ओर एक राकेट को छोड़ा ! इसमें क्रियाच्छन्दः और कारकच्छन्दः की पृथकता का विचार करो। क्रियाच्छन्द क्या कहता है ? "धरापृष्ठ से यत्किंचित् प्रक्षिप्त (Projectile) राकेट पैराबोला के पथ पर और भूपृष्ठ पर पतित होगा" किन्तु कारकच्छन्दः क्या कहता है "देखो ! यदि उसमें इस प्रकार का संवेगमान (मोमेन्टम) परिलक्षित होता है अथवा सञ्जात होता है, जिसके द्वारा वह तुम्हारे छन्द (पैराबोला) में और भाव में न आकर उर्ध्व अथवा सम-तल के किसी लक्ष्य (टार्गेट) की ओर जाये, तब ? किम्बहुना उक्त राकेट में इस असाधारण कर्म हेतु असाधारण (न्यूक्लियर, सुपरसानिक) शक्ति होनी ही चाहिये। क्रियाच्छन्द 'बातिल' 'व्यर्थ' नहीं हुआ। प्रबलतर हेतु द्वारा क्रिया का रूप-आकृति तथा फल परिवर्त्तित हो गया !

एक बीज से ही अंकुरादि क्रम द्वारा वृक्ष का जन्म होता है। इस प्रकार की अभीद्ध शक्ति के द्वारा पृथ्वी का आकर्षण सर्वकाल में वृत्त के रसादि को निम्नभूमि में ही खींचता है। वहां अभीद्धशक्ति है प्राण। हमारी जो अपराप्रकृति है, वह भी इसी प्रकार entropy अथवा नीचे जाने का मार्ग ढूढ़ती है। उसे भी परा तथा परमा की ओर ले जाने, उठाने के लिये अपेक्षित है अभीद्ध ई वर्ण। "बहुत जतन करे तो उपर ठहराय" ! यह कहा जा चुका है गुरुशक्ति ही दीक्षा तथा बीजमन्त्रों के द्वारा इस कर्म को सिद्ध करती है। यही है वास्तविक सहज साधन तथा कुण्डली शक्ति की जागृति। 'हरिः ऊँ' अथवा हरिबोल किंवा प्लुतस्वर से हरि, हरि हे, नाम जपने

से इद्ध का अभीद्धत्व घटित हो जाता है। जैसे काली का नाम। इसके द्वारा इद्ध में स्थित प्राकृतकाम का अभीद्धत्व (सब्लिमेशन) होता है क्लीं के जप द्वारा। अब काम पेशीप्रवण (इन्द्रियप्रवण) न होकर ऐशीप्रवण हो जाता है !

सब कहीं (स्पष्ट न होने पर भी) 'इ' ध्वनि का अन्तर्भाव व्याप्त है। यथा ऐं बीज में। यद्यपि अ वा आ + इ = 'ए' है, तथापि 'ए' में भी 'इ' लुक्कायित है। ऐं में यही है अभीद्ध। अ तथा इ कौणिक सम्बन्ध में आ रहे हैं। अब गति भी कौणिकगति (Angular Velocity) हो रही है। इसका दृष्टान्त है किसी भी नेमि में घूर्णित हो जाना। इस प्रकार के घूर्णन में विषम वृत्ति (ecentric) में पतन की आशंका रहती है। अतः किसी भी सुषम रेखा में bulging in buiging out इत्यादि घटित होने लगता है। 'छिटका' दिया जाना भी सम्भव है। जैसे गायत्री जप में 'वरेण्य' में यह भय आ जाता है, किन्तु उसे 'वरेणीयम्' करके व्याहरण करने पर यह भय नहीं रहता। 'ए' ही 'ऐं' के सुषम छन्द में (हारमोनिक अपलिफ्टिंग मोमेन्ट) में आया ! 'धीमहि' में भी सावधान ! 'ऐं' में अभीद्ध जो 'ई' ध्वनि है वह नादवृत्ति को इस प्रकार से रखती है :—

(१) अर में विघृत रखती है।

(२) नाभिसंश्रय में भी स्थिर रखती है।

(३) नाभि को भी कला-नाद विन्दु युक्त रखती है।

अत: यह है गुरुबीज, क्योंकि गुरुशक्ति वाक्-प्राण चित्तादि को, नेमिवृत्ति मात्र को ही—इस संस्थात्रयी में लाते हुये परमसंस्था की उपयोजक हो जाती है। पक्षान्तर से ऊँ, ह्रौं प्रभृति में उ ध्वनि प्रधान हैं। उनमें शक्ति का उर्जत्व है।

कारिका में यह कथित है कि इन्ध अभीद्ध न होने पर "सौषुम्नवर्त्मगा" नहीं होता। सौषुम्नवर्त्म क्या है ? परम अव्यक्त (एलाजिकल एब्सोल्यूट') जब क्षिति प्रभृति पंचतत्व रूप सृष्टि की अभिव्यक्त भूमि में अवतरण करता है और सब कुछ को स्वयं में 'समावृत्त' करते हुये जिस सुषम-स्व छन्द-समर्थ ऋत् पंथ को ग्रहण करता है, वही है सौषुम्न मार्ग। यही है साधारण लक्षण। अब यहाँ लक्ष्य करो कि परम को सृष्टि में आने के लिये और यहाँ से वापस लौटने के लिये पहले (as prime logical Nexus and precondition) आद्या कलनी शक्ति रूप का परिग्रह करना होगा (will-to-be-and become)। यह है सर्वकारण, स्वयं अहैतुक, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय ! Alogical और Logical के मध्य यही Nexus ही सेतु है। इसे महदव्यक्त कहते हैं। इसी से उन्मिषित होती है नाद-विन्दु-कला की मूल त्रिपुटी (Basic Triad of categories)। मंत्र यंत्र-तंत्र में यही त्रिपुटी सृष्टि की भूमिका में (अपने छन्द: में) अवतरण करती है। और यही त्रिपुटी (निवृत्ति उपरम के समय) सृष्टि प्रपंच को 'परम' में वापस ले जाती है।

यह वापस ले जाती है आद्याकला रूपी महद्व्यक्त के माध्यम से। उसे अर्ध-मात्रा कहो। अमात्र-मात्रातीत तो पूर्ण मात्र है। वह 'एकमात्र' कैसे होता है? इसी अर्ध के द्वारा। पहले अर्ध का, तदनन्तर अन्य का कथानक। जैसे अंश-मात्रा, पाद मात्रा, कलामात्रा इत्यादि। हंस: और सोऽहम् के मूल में अभिन्न अव्यक्त आधार क्या है? इसी का अन्वेषण करते हुये हम 'महद्व्यक्त' में आ पहुँचे हैं।

अच्छा! सुषम-स्व छन्द-समर्थ ऋतवर्त्म प्रवृत्ति और उससे निवृत्ति का जो स्वभावमार्ग है, वही है सुषुम्ना। यही भी सार्वभूमिक तत्व है। इस वर्त्मगति के कतिपय मूलसन्धि स्थल और तीन मेरुस्थल हैं। ये सब हैं चक्र। मेरु तीन है सुषम्ना के मूलाधार मुख में, नाभि में (हृदय में), अथवा द्विदल में। मेरु स्थल में एक-एक Critical phase of transformation रहता है। प्रथम मेरु में सामान्यत: कुण्डलिनी जागृत होती है। द्वितीय मेरु में सूर्य (प्राण शक्ति) की जागृति का अनुभव होता है। तृतीय मेरु में विशेषत: सम्मिलित रूप से ज्योति: तथा रोचि: का जागरण अनुभूत होता है। हृदय में जागरण होता है भाव का और ध्यानशक्ति का। तुम 'ई' वर्ण को अपने मन्त्र आदि में इसी पूर्णहुति के लिये उद्दीप्त, अभीद्ध होने दो।

२०. उकारेणोर्जितशक्तिर्वेधमुख्यत्वात् ॥

'उ' में वेधमुख्यवृत्ति है, अत: उसे उर्जित शक्ति कहा जाता है ॥

इतिपूर्व सूत्रद्वय में क्रियाच्छंद: तथा कारकछन्द: के साथ-साथ patancy factar और potency factor विवेचित हो चुका है। इस सूत्र में वस्तुच्छन्द: तथा Valency factar विवेचित होगा। जो कर्म तथा साधना का उद्देश्य है, उसके पूर्ण साफल्यार्थ केवल मात्र क्रिया तथा कारक को स्व छन्द तथा समर्थ करने से ही कार्य सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती, अर्थात् इतने से ही कर्म तथा साधनोद्देश्य चरितार्थ नहीं हो सकता। वस्तुरूपेण, (substance, care, essence) स्व तथा निजरूपेण जो पदार्थ स्थित है, उसे स्व च्छन्द, समर्थ सम्बन्ध प्राप्त कराना ही होगा। कहा भी गया है "गुरु, इष्ट महाजन कृपा मोरे कैल। एकेर कृपा बिनु सब छारेखोरे गेल"! यह एक कौन है? 'वस्तु' स्वयं! 'पहले आत्मकृपा' का भी यही तात्पर्यार्थ है।

जैसे किसी लक्ष्यवस्तु का वेध करना है। धनु:, ज्या, तीर-सब कुछ ठीक है, किन्तु तुम स्वयं निपुण सन्धान, लक्ष्यवेध जानते हो? और जो लक्ष्यवस्तु है, क्या वह तुम्हारे अथवा तुम्हारे भाव द्वारा वेधयोग्य है? 'मनौ वज्र समुत्कीर्णे' का स्मरण है? 'स्व' में 'व' रूप से और वस्तु में 'उ' रूप से वेधवृत्तिमुख्य 'उ' वर्ण के उपयोग का निर्देश मिल रहा है। उपयोग = Relation of co-efficient interaction : दोनों एक दूसरे के सम्पर्क द्वारा स्व छन्द में तथा समर्थता में उपनीत हो जाते हैं।

जैसे विज्ञान में Principle of screw. spring, spiral इत्यादि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रिया-कारक को वस्तु वेध के लिये स्व छन्द समर्थ

करने हेतु वाक् के दृष्टिकोण से 'उ' वर्ण की (प्राणशक्ति की) उपयोगिता रहती है। किसी अत्यन्त कठोर वस्तु में कील ठोकने के लिए प्रस्तुत होते हो, यह सहज नहीं है। परन्तु उसमें बर्मी से छेद करके पेंच कस देना सहज सा है। इसी प्रकार स्पाईरल, स्प्रिंग आदि में वेधवृत्ति का विचार करो। शक्तिमात्र को मन्थनी-घननी रूपेण, उर्जित तथा उद्वर्त्तन रूपेण प्राप्त करने के लिए इनका विशेष प्रयोजन है।

(इसका = वस्तुच्छन्दः तथा वेलेन्सी फैक्टर)। इनके अभाव में जड़-प्राण-मन और मानस मे कोई भी क्रिया वास्तविक नहीं होती और 'ऊपर-ऊपर' ही (Partial, abstract) पड़े रहना पड़ता है। नेबुला (Nebulae) के हाईपोथेसिस में स्पाईरल का और अन्यत्र स्प्रिंग तत्व का चिन्तन करो। प्रथम है उ, द्वितीय है ऊ। ओष्ठ्यवर्ण की आकृति विवेचना पहले हो चुकी है। किसी भी स्पाईरल को असीम वितान में ले जाने पर उसका जो अक्ष है, वहीं है नाद। जब उसे असीम घनन की स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब वहीं हैं विन्दु। इन अभय काष्ठा अथवा 'Limit' में सर्वविध अवस्थान को कहते हैं 'कला'। (कलित फलित रूपेण = as evolved)।

यह देखो कि इद्ध, अभीद्ध, तथा उर्जित में क्या भेद है। जैसे प्रयोगशाला में किसी उपयुक्त पात्र में दो गैस हाईड्रोजन-आक्सीजन लिया। इसका फल है जल। करेन्ट चलाया (इद्ध), यावत् मात्रा में दिया। अर्थात् patancy (charge), उसका उपयुक्त मान (Voltes) potency, दोनों ही ठीक है। फिर भी जल क्यों नहीं बन रहा है ? क्या समझे ? Valancy अर्थात् वस्तुद्वय का पारस्परिक-आकांक्षित अनुपात ठीक नहीं है। यदि यह है भी, तब तो दोनों गैस ही शुद्ध नहीं हैं। वस्तु को शुद्ध होना चाहिये। उसको प्रस्तुति को योग्य होना चाहिये। वस्तु जब शुद्ध तथा प्रस्तुत होती है, तभी उर्जित हो सकती है।

जपादि साधनार्थ भी इस सूत्र को ग्रहण करो। प्रणवस्थ उ वर्ण सृष्टि के सब कुछ को उर्जित करता है। प्रत्येक पदार्थ को उसकी वास्तविक सफलता भूमि में उन्नीत करता है। जैसे बीज को पादप बनाते हुये पुष्पित-फलित कर देता है। वह समस्त के उदय एवं उन्मेष में एक प्रकार का है और विलय किंवा अन्तर्भाव में अन्य प्रकार का। तभी विवृत-संवृतादि का प्रसंग यहाँ पुनः याद आ रहा है। एक है Expanding, evolving स्थितिरूप, दूसरा है contraction, involving. जप में इनका साधन करना ही होगा। स्वयं में विश्वोदय एवं विश्वविलय को शुद्ध-संक्षिप्त स्वच्छन्द सहज रूपेण आयत्त करने हेतु।

अब है कारिका :—

त्रिपदी वेधमुख्यत्वे निरोधस्यापि वारणात्।
नितरामूर्ज्जिताशक्तिः स्वरितिख्यातिमागता ॥३४॥
ग्रन्थित्रयस्य चक्राणां भेदनपाटवं यतः।
क्रियाकारकयोश्छन्दः फलस्य चापि पूर्यते ॥३५॥

उवर्ण में शक्ति की आकृति त्रिपदी हो जाती है। यह है स्वः रूपी ख्याति। 'स्वः' से 'व'। वस्तुमात्र का अव्याकृत संवृत रूप। the store of potential power of rest energy'। उवर्ण में व का सम्प्रसारण होने के कारण 'नितरामूर्जित रूप' है। जब चित्शक्ति पृथ्वी प्रभृति भूतरूपेण घनता में (विन्दु, नाभि, केन्द्र संघातादिरूपेण) आती है, तब वही है वस्तु। शब्दों का वर्ण रसायन भी यही कह रहा है। घनत्व होने से ही वेध योग्य संस्था। इस घनत्व को केवल मात्र थ्री डाइमेन्शनल (त्रि-आयामी) अथवा Time को लेकर उस दृष्टिकोण से फोर डाईमेन्शनल (चतुः आयामी) समझना उचित नहीं है। यह त्रिपदी आकृति समस्त वस्तु संस्थाओं में मौलिक ही है। जैसे काल में 'अभी' है 'अ' कार। 'तभी' है 'उ' कार और दोनों में मध्य का जो अन्तरिक्ष (इन्टरवेल) है उसे 'इ' कहा जाता है। संस्था का Base, index, co-efficient वर्णित हो चुका है। रेखा और यन्त्र में तल, लम्ब, अक्ष और घनत्व के लिये (सबस्टेंश डाइमेन्शन हेतु) कतिपय वेधमान की आवश्यकता रहती है। (यदि एक इलेक्ट्रान के लिये तीन दिङ्मान की आवश्यकता रहती है, तब दो अथवा तीन अथवा अधिक इलेक्ट्रान के लिये उत्तरोत्तर अधिक दिङ्मान आवश्यक हो जाते हैं)।

'उ' वर्ण ग्रंथित्रय, चक्रकोष प्रभृति के संघात भेदन में पाटव है। जैसे मृत्युंजंय मन्त्र में (जूं) बीज। 'दूं' बीज आदि। यह भी कहा जा चुका है कि क्रियाकारक को फल प्रसव समर्थ छन्दः में लाने हेतु 'उ' वर्ण का उपयोग होता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्व के शब्दस्पन्द (सुपरसानिक) द्वारा अनेक अघटन घटित होता है। इनमें जो विशेषतः वस्तुकेन्द्रीण हैं (Neuclear Actlng) वे सूत्राक्षोचित उवर्ण के अधिकार में है। जैसे 'ह्लूं फट्' प्रभृति केन्द्रीणशक्ति विदारण में (Fission में) उ वर्ण। इस देश की रहस्य भाषा में जिसे सुषुम्नामार्ग और उसकी केन्द्र प्रवणता (चक्र) कहते हैं, वह सूक्ष्म ग्रामस्थ शब्दस्पन्दोत्पादन और विनियोग मे विशेषतः उपयोगी 'यन्त्र' रूप है। ऊँकार युक्त 'लं' बीज प्रभृति बीजों द्वारा इस स्वभाव यन्त्र को स्व छन्द युक्त तथा समर्थ कर लेना चाहिये। उ वर्ण वस्तुनिमित्त-दूर करता है। इसमें समस्त शक्तियों का उर्जत्व लक्षित होता है। यही है 'सुरः'।

जं हूँ दूमिति बीजेषु वेधवज्रं प्रकल्पय।
भुवस्त्वं यदुकारस्य प्रणवे तच्च भावय ॥३६॥

इन-इन बीज मे वेधवज्र निहित है। अतः जपादि द्वारा दधीचि की अस्थि से इन्द्र के वज्र के समान सर्वनिरोध (वृत्तासुर) निवारणार्थं वेधवज्र का निर्माण करो। प्रणव के उकार में जो भाव 'भुवः' रूपेण विद्यमान है, उसे भी आयत्त करके उसकी भावना करो। प्रणव में स्पष्टतः 'इ' नहीं है 'उ' है। प्रणव में इस 'उ' में भुवः तथा सुरः को लक्षित करो। यह सम्मिलित क्रिया 'म' में स्थित सर्ववस्तु समूह के केन्द्रस्थ विन्दु का संस्पर्श प्राप्त करने के लिये जा रही है। अतः 'उ' में ही अभीद्ध

ऊर्जित द्विविध शक्तिमान (पावर डाईमेन्शन) स्थित है। जप द्वारा इसे प्राप्त करना होगा।

२१. त्रिभिः सच्चिदानन्दघनत्वं यथाक्रमम् ॥

पूर्वोक्त मूलवर्णत्रय में यथाक्रमेण सत्, चित्, आनन्द का घनत्व लक्षित होता है। अर्थात् अकार में सत्, इकार में चित् और उकार में आनन्द घनत्व है। वर्णमात्र में इस त्रितय का घनत्व सामान्य है। उ वर्ण में इनका घनत्व विशेषत: तथा मुख्यत: रहता है। उकार में समस्त वस्तु समूह अपने 'वस्तुत्व' की पूर्ण उपलब्धि कर लेते हैं। (शक्ति के केन्द्र, नाभि, उत्स आदि रूप से)। घनत्व = अक्षररूप ब्रह्म का घनीभाव !

कण्ठ्योऽकार: सदात्मा हि तालव्य इश्च चिन्मय: ।
ओष्ठ्य उकार आनन्दघनत्वमक्षरं त्रिपात् ॥३७॥
सच्चिदानन्द रूपत्वमोङ्काराद्यक्षरत्रये ।
नाद: सन् विन्दुरानन्दश्चित् कलेति समन्वय: ॥
ह्रीमादिसर्वबीजेषु ब्रह्माक्षरस्य गाढ़ता ॥३८॥

कण्ठ्यवर्ण अकार सदात्मा है। तालव्य 'इ' चिन्मय है। ओष्ठ्य उ = आनन्द। इस प्रकार अक्षर ब्रह्म त्रिपात् हुआ (अ इ उ, नाद-कला विन्दु प्रभृति रूपेण) अब उसकी संज्ञा है घनत्व। (यह भी स्मरण करो कि आनन्द को समस्त वस्तु का हृत् कहते हैं।) ओंकार के अक्षरत्रय में सच्चिदानन्द रूप की भावना करो। यह पहले कहा जा चुका है कि ओंकार के 'उ' में 'इ तथा उ' दोनों का समाहार है। इसमें उदय में 'इ' तथा विलय में 'उ' सविशेष रूप से वृत्तिमान होता रहता है. और प्रणव का 'म' अर्धमात्रा के सेतु का स्पर्श करा देता है। वहाँ नाद-विन्दु-कला की त्रयी समवेता है। अर्थात् एक uudifferentiated integrity में रहने पर भी ये Defferentiated होना चाहते हैं। अर्वादि क्रम में ऋध्यमान होते हैं। जो एक और पूर्ण मान है (one and full measure) वह functional measure में in comumensurable इत्यादि में विवर्त्तित हो जाता है। अन्यथा सृष्टि में किसी प्रकार के सुषम पर्याय (हारमोनिक, सिमेट्रिकल) का विवर्त्तन सम्भावित ही नहीं होता यह भी देखो कि किसी आन्तरिक भाव (स्नेह—भक्ति) की गाढ़ता का प्रदर्शन (अन्य के प्रति) करने के लिये यही ओष्ठ्य 'उ' ही चुम्बनादिरूपेण परिलक्षित होने लगता है। यहाँ नाद = सत्, विन्दु = आनन्द, कला = चित्। यहां कला है 'विमृश्येक्षणम्'। (जैसे काली रूप में शुद्ध अधिष्ठान है सच्चिदानन्द। कला अथवा विमृश्येक्षण द्वारा उक्त परमाधिष्ठान। इन दोनों भावों का विशेष रूप से चिन्तन करो)। अन्त में यह देखो कि ह्रीं प्रभृति समस्त बीज में ब्रह्माक्षर किस प्रकार से स्वयं को 'गाढ़ता' में स्थित रखता है।

२२. ऋका या चर्षणी ।

ऋका अथवा 'ऋलृक्' संज्ञा के द्वारा (पूर्वोक्त विमर्शनी) चर्षणी होती है ।।

चर्षणी का तात्पर्य ?

चर्षणिर्लोक इत्येवमभीद्धत्वे तु चर्षणी ।
कर्षणी लसिता साऽपि कलयित्री च सा त्रिधा ।।३९।।
सम्विच्च ह्लादिनी ज्ञेया सन्धिनी च यथाक्रमम् ।
महासरस्वती लक्ष्मी: काली च मान्त्रवर्णिके ।।४०।।
ऐं श्रीं क्लीमिति बीजानि ब्रह्माक्षरघनानि हि ।
घृणिर्नृसिंह कृष्णादि-नामानि च स्मरेत् सुधीः ।।४१।।

यदि ,चर्षणी का अर्थ लोक अथवा जन मान लिया जाये, तब ईकारान्त 'चर्षणी' शब्द से 'लोक' का अभीद्ध शक्तिमान सूचित होगा । अर्थात् पूर्वालोचित वाराही तथा नारसिंही । जैसे तुम एक 'जन' किसी एक लोक में अवस्थित हो । यदि तुम्हारे अवस्थान का शक्तिमान उर्ध्व से उर्ध्वतर पर्व में उन्नीत हो रहा है और ग्रन्थि संकरादि का भी निरसन हो रहा है (लोकस्) तब तुम चर्षणी संज्ञा में हो ।

'कृष' धातु इसी चर्षणी में किंचित छिपी हुई है । कृष् तथा कृष्ण, इन दोनों का चिन्तन करो । ऋकार का गुण अर्, तत्पश्चात् 'णी' । लृकार का गुण अल् । इससे लसिता वृत्ति की सूचना प्राप्त होती है । लसिता = ह्लादिनी ।

ऋ तथा लृ, दोनों वर्ण ही ऋ ई स्वर में अभीद्ध हैं । अभीद्ध, अभिमुख में इद्ध होने पर प्रश्न उत्थित होता है कि किसके अभिमुख, कहाँ तक अवधि और किस परिसीमा में ? ऋ तथा लृ दोनों वर्ण ही परिसीमा दिखलाते हैं । इनमें ऋ में अग्नि अथवा ज्योति की परिसीमा है। नृसिंह आदि इष्टनामों का चिन्तन करके देखो । काली बीज क्रीं तथा काम बीज क्लीं को इस वर्त्तमान सूत्र की दीपिका में पुन: लक्ष्य करो ।

अब पूर्वकथित चर्षणी की त्रिधारूपेण भावना करो कर्षणी, लसिता तथा कलयित्री । यद्यपि आकर्षणी वृत्ति इन तीनों में ही है, तथापि कर्षणी में विशेषत: ज्योति: अथवा प्रकाश है । लसिता में रस है और कलयित्री में है सन्धि तथा छन्द: । अत: कर्षणी = संवित्, लसिता = ह्लादिनी, कलयित्री = संधिनी । अपनी किसी भी अनुभूति (Experience) में इस त्रिधा आकर्षणी (co-inhering plenum) की भावना करो । यथाक्रमेण महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली ।

सच्चिदानन्द ब्रह्म अथवा ब्रह्ममयी ही इ उ ऋ लृ प्रभृति अक्षर समूह के मूलाधार रूप से (पूर्वोक्त Conecting, inhearing Plenum) स्थित हैं और अक्षर समूह भी उस ब्रह्माक्षर के ही विशेष-विशेष घनीभाव है । यदि ऐसा नहीं

होता, उस स्थिति में इन अक्षरों का आश्रय लेकर परमाश्रय पर्यन्त उन्नीत हो सकना सम्भव ही न होता !

'Plenum' का भी चिन्तन करो । केवल वाक् के ही दृष्टिकोण से नहीं. इस निखिल सृष्टि में 'पूर्ण निराधार' कुछ भी नहीं है । सबके अधिष्ठान आधार, आश्रयादि रूपेण जो वस्तु है, वही ब्रह्म है । अधिष्ठान में है वही परमाक्षर । वस्तु के दृष्टिकोणानुसार पूर्ण 'वैकुअम' नहीं होता । शक्ति (power) के दृष्टिकोण से भी नहीं होता और प्रशासन के दृष्टिकोण से भी यही अवस्था रहती है । ऋ तथा ऌ रूपी वर्णद्वय विशेषत: परमाक्षर ज्योतिरस में सब कुछ को रखने के लिये उपयोगी हैं । Suprame Lever Principles !

ऐं, श्रीं क्लीं, बीजत्रय को कारिका में अंकित किया गया है । यद्यपि ऋ तथा ऌ साक्षात् रूप से इन बीजत्रय में नहीं है, तथापि कर्षणी, लसिता तथा कलयित्री शक्तिरूपेण अवश्य हैं । तीनों का तीनों में सामरस्य रहता है । तथापि ऐं में कर्षणी, श्रीं में लसिनी तथा क्लीं में कलयित्री विशेषत: विद्यमान है ।

२३. **एचा भूयस्त्वेन बोधनी ॥**

एच, (ए ऐ औ ओ प्रभृति ४ स्वरवर्ण द्वारा) भूयसीरूप से (ब्रह्माक्षर की) बोधनी शक्ति तथा वृत्ति का द्योतन होता है ॥

एचो भूयोऽपि बोधन्यः सच्चिदानन्दविग्रहाः ।
समुत्प्रावादितो योगाद् बोधनी स्याच्चतुर्विधा ॥ ४२ ॥
सम्बोधनीति स योगादुद्बोधनी भवेदुतः ।
प्रेण प्रबोधनी बोध्यऽवबोधन्यतो भवेत् ।
एकाराद्यक्षराणाञ्च चतुर्णां स्यात् क्रमान्वयः ॥ ४३ ॥

ए, ऐ, ओ, औ स्वर को भूयसीरूप से सच्चिदानन्द विग्रहा बोधनी शक्ति चतुष्टय कहते हैं । सम्—उत्—प्र एवं अव प्रभृति चतुः उपसर्ग के योग द्वारा बोधनी चतुर्विधा है—सम्बोधनी, उद्बोधनी तथा अवबोधनी । ए, ओ, ऐ, औ स्वर को क्रमशः एक-एक बोधनी स्वरूप जानना चाहिए । ए— सम्बोधनी, इस प्रकार से प्रत्येक को समझो ।

बोधनी है बुध् धातु से । अतः बुद्धि अथवा धीर यही सब मौलिक वृत्तियां हैं । बुद्धि से केवल Intellect अथवा Reason का तात्पर्यार्थ ध्वनित नहीं होता, यह पहले भी कहा जा चुका है । भाव (Feeling) तथा चेष्टा (Welling) कोई पृथक् बुद्धि तत्व नहीं है । फिर भी बोधनी में बोध अथवा ज्ञान का प्राधान्य विवक्षित रहता है, जैसे गंगा-जमुना-सरस्वती संगम में गंगा प्रधान है । सत्-चित् आनन्द में विशेषत: समस्त चेष्टा और क्रिया का आधार, गति (लक्ष्य) है । ज्ञान का आधार

चित् है; भाव का आधार है आनन्द ! अब उक्त 'ए, ऐ ओ, औ' को समझते हुये सम्बोधनी प्रभृति वृत्ति चतुष्टयी को भी समझना होगा। सम्बोधन अर्थात् पुकारना। जीवन तथा साधन में भी चार मूल भाव (attitude) किसी को पुकारते रहते हैं। उसके पास 'जाता है', उसे 'प्राप्त करता है' अत: 'होता है'। इस प्रकार से ग्रहण के साथ-साथ वर्जन की भी दिशा है। Affirm अथवा Attain करने के लिये deny और Detain भी कुछ न कुछ करना होगा !

अब इन चारो मूल भाव के साथ इन चतु: स्वरों को मिला लो। 'ए' पुकारता है। 'ओ' पास ले जाता है। 'ऐ' उसके पास तक ले जाकर स्पर्श करा देता है, 'औ' उसे प्राप्त करा देता है। चाहने तथा पुकारने पर प्राण, चित्त तथा वाक् को अभीष्ट की ओर अभिमुखीन (Flows out towards) कर देना चाहिये; किन्तु उसकी ओर अभिमुखीन होने मात्र से उसके पास तक पहुंचा नहीं जा सकता। यह निश्चित नहीं है कि किसी लक्ष्य की ओर (directed) गति सम्यक् रूप से जायेगी ही। (विशेषत: सृष्टि के मध्यम तथा अवम् पर्व में Second and third Emergence में) गति को किसी भी प्रकार से छन्दोदीक्षा देना ही होगा। क्यों कि छन्द के बिना कोई भी स्व च्छन्द-समर्थ नहीं होता। इस छन्दोदीक्षा को घटित कौन करता है ? जो स्वर ओंकार के आश्रय में है, वह 'ओ' वर्ण। इसके द्वारा जो Blowing out towards an object की गति थी, वह हो जाती है a Rhythmic, harmonic movement.

'ए' कार सम्बोधन से जो रोधनी शक्ति वृत्ति प्रारम्भ हुई थी, वह विषयादि रूप 'अपरा' सृष्टि के कुक्षिगत होकर (in the ensemble of Secondary and Final emergences) निम्नगामी पतनात्मक गति (Running down) प्राप्त करती है। जैसे किसी सानुनिम्न में inclined plane में पड़ जाना। वृक्ष के मूल में जो रस है वह तो स्वत: नीचे जाना चाहता है, परन्तु इस प्रकार से वह वृक्ष कैसे बचेगा, कैसे बढ़ेगा, कैसे फलित होगा ? अतः उद्‌वृत्ति-उद्‌बोधन ! यही है 'ओ' स्वर। यह वृक्ष के मूलस्थ रस से कहता है "मै तुम्हे केवल नीचे ही नहीं जाने दूंगा। आवश्यकतानुसार तुमको Sucking, Pumping के छन्द में लाऊंगा।" 'ओ' स्वर के प्रभाव से विश्व में शक्तिस्पन्द केवल इत:स्तत: ही नहीं भटकता। वह उर्मि इत्यादि छन्दोग रूप हो जाता है। छन्द के अभाव में सृष्टि ही नहीं हो सकती। अत: 'ओ' स्वराश्रय द्वारा ही प्रणव से सृष्टि हो सकी है।

परन्तु क्या 'ए तथा ओ' इन दो से ही सर्वार्थ सिद्धि होगी ? सृष्टि ने 'ए' स्वर से प्राप्त किया पद्यमानता, पाद। 'ओ' स्वर से पाद में अन्वित होती है मात्रा (छन्द:)। इन दोनों के द्वारा कोई अभीष्ट (End) आकलित तथा संकलित होना आवश्यक है। अर्थात् कला ! मूल का रस तो स्व छन्द में उपर उठा, परन्तु

शाखा-पल्लव-मुकुलमञ्जरी रूपी कलन भी तो अपेक्षित है। यह प्रबोधनी 'ऐ' स्वर। 'ए तथा ओ' स्वर में सत् मुख्यता है। 'ऐ' स्वर में है चित् मुख्यता। तथापि (वृक्ष के दृष्टान्तानुसार) अभी भी सकलतारूप काष्ठा 'बाकी' रह जाती है। 'औ' स्वर परिसीमा में समस्त आवेग, गतिप्रेरणा और ऐषणा को ले आना चाहता है। यह विशेषतः ब्रह्माक्षर का 'आनन्द' है। जप साधना में नादविलय द्वारा इसे ही आयत्त करना होगा। यह अवबोधनी परिसीमा में, धाम-केन्द्र में ले जाता है।

यदि चक्र के दृष्टान्त को ग्रहण करो तो'ए' चक्र के नेमि में है, परन्तु इसमें विषमवृत्त (ecentric) होने का, छटक जाने का वेग विद्यामान रहता है। जैसे पूर्वालोचित 'ऐनः'। वेरण्यं मे 'ए' भी है। यहाँ भी छटक जाने का वेग है, परन्तु 'वरेणीयम्' में वह विषमवृत्त निवारित हो गया। 'ओ' स्वर नेमि को सम्यक् छन्द में विवृत करता है। जैसे गायत्री प्रभृति जप में पादसमूह को 'सुषम' किये रहना। 'ऐ' स्वर अरसमूह को धूः—अक्ष एवं नाभि के सौष्ठव तथा सामर्थ्य से युक्त रखता है। इसके अभाव में कोई जीवकोष स्व छन्द में समग्रभाव से उन्मेष विकास से वंचित रह जाता है। अतः यह है प्रबोधनी। अन्त में नाभि अथवा मूल-केन्द्र (रसभृत् —आनन्दभृत्) मे प्राणप्राचुर्य और छन्दस्वभाव को सम्यक् मर्यादा में रखता तथा प्राप्त करता है 'औ' स्वर। अतः यह अवबोधनी है।

कौन सी वस्तु (अथवा भाव) अपनी नेमि को खोज रहा है? यह तथ्य प्रदर्शित कर देता है 'ए' स्वर। नेमि और अर को नाभि में निष्ठित करता है यह 'ऐ'। इन तीनों को ही अखण्ड समग्र में ग्रथित अन्वित कर देता है 'औ'। "सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्"। "औ" स्वर द्विवचन का सूचक है। वास्तव में यह ब्रह्म के अभिन्न मूल-तत्व का और शिव-शक्ति सामरस्यादि का निर्देश देता है।

व्याकरण विधि के अनुसार 'ङे०, ङसि' इत्यादि में ये स्वर समूह कहाँ और किस विधि से विहित हुये हैं, उसका गहन प्रणिधान करो। सन्धिप्रकरण को भी मूलतः तथा मुख्यतः प्राणप्रयत्न परिचय सूत्र में ही जानना तथा समझना होगा। Phonetics को स्पन्दविज्ञान के रूप में और पुनः प्राणब्रह्म विज्ञान के आधार में न समझ सकने पर तत्वतः तथा समग्रतः कुछ भी समझ सकना संभव नहीं है। प्राण पाद में इसकी सविशेष विवेचना होगी।

सामान्यतः 'ए' स्वर विशेष के समस्त को, सब कुछ को, अपने तन्त्र में प्रदर्शित करना चाहता है। 'ओ' उसके यन्त्र (लेख, रूप, आकृति) को और 'ऐ' उसके मन्त्र को (इसी कारण 'ऐं' वाग्भव तथा गुरुबीज है) प्रदर्शित करने को उद्यत रहता है। 'औ' ब्रह्माक्षर की विन्दु-नाद-कला, तन्त्र-मंत्र-यंत्र की अभिन्नमूल संस्था को दिखलाता और उपलब्ध करा देता है। 'तत्वमस्यादि' महावाक्य के श्रवण में 'ए', मनन में 'ओ', निदिध्यासन में 'ऐ' और साक्षात्कार में 'औ' का सविशेष उपयोग है।

जैसे ओंकार जप में इन साधन चतुष्ठय को साधो । ओंकार में पहले इस स्वर चतुष्ठय को प्राप्त किया जा सकता है ? साधारण विश्लेषण द्वारा तो अ उ म प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु जपसाधन के व्याहरण तथा अनुध्यान में पूर्वलेख (स्वर तथा सुर में, छन्द तथा भाव में) स्फुरित होते रहना आवश्यक है । यह स्फुरित होने पर ऐसी अभिज्ञता होगी कि केवल अ और उ के योग से ओ का गठन नहीं होता, उसमें 'इ' का भी अध्याहार हो रहा है । अन्य स्वर रसायन भी हो रहे हैं । वास्तव में संगीत की मूर्च्छना के समान ओंकार प्रभृति के व्याहरण में अन्तर्गूढ़ सम्वादी स्वरों को प्रकट कर लेना ही मुख्य और सामर्थ्य विधायक कर्म है । 'व्याहरण' (वि + आहरण) का वास्तविक अर्थ तथा उद्देश्य भी यही है । ओंकार में मात्र 'ओ' कार ही स्थूल ग्रामीण (वैखरी) रूप से उच्चारित हो रहा है । उसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर आदि ग्राम में (सुपरसानिक) ले जाये बिना मध्यमा-पश्यन्ति-परा के प्रान्तर में उपनीत हो सकना संभव नहीं है । वह यथार्थ रूप से समर्थ नहीं हो सकेगा । अतः अन्तर्गूढ़ (Implicit), संवादी (Congruent) की सहायक जागृति (पूर्वोक्त उद्बोधनादिरूपेण) आवश्यक है ।

इसे कला की कलायमान (Producing) आकृति कहा गया है । 'ओ' इसी का रूपान्तर है । 'ए' विशेषतः तल को प्राप्त करना चाहता है और 'ओ' विशेषतः Crest को प्राप्त करने के लिए उद्यत है । यहाँ 'ऐ' तथा औ का प्रसंग विवेचित किया जा रहा है ।

मान लो कि आदि तथा अन्त में उदय-विलय रूप प्रणव को युक्त करते हुये छः पादों में गायत्री जप चल रहा है । षट् पादों में जो ६ सुषम उर्मि आकृतियाँ हैं, उन्हें बारम्बार वर्णित किया जा चुका है । अतः पूर्वलक्षण के अनुसार प्रत्येक उर्मि में 'ए तथा ओ' स्वरवृत्तिद्वय का अपने-अपने व्यापार में सहयोग आवश्यक सा हो जाता है । प्रत्येक उर्मि में 'ए' सानुशून्यकोटि के स्पर्श को देगा और 'ओ' प्रदान करेगा 'चूड़ाघूर्णकोटि' को । इन वृत्तिद्वय का साहित्य (कम्पोजीशन) सुषम एवं साधिष्ठ अनुपात में रहना चाहिये । यदि समग्र गायत्री जप को प्रयास तथा प्रपत्ति रूपी 'अर्द्धद्वय' के रूप में देखें (अर्थात् परार्ध एवं प्रथमार्द्ध रूप में) तब प्रथमार्द्ध में 'ऐं' और परार्ध में 'औ' विशेषतः वृतिमान है । प्रथम सब कुछ को स्व छन्द में ऋताध्वनीन करने का स्वर है (इसीलिये 'ऐं' में चन्द्रबिन्दुयुक्त गुरुबीज है) । द्वितीय है सब कुछ को आत्मनीन करने का स्वर । पुस्तक के पूर्व-पूर्व खण्डों में 'ह्रीं' एवं ह्रौंसः' बीजों की वर्णना का पुनः चिन्तन करो ।

चार सार्वभूमिक मूल प्रश्नों का उत्तर इन अन्तिम चार स्वरों में प्राप्त हो जाता है । प्रथम (ए) किसी तल में (Plane अथवा Level में) फलायमान होगा । द्वितीय (ओ) कहता है "अच्छा ! एक लक्ष्य (Target अथवा Crest)

निश्चित करके तुम्हें देता हूँ। कोई एक value अथवा End देता हूँ।" (गुरु दीक्षा काल में यही कर्म करते हैं)। अन्त में (औ) कहता है "वह तो हुआ, (काष्ठा मिली) परन्तु कहाँ है तुम्हारा अवसान, पूर्णता, प्रतिष्ठा, ध्रुव धाम। क्या वह प्राप्त हुआ ?" यही है प्रबोध के उपरान्त अवबोध।

इन चारों स्वरों के उच्चारण में भी सम्बोधनी, उद्बोधनी, प्रबोधनी तथा अवबोधनी रूपी वृत्ति चतुष्ठयी का ध्यान करो। कोई किसी को पुकार रहा है, उसे उठा रहा है, जाग्रत कर रहा है, प्राप्त कर रहा है और 'हो' रहा है।

२४. अनुस्वारेण विन्दुप्रतियोगित्वेन कलात्वम् ॥

(पूर्वोक्त अकारादि उकारान्त) स्वर समूह यदि अनुस्वार (चन्द्रविन्दु तथा सोममात्रा) से संयुक्त होते हैं, तब उनकी विन्दु प्रतियोगी 'कलात्व' संज्ञा हो जाती है ॥

प्रतियोगित्वेन बोद्धव्या नाभावप्रतियोगिता।
सादृश्येन वृत्तिता याऽतथात्वे यत्तथाविधम् ॥ ४४ ॥
आंशिकत्वं कलात्वेन याऽसाकल्येन वृत्तिता।
नादविन्दुमध्यगं यत् सच्चिदानन्दविग्रहम्।
तदक्षरं कलात्वेन भातीन्दुकलया समम् ॥ ४५ ॥
कामेन्द्वर्कवन्हिभेदैश्चतस्त्रः सन्ति वै कलाः।
वीचेश्चक्रस्य धाराया विन्दुत्वापत्तिरीह्यते ॥ ४६ ॥

प्रतियोगिता शब्द के द्वारा प्रायशः किसी अभाव की प्रतियोगिता का संदेश प्राप्त होता है। जैसे 'भूतल पर घट नहीं है' यहाँ घट के अभाव की प्रतियोगिता है घर में और इस अभाव का अनुयोगी है भूतल। यहाँ सूत्र में विन्दुप्रतियोगित्व शब्द द्वारा क्या विन्दु के अभाव का प्रसंग उठ रहा है ? नहीं। तब ? 'सादृश्येन वृत्तिता' अर्थात् विन्दु सदृश रह कर वृत्तिमान होना ही इसका तात्पर्य है। सदृश अर्थात् समान। समान अर्थात् 'विन्दु ही है' अथवा जो विन्दु के अधिकार में है, जो विन्दु के अनुगृहीत भाव मे हैं, विन्दु संगति समन्वय मे है ! इसे ही दूसरी तरह से कहा जा सकता है 'अतथात्वे तथात्वं यत्'। विन्दु जैसा है, उस प्रकार से जो नहीं है—वह है अतथा। इस अतथा में 'तथा' (विन्दु रूप-विन्दु सदृश) भाव आने पर ही विन्दुप्रतियोगित्व हुआ। इसे वर्त्तमान सूत्र से ग्रहण करना होगा। जैसे 'अ' एक स्वर है। ऐसे तो यह विन्दु के समान नहीं है (अतथा), किन्तु 'अं' रूप में वह 'तथा' हो गया ! अतथा नहीं रहा ! सबकुछ जबतक वरुण अधिकार में हैं, तबतक सब का 'वेविषाण' इत्यादि रूप है। सोम अधिकार में आने पर उसमें सूक्ष्मता तथा घनीभाव आ जाता है। अनुस्वार, चन्द्रविन्दु तथा अनुनासिक वर्गों में यह सोमाधिकरण है। अतः बिन्दुप्रतियोगित्व आ जाता है।

बहिर्विश्व में शक्तिविकिरण (रेडियेशन एज वेव्स, फार इन्सटेन्स) शक्तिकण (Quantum) आकृति में क्यों आता है ? प्राणपदार्थ और अन्तःकरण पदार्थ में केन्द्रीण रूप क्यों है, इन सबको इस विन्दु प्रतियोगिता सूत्र में और नाद प्रतियोगिता सूत्र में समझ लो ।

यहाँ 'कला' का तात्पर्यार्थ आत्मकलनी शक्ति नहीं है । इसीलिये अंश-आंशिक विशेषणों को कारिका में अंकित किया गया । अंश का तात्पर्य केवल Part अथवा Partial ही नहीं है । इसके लिए 'Phase' शब्द अधिक उपयुक्त है । यदि यहाँ स्वरों को शक्ति सामग्री का एक-एक Phase कहें, उस स्थिति में इस सूत्र तथा अगले सूत्र द्वारा यह संधान मिल जाता है कि अकारादि स्वर किस अवस्थान में स्पन्दोर्मि (Phase Behaving as wave) हैं और किस अवस्थान में स्पन्दकण (Phase behaving as quantum, Corpuscle हैं) हैं । Phase तथा Partial में जो पृथकत्व है, उसे याद रक्खो । प्रथम में (Phase) जो समग्र है, वह खण्डशः न होने पर भी, खण्डशः व्यापारवान् होता है । जैसे जल अथवा वायु की तरंगे । यहाँ समग्रत्व के आधार पर ही खण्डवृत्ति तथा खण्डव्यापार घटित हो रहा है । फिर भी आधार तो नेपथ्य में नहीं जाता । द्वितीय में (Partal में) यद्यपि समग्र के साथ संयोग है, तथापि अंश को अथवा खण्ड को अलग करके देखा जा रहा है । गान में जैसे राग के अन्तर्गत् एक सम्पूर्ण तान और उसके एक किंवा कतिपय स्वर (टुकड़े) !

जो कलात्व विन्दु प्रतियोगितावच्छिन्न है, उसमें कला के (जैसे अं-आं इत्यादि के) अनेक विशिष्ट धर्म परिलक्षित होते हैं । जैसे :—

(क) कला के वितान (नादरूप) सूक्ष्म सूक्ष्मतर होते हुए केन्द्रमुखीन (Lines of force and action Convergent) होते हैं ।

(ख) समस्त कलाओं में जो अग्निषोमीय मात्रा विद्यमान है, उस मात्रा का घनीभाव घटित होता है । स्वर में अनुनासिक रूप से विन्दु प्रतियोगिता रहने पर उक्त घनीभाव में सोमाधिकरण की मुख्यता रहती है । अन्यथा अग्नि (तेज) मुख्यता भी हो सकती है । 'अ' अथवा 'इ' स्वर की अनुनासिक विन्दुमुखीन और उससे व्यतिरिक्त भाव में विन्दुमुखीन रूप से परीक्षा करके इस अग्निषोमीय विभेद को समझने का यत्न करो । यद्यपि दोनों ही विन्दु की ओर जा रहे हैं, तथापि एक में घनीभाव से सोमविन्दु है । दूसरे में घनीभाव से है सौर विन्दु ! एक में रोचिष् का घनरूप है, दूसरे में तेजः अथवा 'अर्चि' की घनरूपता है । ललाटादि स्थल के ज्योति दर्शन में भी इस द्विविध घनीभाव और विन्दुमुखीनता को समझो !

जड़-प्राण-मन रूपी समस्त सत्ता में ही शक्ति की घन एवं कण आकृति (Massive, Corpuscular) में यह अग्निषोमीय द्वैतद्वन्द्व (Duality and polarity) की सत्ता रहती है । इन की समता ही 'स्वस्ति' है ।

यद्यपि जड़शक्ति के केन्द्रीय विश्लेषण में जो 'अग्निरेत' है, वह कालाग्नि-रूपेण बहिर्गत हो रहा है, तथापि जो 'सोमनाभ' है वह तो वियुक्त एवं विधुर है ! अथच, इसके बिना प्रकृति की ऋद्धि सृष्टि ही नहीं होती, शान्ति-पुष्टि भी नहीं हो सकती। व्यवहित, प्रतिहत सोमस्पन्द समूह के सौम्य समर्थ 'रणन' को प्राप्त करना ही होगा। प्राण तथा मानस के क्षेत्र में भी इसी समस्या का और उसके समाधान का चिन्तन करो। स्त्यान भाव की विद्यमानता में प्राण तथा मन के स्फुरण और उदवर्तन में अग्निमात्रा का घनीभाव आवश्यक है। 'राजसविक्षेय-सहभुव:' प्रभृति की विद्यमानता में सोम की धनीभूतता आवश्यक है।

यह भी स्मरण रखना होगा कि किसी कला के (जैसे स्वर के) केन्द्रीण, नाभिनिष्ठ, संहृत् भाव की प्राप्ति के लिए विन्दुप्रतियोगित्व लक्षण का रहना आवश्यक है। One-Pointedness. 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' से प्रारम्भ करके किसी भी प्रकार के अणु किंवा विराट मेटैरियल सिस्टम अथवा Power Ensemble के उद्भव के इन लक्षणों का सद्भाव होना आवश्यक है।

(ग) तदनन्तर कला की इस प्रकार की विन्दु प्रतियोगिता का परीक्षण वस्तु, छन्द, शक्ति, आकृति में करते हुये परिणाम देखना होगा। जैसे इसे गायत्री में देखो। 'तत्सवितुर्वरेण्यं' वस्तु को विशेषत: परम-ज्योतिरस विन्दु में ले जाता है। 'धीमहि' भर्गरूपा शक्ति को, उदितनाद के साथ व्याहृतित्रय आकृति को और 'धियोयोन:' इत्यादि विलीननाद छन्द: को भी उस विन्दु में ले जाता है। इनमें से व्याहृतित्रय विशेषतः गायत्री व्याहरण के यथार्थ रूप का प्रदर्शन करते हैं। अर्थात् व्याहृतित्रय यह दिखलाते हैं कि यह जो नाद उदित हुआ ('ऐ' से), वह उसी प्रकार से 'ऐ' में ही वापस लौट जायेगा। यह लौट जायेगा तुम्हें ज्योतिरस का तथा उसे ध्यान में प्राप्त करने वाली शक्ति का सन्धान देकर।

कला के आंशिकत्व का अर्थ है कि समग्र के साथ वस्तु इत्यादि का संयोग रहने पर भी वह सकल नहीं है, असाकल्य कलावृत्तिक है, यह मानते हुए व्यवहार-वान् ओर व्यापारवान होना। A phase like behaviour and appreciation. अत: कारिका में कहा गया है कि सच्चिदानन्द ब्रह्मवस्तु स्वयं का नाद एवं विन्दु रूपी मूलभावद्वय में प्रारम्भ में कलन करते हुए उसमें 'मध्यग' हो जाती है और इस प्रकार से नाद-विन्दु रूपी दोनों परिसीमाओं में अंश-क्रम प्रभृति का भी कलन करती है। Perfect continum तथा परफेक्ट प्वाईन्ट में Phase, aspect, partial, series, grade आदि। अर्धमात्रा आदि प्रसंग में इसे ही ऋध्यमानता कहा गया है। फलत: आद्या, नित्या, पूर्णा अक्षर कला अब इन्दुकला के समान क्षरभावापन्न होकर अंश-क्रम आदि विशेषण युक्त रूप से भासित होने लगती। आद्य कलन

में जो मिथुन (धारा तथा विन्दु) हैं, वे दोनों ही नित्य तथा अक्षर हैं। किन्तु इस दोनों अक्षर परिसीमा में कला का आगमन होने पर उस मिथुन में भी क्षरादिरूप उपलब्ध होने लगता है। जैसे गणित के शून्य और अनन्त के मध्य कोई क्रम !

इस प्रसंग में (१) कला-नाद-विन्दु, (२) नाद-कला विन्दु और (३) नाद-विन्दु-कला क्रमानुसार कला तत्व का रूपत्रय में परिचय प्राप्त होता है। प्रथम है आद्याकला, द्वितीय है मध्यमा और तृतीय को अन्त्या कला कहा जाता है। प्रथम और तृतीय—अव्यक्ता। द्वितीय—व्यक्ता (अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि)। इन तीनों से अतीता हैं परमाव्यक्ता (ब्रह्मरूप महामाया)। प्रथम है निखिल मंत्र का मूल, द्वितीय है सर्वतन्त्र (विशेष अर्थ में) का मूल। वृक्ष प्रारम्भ में बीज है अन्त में भी बीज है (फल में)। मध्य में वह है वृक्षाकृति का उद्वर्त्तन !

कारिका के अंतिम श्लोक में इस माध्यमी कला को चतुर्धा विवेचित किया गया है, यथा—काम, इन्दु, अर्क तथा वन्हि कला। समस्त सृष्टि के विन्दु केन्द्र में जो कला है, वह है कामकला (Basic Desire, to be-and-become)। वह नाभि (evolving and organising Nuclear Pattern) होने पर है अर्ककला। जब वह अपना प्रसार करने के लिये अर रूप होती है (evolving and designing power Pattern) तब वह है वन्हिकला। वही जब स्व छन्द में-सौम्यमान में नेमिरूपा हो जाती है, तब वह है इन्दुकला। इस सब से विशेष रूप से आंशिकत्वादि का आभास' प्राप्त होता है।

यहाँ वीचि, चक्र, धारा प्रभृति आकृति आविर्भूत हो रहीं हैं, किन्तु प्रत्येक में विन्दु प्रतियोगिता और नादप्रतियोगिता के भाव को युगपत्, एकसाथ, लक्ष्य करो। जैसे धारा में एक Now Line (अभी) और Here line (यहीं पर) की धारा है। विन्दुप्रतियोगिता में दोनों धाराएँ मिलती हैं (Now here point)। इस विन्दु में ही निखिल व्यावहारिक अनुभव की प्रतिष्ठा हो जाती है। अतीत-अनागत, दूर-अन्तिम, सब कुछ 'यह' में आकर कहते हैं 'यह देखो हूँ, यह देखो नहीं हूँ'। विन्दु काष्ठा में पूर्ण तथा शून्य !

२५. विसर्जनीयेन नादप्रतियोगित्वेन कलात्वम् ॥

विसर्ग द्वारा नादप्रतियोगी कलात्व होता है ॥

वैपरीत्यं विसर्गेण नादसादृश्यभावनात् ।
संङ्कोचयत्यनुस्वारो विसर्गेण वितायते ॥ ४७ ॥
विन्दुवर्गान्वयः पूर्वश्चायं नादकुलान्वयः ।
अवीचेर्वीचिरूपत्वं केन्द्रीणश्चक्रता यतः ॥ ४८ ॥

विन्दु तथा नाद तत्व को सम्यकरूपेण रखते हुये, विसर्जनीय अथवा विसर्ग को हृदयंगम करना होगा। वि+सृज् से क्या स्पष्ट होता है? आविरूपेण बहिः

(unfoldingly), विविध सृष्टि जिससे होती है, वह है विसर्ग । (देवता प्रतिमा के विसर्जन में समाहृत, आहूत घनीभूत द्यौः शक्ति पुनः द्यौः स्तत्व में प्रत्यावृत हो जाती है । यही है विसर्जन) । विन्दु = परफेक्ट पोटैंसी । नाद = Perfect Patancy । इस संक्षेप समीकरण को याद रखना होगा । अनुस्वार ही सब कुछ का संकोचन करते हुये केन्द्रीणता में ले आता है । विसर्ग के द्वारा उनका प्रसार, वितान (Exfolding, Expansion) घटित होता है इसी कारण दोनों में वृत्तिगत वैपरीत्य है ।

अतः अनुस्वार को 'विन्दुवर्गान्वय' में और विसर्ग को नादकुलान्वय में समझो । जो विन्दुवर्ग में अन्वय रखता है और जो नादकूल में अन्वय रखता है, इन दोनो का यही तात्पर्यार्थ है । वर्ग तथा कुल शब्द सांकेतिक हैं । प्रथम, किसी शब्द को वृ आकृति में ले जाता है । (ग) । द्वितीय, 'वृ' मान में जो व्यक्त है (क), उसे उसके वेधमान में (उ) Latency Factor में जो लय की ओर ले जाता है । अर्थात् जो Latency को patancy के रूप में आविष्कृत करे । बीज में जब अंकुरादि रूप का उन्मेष होता है, तब उसे कूल आकृति अधिगत होती है । जब पुनः बीज में फलाकृति आ जाती है, तब वह है 'वृ' अथवा वर्ग । (वृ + ज्) इसका भाव वर्ग है ।

बहिः क्षेत्र में किसी भी शक्ति केन्द्र (सोर्स) से शब्दताप आदि रूप 'ए' शक्तिविकिरण होने पर 'वर्ग वैपरीत्य' (Inverse Square Law) किस प्रकार है इसे इस प्रसंग द्वारा लक्ष्य करो । 'व' तथा 'क; वर्णों में, 'ग' तथा 'ल' में, 'ऋ' तथा 'उ' स्वर में ध्यान देकर रहस्य आयत्त करने की चेष्टा करो । पहले 'कूल' शब्द को ब्रह्मवाचक भी कहा जा चुका है । यह किस कारण कहा गया है, इसका भी चिंतन करो । क = सुख आनन्द, उ = अपना वेधमान अथवा गुहाहितभाव, ल = उस भाव का लय । अर्थात् 'भूमैव सुखम्' रूप से लय । नाद प्रतियोगी जो कला है वह अवीचि को वीचि आकार में ग्रहण करती है और नाभि को ग्रहण करती है अर-नेमि प्रभृति रूप में । सूत्रों में मन्त्रादि में इनके विनियोग को सक्षेपतः विवेचित किया जायेगा । अब है नादविन्दुकला का समाहार सूत्र :—

२६. इन्दुविन्दुना नादविन्दुप्रतियोगित्वेन कलात्वम् ॥

(चन्द्रविन्दु के द्वारा नादविन्दु का प्रतियोगी (पूर्वव्याख्यात) जो कलात्व है, वह लक्षित होता है । इसे समझना होगा ॥

इन्दुविन्दौ स्थिते मौलावक्षरस्य द्विधान्वयः ।
सिन्धुत्वं नादभावेन विन्दुत्वं विन्दुभावनात् ॥४९॥
युग्मशक्तियौगपद्याज्जायते यो महामनुः ।
ओङ्कारः स च विज्ञेयः कृत्स्नबीजप्रदः पिता ॥५०॥

अक्षर के मौलि (शीर्ष) पर चन्द्रविन्दु रहने से उस अक्षर कला का द्विविध अन्वय होता है। प्रथम है नादप्रतियोगी अन्वय, द्वितीय है विन्दु प्रतियोगी अन्वय। प्रथम में हैं कला का सिन्धुत्व। द्वितीय में है कला का विन्दुत्व। अर्थात् कला ही (पावरफेज) एक साथ ही सिन्धु-विन्दु (महान्-अणु) भावापन्न हो जाती है। Expansive and Continum phase और Intensive and point phase एकत्र समन्वित हो जाते हैं। इस प्रकार से युग्मशक्ति (नादरूपा और विन्दुरूपा शक्ति) में योगपद्य (Co-existence) हो जाने पर जो महामनू अविर्भूत होता है, वह है ओंकार। यही है बीजप्रद पिता।

यह तो हुआ कारिका का 'सीधा सादा' अर्थ। सूक्ष्म अर्थ भावना के लिये अर्धमात्रासूत्र तथा पूर्वखण्डोक्त अर्धमात्राष्टकम् का मनन करो। इन्दु-विन्दु को मौलि (शीर्ष) में उपलब्ध किये बिना कला कभी भी परा एवं परमा अर्धमात्रा का संश्रय प्राप्त नहीं कर सकती। ब्रह्मवाचक ओंकार भी स्वयं इन्दु विन्दु को मौलि में धारण करते हुये अर्धमात्रा की परा एवं परमा रूपी वृत्तिद्वय का प्रदर्शन कर रहे हैं और इसीलिये वे निखिल सृष्टि के 'बीजप्रदः पिता' हैं। भगवान् कहते हैं "अहं बीजप्रदः पिता' यह अहं कौन सी वस्तु है? नाद-कला-विन्दु को जो अभिव्यक्ति प्रदान करता है, फिर भी स्वयं इनसे अतीत (Transcendent) रहता है। ('अहं' का वर्ण-रसायन भी यही कह रहा है)। वह अहं पुनश्च क्या है? वह है ॐ। 'ओम' में पूर्णता नहीं है। शीर्ष पर चन्द्रविन्दु धारण (ॐ) आवश्यक है।

नादः पुमान् कला स्त्री च सर्गस्तयोश्च मैथुनात्।
बीजं विन्दुर्यतो माता जायन्ते च पिता सुतः ॥५१॥

पहले जिस पिता का प्रसंग वर्णित हुआ है, उसमें माता एवं अपत्य का भी प्रसंग उदाहृत है। अतः इस श्लोक में यह कहा जा रहा है कि सर्ग अथवा सृष्टि (विसर्ग) नादरूपी पुरुष तथा कलारूपिणी स्त्री के मैथुन द्वारा संभावित होती है। मैथुन का जो विन्दु है, वही समस्त सृष्टि (सर्ग) का बीज है। यहाँ शंका उत्थित होती है कि तब विन्दुबीज अर्थात् परब्रह्म का विन्दुभाव तो परमवीय, पर हो गया। क्या वह सर्वसृष्टि के मूल में, आदि में, और उपक्रम में नहीं है। यदि ऐसा है, तब तो विन्दुस्वरूप की अन्यथापत्ति हो जाती है। अतएव कहा गया है कि ब्रह्म की सिसृक्षा है कामरूप (will-to-be-and-become) विन्दु, अन्य कुछ से जात, उत्पन्न नहीं है। उसका अन्य कोई बीज किंवा कारण ही नहीं है। व्यवहार में ऐसा देखते हैं कि बीज बाद में उत्पन्न होती है, जैसे वृक्ष के फूल आदि के अनन्तर बीज। अतः पिता-माता-सन्तति ये तीनों बीजरूपेण से विन्दु में ही विद्यमान है। श्रुति तथा आगम में एक तत्व को जन्य-जनक रूप भावद्वय से व्यक्त किया गया है। अदिति से दक्ष, दक्ष से अदिति। नाद से विन्दु, विन्दु से नाद आदि। अमात्र अथवा मात्रातीत परम

तत्व ही (as logical precondition or premise) अर्धमात्रा हो जाता है। वे अर्धमात्र होते हैं एक, पूर्ण, शून्य रूपी मात्रात्रयी में युक्त होकर। ओंकारस्य अ — एकमात्रा, उ — पूर्णमात्रा, म = शून्यमात्रा। अतः ओंकार ही ब्रह्मवाक् है। ओंकारादि समस्त बीज नादविन्दु से आविर्भूत होते हैं एकमात्रारूप में। वह एक स्वयं को पूर्ण करता है 'उ' कारादि कला द्वारा अथवा केवल रूप द्वारा। अन्त में वह स्वयं को विन्दुलीनता में शून्य भी कर देता है।

इस बार स्वर के उपसंहार सूत्रों की विवेचना हो रही है—

२७. स्वरिति स्वरा सर्वसवितृत्वात् ।।

स्वर निखिल का सविता होने के कारण 'स्वर' रूपी व्यपदेश है ।।

स्वः सुवरिति नैरुक्तात् सवितारः स्वरा इमे ।
स्वरो व्यञ्जनवर्गस्य व्यपेक्षाविरहाश्रयः ।।५२।।

स्वर तथा सुवर इन दोनों के नैरुक्त अथवा निरुक्तिघटित एवं व्यावहारिक अभेद का स्मरण रखते हुये 'स्वर' की सवितारूप भावना करना होगा। 'स्वः' तथा 'सुरः' की आकृति का पहले परीक्षण करो। 'स्व' मे 'व' केवल अव्यक्त, पोटैंशियल हैं, सुरः में वह 'उ-व' (व्यक्ताव्यक्त) Polar, मिथुनाकृति ग्रहण कर लेता है। इसके बिना सवितृत्व (Power as Creative clan) संभावित नहीं होता। 'स्वर' में अन्त्य 'अ' स्वर में सविता का अक्षर सामान्य 'आधार' विस्तार प्राप्त कर रहा है। जैसे संगीत में स्थायी सुर को बाँध दिया गया। 'स्वर्' तथा 'स्वर' का उच्चारण करके देखो।

वाग्ब्रह्म का सवितृत्व स्वर में अभिव्यक्त है, जैसे गायन में सा, ऋ प्रभृति शुद्ध तथा मिश्र स्वर में। सृष्ट्यादि स्वरोद्भवा अथवा स्वरपूर्विका हैं। सृष्टि के उपक्रम में मधु-कैटभ से भयभीत होकर ब्रह्मा ने जो स्तव किया था, उसमें अ आ ई उ प्रभृति स्वर की साधना को लक्ष्य करो। गान व्यञ्जना के अलाप में इसे करना होगा। स्तव का इस प्रकार से पाठ करना उचित है (साधारण रूप से गेय होने पर यह नहीं होगा)। स्वर को केवल मुख्यतः वैखरी वृत्ति के रूप में समझने से प्रारंभ की स्थिति का अनुभव नहीं होगा। हृदिस्थिता मध्यमावाक् के 'धुर' का समाश्रय लेना ही होगा।

ये सब स्वर व्यञ्जनवर्ग के व्यपेक्षाविरहाश्रय ही हैं। 'व्यपेक्षा' अर्थात् सविशेष अपेक्षा। प्रत्येक अक्षर में, स्वर में निखिल क्षराक्षर सामान्यरूपेण निपुटित (enfolded) रहते हैं। अतएव सामान्य भाव नहीं है। कोई पदार्थ ही नहीं है। तब भी विशेष-विशेष अभिव्यक्ति के लिये विशेष-विशेष अभिव्यंजक की अपेक्षा रहती ही है। क्या रस एवं पारद में स्वर्ण नहीं है ? है, वह आणवसंख्या 'मान' (Atomic Number) 'संवृत' करते हुये स्थित है। उसे विकृत करो। ठीक-ठीक संख्यामान

प्राप्त कर लो। यही है मन्त्रमान। अंगार को हीरक करने में आकृति और लेखमान को परिवर्त्तित करना होगा, अर्थात् यंत्रमान और उपयुक्त तन्त्रमानता तो साथ में रहेगी ही। तन्त्र और क्रियामान का साधारण मान यदि है छन्दः तब :—

२८. छन्द सहगात्वेन ॥

छन्दः अथवा क्रियामान की सहग स्थिति में स्वर है सविता ॥

अन्योपेक्षा तु तत्र स्याते सामर्थ्यं छन्दसा सह।
छन्दसोऽपि चतुष्पात्त्वं मात्रातानलयस्वरैः ॥५३॥

स्व सूत्र में स्वर को व्यञ्जन के साथ 'व्यपेक्षाविरहाश्रय' रूप से कहा गया है। यहाँ प्रश्न उत्थित होता कि क्या स्वयं के लिये, अपने लिये, स्वर की कोई अपेक्षा नहीं है, अन्यापेक्षा ही है? यह अवश्य है। अधिष्ठान, आधार, आश्रय आदि की अपेक्षा को सामान्य अपेक्षा कहते हैं। इसके अतिरिक्त विशेष अपेक्षा भी है। इस विशेषापेक्षा को मान एवं मेयरूप दृष्टिद्वय से किया जाता है। किसी कारण से स्वर अपने 'मान' (Measure) को प्राप्त कर रहा है, अर्थात् मेय हो रहा है। जो नित्य और मान से अतीत है, वह 'घटना रूप' और मानयोग्य रूपेण प्रकाशित हो रहा है। अन्य घटनाओं में (मेजरेबुल इवेन्टस्) वही 'मान' भी हो जा रहा है। वाग्ब्रह्म की आदि अभिव्यक्ति है 'स्वर'। अभिव्यक्त स्वर निखिल व्यञ्जन (Manifest) के सम्बन्ध में है मानद।

मानद होने के लिये सामर्थ्य होना आवश्यक है। छन्दः के सहकृत होने पर यह मानद सामर्थ्य प्राप्त होता है। छन्दः=तन्त्र अथवा क्रियामान यद्यपि स्वर के द्वारा ही निखिल सृष्टि संभव होती है, तथापि स्वर में योग्य छन्दः अथवा क्रियामान का होना आवश्यक है। क्रियामान=इफीशियेन्सी फैक्टर। पहले जो समर्थ शब्दः वर्णित हो चुका है, उसका सामर्थ्य निरूपित होता है छन्दः द्वारा। अतः 'छन्दसा' सृष्टि हुई है। जपव्याहरण में 'स्वर' का छन्दसा प्रयोग आवश्यक है।

'छन्दसा' न होने पर कोई भी शक्तिपिण्ड (energy mass or material) सुविन्यस्त और सुसज्जित नहीं होता, अतः समर्थ भी नहीं हो पाता। जप व्याहरण में वाक्, प्राण तथा तथा चित्त को स्पन्द विन्यास उपयोग में लाना आवश्यक है। इन तीनों के अन्योन्यभावित्व (कोइफीशियेन्सी) को स्मरण रखना होगा। अतः संगीत का दृष्टान्त कहा गया था।

छन्दः को चतुष्पात् रूप समझना तथा प्राप्त करना होगा। चतुष्पात् अर्थात् मात्रा-तान-लय-स्वर! ये सब संगीत के अंग होने पर भी सार्वभूमिक हैं, सर्वभूमि में प्रयोज्य हैं। जैसे गायत्री जप में। यहां स्वर=नाद। यह भी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति, परारूपेण चातुर्भूमिक है। लय=पंचशून्य में स्पर्शलय और विन्दु में संस्पर्शलय। तान=भूर्भुवः स्व रूपी चतुःपाद में अक्षरकला का वितान (प्रसार)।

मात्रा = उदय-विलय रूपी प्रणवद्वय के छ पाद (अ उ म, अ उ म = छ) में चार मात्रा (अथवा अन्य निर्दिष्ट मात्रा)। काली-तारा-गोविन्द-राम प्रभृति महानामों में से इस चतुष्पात् छन्द को प्राप्त करना होगा। चतुष्पाद छंद की सहकृत स्थिति के अभाव में किसी का भी स्व + भा + व + न योग घटित नहीं होता। जो भावयिता (Producing फैक्टर) है, वह भी छन्दः की सहायता के बिना अभावयुक्त हो जाता है। इसी कारण मन्त्रों का यथार्थ उद्धार तथा चैतन्य नहीं होता। इसे श्लोक-बद्ध रूप से कहा जा रहा है :—

स्वरादुदेति हि स्वत्वं भाति तानाद् विशेषतः।

मात्राया विन्दते मानं लयाद् भवति निष्ठितम् ॥५४॥

जो स्व है, वह स्वर में उदित होता है। तान में विशेषतः प्रतिभात होता है। मात्रा में अपनी मान-मर्यादा और सामर्थ्य प्राप्त करता है। लय में निष्ठित भी हो जाता है (इस श्लोक में स्व + भा + व + न का यथाक्रमेण आहरण करो। उन्हें समझ लो)।

पहले कहा जा चुका है कि आनन्द निखिल वस्तु का हृत् है। अतः छन्दः है आनन्द का आकलन। आनन्द को प्राण के सन्दर्भ में भी विचार कर समझो; क्यों कि पहले भी छन्दः को प्राण का व्याकरण कहा जा चुका है। अस्तिभाति अपने हृत् अथवा रस स्वरूप के अभिमुखीन होकर आनन्द जागृति किंवा आनन्द संवित् हो जाते हैं। आनन्द का यह स्व-संवेदन ही है प्राण। प्राणरूप से आनन्द कहता है 'यह मैंही अस्ति-भातिता में हूँ। यह देखो मैं युगल होता हूँ, लीलारसिक होता हूँ। युगल-यूथादिरूपेण मेरा जो आत्म-आकलन है, वही हो छन्दः।''

जैसे वीणा में एक तार पहनाने पर है एकतारा। अब उसमें दो तीन, कई तार योजित किया। परदा, घाट प्रभृति को बाँधा। इसमें अब स्वर अथवा सुरवस्तु ही स्वर, तान, मान, लय रूपी चतुरंग में अपना बहुधा — विचित्र आकलन कर रही है। जपादि साधन में भी अपने यंत्र को इस वीणा के समान सुरसंवित् तथा आला-पन मूर्च्छना में 'बांध-साध' लेने का यत्न करना ही होगा। आनन्द किंवा रसवस्तु ही है 'सुर'। प्राणरूपेण सुर ही स्वर हो जाता है और छन्द में स्वर हो जाता है तान-मान-लय। अतः अगले सूत्र में आनन्द अपनी अक्षर मात्रा में प्रदर्शित हो रहा है।

२९. आनन्दाक्षरमात्राभिः ॥

आनन्द की अक्षरमात्रा के अनुग्रह से स्वर (छन्दः सहकृत सविता हो जाता है।

सप्तस्वरादयो वस्तु मात्रा दधति कालिकम्।

तानास्तु दैशिकं व्याप्तेर्लयोश्छन्दः समञ्जसम् ॥५५॥

आनन्द इति शब्देन ततिर्यतिर्द्धृतिः क्रमात् ।
संहृतिश्च भृतं सर्वमानन्दमात्रया खलु ॥५६॥

संगीत में षडजादि सप्तस्वर क्या करते हैं ? मूल स्वरवस्तु नाद को आहित करते (दधति) हैं । मात्रा ? उदित नाद के आकलन और विलीन नाद के संकलन, इन दोनों कालिक क्रमों का और अनुपातादि का सम्बन्ध निरूपित करने वाली है मात्रा ! मात्रा ही order in sequence relation व्यवस्थित करती है । इसके अभाव में संगीत तो क्या, जपादि कोई क्रिया अथवा साधन अपने सामर्थ्यमान में प्रतिष्ठित नहीं हो सकते । (काल को 'लोकक्षयकृत्' रूप से ही उपलब्ध करना उचित नहीं है । काल ही सृष्टि आदि सब कुछ की प्रतिष्ठा भी है । अतः महाकाल महाकाली के नृत्य-मंच के रूप में अपने वक्षस्थल का इंगित करते हैं ।

जिसके द्वारा दैशिक व्याप्ति, वितान अथवा वितति, Order in Co-existense patterns निरूपित होता है, वही है तान । लय क्या करता है ? छन्दः को समञ्जसता में ले आता है । वस्तु, काल, देश (Space से इसका अर्थ स्पस्ट नहीं होता) रूपी पादत्रय छन्दः में असमञ्जस से रहते हैं । ये समञ्जस होते हैं तुरीय-रूपी लयपाद में । लय = Repose in Concordance. यह केवलमात्र अन्त अथवा अवसान नहीं है । यह है विरति । यही है त्रिवेणीसंगम । यहां अवगाहन किये बिना किसी भी धारा का यथार्थ उपशम नहीं हो सकता । सम्पूरण नहीं हो सकता । (सरस्वती = स्फोटस्वर अथवा अव्यक्त नित्यनाद । यह मध्यमा में व्यक्त है । गंगा = इस स्वर की तान । यमुना = मात्रा । यमुना = कालिन्दी, कालनन्दिनी) ।

गायत्री प्रभृति जप में अवम शून्यों स्पर्शलय और चरम शून्यस्थल (विन्दु में) में संस्पर्शलय साधित हुये बिना गायत्री आदि छन्दः असमञ्जस ही रह जाते हैं, और जो असमञ्जस है उसके द्वारा 'नामृतं फलमश्नुते' अमृतफल कैसे प्राप्त होगा ? स्वर अब कुछ को उसकी 'वस्तु' देता है । मात्रा भी छान्दस कालक्रम देती है और तान देता है सुषमवितति (Expanded, exhibited harmony pattern) । लय इन सब को एक अनवद्य पूर्ण परिणतिविरति प्राप्त करा देता है ।

आनन्द (आ + नम् + द + अ) इस शब्द में अक्षर चतुष्टय पूर्वोक्त छान्दस् समन्वय का निर्देश दे रहे हे । आ = आतति Continuance, अस्तिभाति मानो प्रतिज्ञा करती है "सब में व्याप्त होकर रहूंगी" । नम् = यति-विरति अंगीकार भी करना सृष्टि प्रभृति लीला प्रयोजनार्थं । द = तल अथवा frame । नाना यूथच्छन्द में, विचित्र वीथिका में स्वयं को सज्जित करना । अ = उत्तम, किन्तु किन्तु सब कुछ को शान्त समन्वय में लेने की प्रतिश्रुति । जैसे सागर अपने वक्षस्थल पर स्थित लहरीमाला से कहता है "नाचो ! किन्तु तुम्हारा समस्त नृत्य मेरे ही वक्ष पर हो रहा है और उसका विराम भी वहीं है । इसे भूलना नहीं ।"

अतएव आनन्द तो छन्द के दृष्टिकोणानुसार चतुष्पात् है। उसमें आतति, यति-वियति, द्रुति-वियति तथा संहृति का निर्देश रहता है। आतति तथा वितति के भेद का अनुधावन करो। आतति में वितान है ऋजु, as a homogeneous Field. गान में जैसे 'आ' अथवा 'इ' शब्द को समभाव में प्रदर्शित किया जाता है। मार्ग ध्रुपदगान में ऐसे ऋजुवितान की मुख्यता रहती है। वास्तविक कर्म हैं किसी स्वर को ऋजु ध्रुव रूपेण प्रदर्शित करना। यह सत्य है कि किसी वादी स्वर के आधार में सप्तस्वर, श्रुति तथा ग्राम की रागादि आकृति में सावकाशता रहती है।

वितति में 'सुषमवक्र' अथवा बंकिम भी सावकाश है। इस बार homogeneous field होगी a system of harmonic waves. उसका उद्भव होगा कदम्बगोलक प्रभृति आकृति में। अब स्वर स्वयं को नाना सुषम भंगिमा में 'क्रीड़ा रत' कर रहा है। यही है संगीत में तान। जप व्याहरण में नाद के आधार में ऋजुवितान (ध्रुपद के समान) ही मुख्य तथा प्रशस्त कर्म है। उक्त आधार में जो-जो अक्षर आविर्भूत हो रहे हैं, उन्हें गमकादिक्रम से 'खिलाना-खेलना' उचित नहीं है। अर्थात् Tremulous Voice, modulalion of Voice, संगत नहीं रहता। जप व्याहरण में यह भाव (emotion) साधक न होकर बाधक ही है। नाद तथा नाम के शुद्धस्वभाव की जो रक्षा करता है, वह क्षेमद भाव ही वहाँ साधक होगा। संगीत में रागविशेष के शुद्ध आलापन में भी यही नियम है। जहाँ 'कोमल' की आवश्यकता नहीं है, वहाँ 'कोमल' आलापन से तो 'सर्वनाश'। तानसेन के दीपक राग द्वारा दग्ध हो जानें के उपाख्यान का स्मरण करो। वैज्ञानिको के सूक्ष्म यन्त्रों द्वारा इसका जो परीक्षण हुआ है, उसे भी याद करो। जप का साधन, विज्ञान की परीक्षा!

इतने पर भी भाव की उपेक्षा नहीं हो सकती। भाव का अभाव हो जाने पर यन्त्र में सुर नहीं बाँधा जा सकता। सुर नहीं रहता, छन्दोग भी नहीं होता। राग के स्वर विशेष की ही तरह यह देखो कि तुम्हारा भाव वादी अथवा संवादी ही रहे। वह विवादी-विसंम्वादी न हो जाये। जो शुद्ध सात्विक भाव है, वह प्रायशः प्रारंभ में नहीं मिलता। वह जपादि के स्व छन्द में निष्ठापूर्वक चलने से आविर्भूत होता है। तभी वास्तविक प्रेमाश्रु विगलित होते हैं। उसके पहले 'श्री खोल' पर ताल पड़ते ही 'सिसकने' लगने से क्या होगा? "सुरापान करि ना आमि, सुधा खाई जय तारा बले" यह सत्य है। जप में, नाम में यदि 'मतवाला' नहीं हो जाते तब क्या होगा? किन्तु उस नाम मदिरा को 'चुआओगे, (तैयार करोगे) कैसे? (जिसमें 'आमार निताई चाँद नाचे, जेन माता हांथी।) 'मूल यन्त्र मन्त्र भरा शोधन करि बले तारा"। किन्तु यह सब शुद्ध संगत विधि से ही होना उचित है। ऐसी स्थिति में प्रेमाश्रु के लिये आँखों को 'मलने' की कोई जरूरत नहीं रहेगी।

स्वयं ही अपने-आप आन्तरिक भावों का उत्स उन्मुक्त हो जायेगा। तब 'आमार तारा वये पड़ बे धारा !' नाम का, बीज का, निजस्व अमोघ शक्ति है। उसमें विश्वास करो। तुम्हारी अपनी दलाली की कोई आवश्यकता नहीं है। जबतक स्वभाव उन्मुक्त नहीं हो जाता; तब तक भाव का आरोप करना केवल 'झक मारना' ही है। जब 'कलेजा' सूखने लगे, तब उस भावमदिरा की एक 'चुस्की' ले लो। 'आखि टुलु टुलु सदा रात्रदिने, कालीनामामृत मदिरापाने' !

इन सब बातों को 'हल्का' करके कहा गया है, किन्तु यह स्मरण रखना होगी कि समस्त साधना के मूल में जो भाव है, वह जब तक स्वभाव में नहीं आ जाता, तब तक उसके द्वारा भावित होना ही होगा। क्योंकि भावमात्र ही उच्छ्वास है और उच्छ्वास मात्र ही उसके अभाव तथा वैपरीत्य के कारण है। जो अभी तरंग के उन्नत विन्दु पर है, वही अगले क्षण तरंग के नीचे जा छिपेगा और विपरीत विरोधी-तरंग द्वारा बाधित और विपर्यस्त भी होगा। उपाय ? अपनी तरंग को स्वभाव में स्व छन्द में लाओ। जैसे दक्ष वीणावादक बीन द्वारा आलापन करते हैं, वैसे ही तुम्हारे मन, प्राण तथा धुन उसके स्पन्द समूह का आलापन करते रहते हैं। इन तीनों में से धुन को ही बनाओ पहला मजबूत (वीणा का) तार ! प्राण की गति और मन की मति को धुन के आनुगत्य में लाओ जैसे ब्रज में मुरली की 'धुन' करती है। पहले मति गति की धुन प्रारंभ करो। वृथा काल (समय) अतिवाहित करके 'गों गों' करने से क्या मिलेगा ?

'हे आनन्दघनश्याम ! तुम्हारे आनन्द के जो चार अक्षर हैं, उनके द्वारा यथाक्रमेण प्राण अपनी गति प्राप्त करे (आतति), मन प्राप्त करे अपनी मति (मात्रा), धुन प्राप्त करे द्रुति (छन्दोग वितति) और इन सबको मिलाकर (संहति में) प्राप्त करे अनिर्वचनीय रस निबिड़ता की विलयसंगति !

अन्तिम अकार में, मूर्छना में, आरोह-अवरोह क्रम से प्राण-मन तथा धुन की आनन्दघनता के समीकरण तथा संगति को लक्ष्य करो। सूत्र की कारिका के उपसंहार में कहा गया है 'भूतं सर्वं आनन्दमात्रया खलु'। आनंद की मात्रा ही निखिल शब्दार्थ का भरण करती है। यहाँ मात्रा पद को करण-कारण रूपी अर्थद्वय में ग्रहण करो। मातृशब्द की तृतीया से मात्रा पद होता है। अतः आनन्दरूपिणी 'मा' समस्त का भरण करती हैं, यह अर्थ भी हैं। 'भरण' क्या ? किसके द्वारा ? वह है वास्तविक आनन्द, विशेषतः पूर्वोक्त चतुष्पाद् छन्द में लीलायित आनन्द। भरण अर्थात् समस्त गति को प्राणरूपेण, समस्त काम (रति) को मतिरूपेण, समस्त धुन (Expression को) तान रूपेण, और अन्त में इन तीनों को लय संगति रूपेण योगक्षेम में रखना।

३०. रोधसि रोदसि ॥

यत्किंचित् तटस्थ (रोधसि) अथवा प्रान्त भूमिता (approximating to the end) की भू: एवं अन्तरिक्ष के (रोदसी) शासन मर्यादा में अवस्थिति ॥

रहस्यभाषा में इस सूत्र के भाव को गहन रूप से हृदयंगम करना होगा। जो यत्किंचित 'यह' रूप से स्थित तथा प्रतीत हो रहा है, उसकी संज्ञा है 'भू:' यह पहले ही विवेचित हो चुका है। स्व है 'वही'। Manifiest and given, और un-manifest to-be-and-become, इन दोनों के मध्य का सेतु (Becoming) है भुव:। इस मध्य का रूपद्वय भी है। प्रथम है संघटनत्व धर्मावच्छिन्न, दूसरा है संघटित धर्मावच्छिन्न। प्रथम है Process as determining, द्वितीय है Field as determind, दो मैगनेट अथवा तड़िताधार द्वारा इन्हें समझनें का यत्न करो। मध्य में जो व्यवधान (medium) है, उनके धर्म-कर्म के सम्बन्ध में समझने का प्रयत्न करो। प्राणिक एवं आध्यात्मिक—किसी भी दो भू: तथा स्व: के (जैसे जप और उसके इष्ट में) व्यवधान की अनुरूप भाव से भावना करो। क्योंकि केवल वाह्य पदार्थ समूह ही नहीं, प्रत्युत् प्राण चेतना के केन्द्रसमूह भी विभु (व्यापक) प्राण तथा चेतना के आधार में ही वृत्तिमान रहते हैं उनका पारस्परिक आदान प्रदान मध्य के भुव:द्वारा विशेषरूपेण निरूपित होता रहता है।

अब भुव: को द्वितीय रूप से संकीर्ण करते हुये (Field as determined, medium with intrinsic relations) साधारणत: अन्तरीक्ष कहा जाता है, किंतु 'ग्रहण' में (in analysis appreciation) संकीर्ण होने पर भी (Limited-Specified) वस्तुत: वह संकीर्ण नहीं होता। उसमें समग्रत्व ही रहता है। अतएव अन्तरीक्ष सूत्र का पुन: अनुधावन करो।

अब प्रश्न यह है कि जो कुछ 'यह' रूप से घटित हो रहा है, वह सब एक-एक गतिपरिणति के वर्त्म (Lines of effectual becoming) को पकड़ते हुये 'वह' होता रहता है। वह सब गतिपरिणाम वर्त्म (शून्य में नहीं परन्तु) किसी-किसी निरूपित (संघटित) अथच निरूपक (संघटक) माध्यम द्वारा अपनी संस्था (ensemble) को प्राप्त करके संघटन धर्मी (इफेक्चुअल) हो जाता है। वह माध्यम है अन्तरीक्ष (कहीं ह्रस्व, कहीं दीर्घ)। अत: भुव: (अन्तरीक्ष) के सहयोग से अपने अभीष्ट 'स्व:' (वही) को प्राप्त कर लेता है। वह सहयाग है वेदोक्त रोदसी। रोदसी आकृति तथा संस्था प्राप्त किये बिना आनन्द अपनी मात्रा को (व्यापक अर्थ में) चतुष्पाद् छन्दोरूप में अक्षरादि समस्त में अनुप्रविष्ट तथा अ-व्यवसायी नहीं समझ सकता। बीज कहता है "यह तो एक कणिका में घनीभूत होकर स्थित है। छन्द-छन्द में वह पुष्पित होकर खिल उठेगा। उसके लिए मुझे दो रोदसी।"

सृष्टि के प्रत्येक 'यह' रूपी रेणु से एक रोदन उठ रहा है ! जैसे माता की गोद में शिशु रोदन करता है। उसकी पुष्टिपूर्णता की जो परिसीमा है (स्वः वह) वह मानों उसे पुकार कर कहती है "रोदिषि ? रो रहे हो ? अच्छा अन्तरीक्ष में जो इ कार अथवा ई कार है, वह तुम्हारा सहयोगी हो ! हमारे तुम्हारे मध्य में जो है वह तुम्हारी पुष्टि का विधान करे ! मध्य में केवल संस्कार रूपेण नहीं, अपितु धारा रूपेण ! तुम उस धारा के तट पर (रोधसि) आओ। तट पर आये बिना पार कैसे उतरोगे ? रोधसि में आकर ही रोदसि को प्राप्त करना होगा। जैसे दीक्षा में श्रद्धा-प्रणति को।"

वर्त्तमान सूत्र का अधिकार सार्वभूमिक है। दो दृष्टान्तों द्वारा इसे देखा जाता है। जैसे कोई निर्दिष्ट सरल रेखा। यह है अयम् (भूः)। इसके उपर एक ऐसा त्रिभुज अंकित करना होगा जिसका शीर्षस्थ कोण है समकोण। यह है 'असौ' (स्वः)। जिसके माध्यम से यह संघटित होगा वह है 'भुवः'। किसी एक स्केल की सहायता से निर्दिष्ट सरल रेखा के मध्यविन्दु को स्थिर करना होगा। तत्पश्चात् इस मध्यविन्दु को केन्द्र बनाकर निर्दिष्ट रेखार्द्ध का व्यासार्द्ध करके एक अर्द्धवृत्त का अंकन (कम्पास की सहायता से) किया। इस अर्धवृत्त की परिधि में कोई विन्दु निर्दिष्ट सरल रेखा की उभय प्रान्तभूमि के साथ संयुक्त करने पर अभीष्ट समकोणी त्रिभुज हुआ। वृत्त परिधि शीर्षविन्दु का 'लोकस्' है। इस दृष्टान्त द्वारा संघटक माध्यम जो भुवः है, उसे मुख्यतः तीन प्रकार से उपलब्ध किया जाता है, यथा कर्म-करण-अधिकरण। कोई एक विशेष कर्म हो रहा है। किसी विशेष कारण की सहायता से हो रहा है। किसी निर्दिष्ट आधार में हो रहा है। अन्य प्रकार से कहने पर यह माध्यम त्रिविध है योजना, योजक तथा योजित। अयम् तथा असौ। इन दोनों के मध्य अन्तरीक्ष 'व्यवधान' बनकर इस अयम् को करता है असौ और असौ को करता है अयम्। निर्दिष्ट सरल रेखा अभीप्ट समकोणी त्रिभुज की बाहु होने के लिये किसी उपयुक्त क्रिया में जब युज्यमान होती है, तब वह होती है तटस्थ (रोधसि)। वह उपयुक्त योजना द्वारा होती है रोदसी।

दोनों पदों में संकेत निहित है। प्रथम पद में युज्यमानता का आधार (जैसे यह निर्दिष्ट सरलरेखा एवं तल) ध वर्ण में है। अन्तिम ह्रस्व इकार में उस प्रकार की 'वृत्ति'-an odject or theme just ready (or prone) to be treated so as to bring about an end. इस प्रकार की वृत्ति प्रवृत्ति (effectual process) कब होती है ? उपयुक्त माध्यम के योजनादि द्वारा। द्वितीय पद के रोदसी में 'द' वर्ण द्वारा दण्डवृत्ति upheaval सूचित होती है। किसी तलविशेष में 'तवर्ण में' कोई क्रिया उसके शक्ति मान का उर्ध्व में उत्तोलन करके प्रकट (Kinetic) होने पर है 'द' वर्ण। अन्तिम के शीर्ष में 'ई' कार है। यह 'अयम्' की आकृति तथा

'असौ' की प्रपूर्त्ति दोनों के सम्मिलन को सूचित करता है। दीक्षा में जैसे आग्रह-अनुग्रह का द्योतन होता है।

अन्य दृष्टान्त लो, ककारादि अक्षर द्वारा। जैसे 'क' वर्ण। यह है 'अयम्'। इस वर्ण में आनन्द सम्भाव्यरूपेण रहता है, किन्तु इस वर्ण को केवल आनन्दहृत तथा आनन्दमात्रा के रूप में नहीं प्रत्युत् आनन्द परिसीमा (असौ) में ग्रहण करना होगा। प्रथमत: उसे ध्यानादि के द्वारा तद्भाव से युज्यमान युँञ्जानता में लाओ। Make it aspiring to be as such। वाक् को प्राण तथा चित्त की निगूढ़ समर्थ वहमानता (Sub-or-super-conscious currency or fluency) के साथ युक्त न कर सकने पर उक्त युज्यमानता (अत: तटस्थभाव) नहीं आती। वह 'उत्तिष्ठत जाग्रत' पर्व में नहीं आती।

पहले स्वर का जो समाहार कहा गया है, उससे यह प्रतीत होता है कि 'क' के साथ कोई योग्य स्वर (जो कि अभीष्ट है उसके अनुकूल अथवा उसका साधक) युक्त होने पर पूर्वोक्त युज्यमानता आ सकती है। जैसे 'क' (कालीनाम में), कृ (कृष्णनाम में) के (केशव में)। बहुवर्ण के क्षेत्र में हरे कृष्ण-हरे राम इत्यादि। स्वरों के विचार से विशेष-विशेष उपयोग विवेचित होता है। व्यजन संयोग में क्र, क्ल इत्यादि भी परीक्षणीय है। प्रथम में विशेषत अग्नि (तेज:शक्ति), द्वितीय में सोम (शमनी, रजनीशक्ति) मुख्यत: हैं। प्रथम में है भास, अन्य में है रस। ऐश्वर्य तथा माधुर्य। र तथा ल के अभेद के कारण दोनों ओत:प्रोत रहते हैं। काली एवं कृष्णरूप का चिन्तन करो। दोनों नाम को जप कर देखो।

इस बार 'क' रूप 'अयम्' तथा 'असौ' के पास वापस आया, उसका शक्ति-सम्पात प्राप्त किया। अब उसे उसके पास अग्रसर होना होगा तदनुरूपतादि भाव प्राप्त करना ही होगा। उपाय ? 'ई' का योग होने पर, अर्थात् रोदसी ने (रोधसी की) सहायता किया। शब्द क्रीं अथवा क्लीं। किन्तु ज्योतिरस अथवा रसज्योति: की जो परिसीमा है उसे प्राप्त करने के लिये नादविन्दु कलात्मिका एवं तदतीता अर्धमात्रा को चन्द्रबिन्दु इत्यादि आकार में और कुलकुण्डलिनी की जागृति के रूप में प्राप्त करना होगा। अर्थात् क्रीं अथवा क्लीं। अन्त: के दृष्टिकोण से (Psychologically) श्रद्धा सब कुछ को तटस्थ (रोधसि) करती है। मति-रति को ले आती है 'रोदसी' के अधिकार में।

बहिर्जगत् में सौरादि नक्षत्रपुंज की जो महाविपुल तैजस आणवशक्ति(Thermomonuclear energy) है, उसका जो सौम्य अथवा मित्रमान है, वह पृथिव्यादि में प्राणादि की अभिव्यक्ति को योगक्षेम की संस्था में स्थित करता है। 'रोदसी' आकृति में नव-नव अभिव्यक्ति का सहाय भी हो रहा है। यह है Natural और Normal, healthy economy. मनुष्य आज अपने विज्ञान के विनियोग

में एटमिक और थर्मोन्यूक्लियर शक्ति की स्वाभाविक योगक्षेत्रम संस्था को बाहर कर रहा है। उपाय है fission-fusion. उसका परिणाम है एटम बम, हाईड्रोजन बम। यह है रोदसी की अभिचार क्रिया। शक्ति स्वस्त्यायन क्रिया नहीं है। अभिचार में 'भूर्भुवस्व:' का स्वाच्छन्द्य व्याहत हो जाता है। अर्धमात्रा में परमाभिमुखीन का सहाय विध्वस्त हो जाता है। रक्षा का उपाय है 'शं नः' तथा 'स्वस्ति नः'। इन दोनों से कल्याणपन्था: का प्रवर्त्तन होता है। वह पन्था: अन्त: से बाह्यत: प्रसृत होता रहता है।

द्वितीय अध्याय

१. मर्यादाभिविधी अपेक्ष्य वृत्तित्वमावृतम् ।।

सीमा एवं व्याप्ति की अपेक्षा करने वाली जो वृत्ति है, वह है आवृत्ति ।।

सीमाव्याप्ति समुद्दिश्य गतिस्थित्या हि वृत्तता ।
सुषमा विषमा वापि साऽवृत्तिरिति गृह्यते ।।५१।।
प्रत्यक्तया समावृत्ति र्व्यावृत्तिश्च पराक्तया ।
स्वाच्छन्द्यमाद्यया लभ्यं परच्छन्दस्त्वमन्त्यया ।।५२।।

अब यह चिन्तन करो कि 'आवृत्ति' किसे कहा जाता है ? पहले 'वृत्ति' की सविशेष आलोचना हो चुकी है। अब उसके आगे 'आ' उपसर्ग लगाया जा रहा है। इस उपसर्ग की सीमा तथा व्याप्ति (यहाँ तक, इतनी) को स्मरण रखते हुये आवृत्ति को समझना होगा। सीमा को पूर्णत: 'न स्यात् (Negate) करते हुये जो वृत्ति (वर्त्तमानना) है, वह है ब्रह्मत्व अथवा भूमत्व। उस अधिष्ठान में आवृत्ति है ही नहीं 'न स पुनरावर्त्तते'। ब्रह्मसद्भाव की न्यून भूमिका मे आवृत्ति रहती है। अणु से लेकर विराट पर्यन्त सब कुछ कहते हैं "यहाँ तक, इस सीमापर्यन्त में व्याप्त रहता हूँ"। यही स्थिति तथा गति, दोनों का कथन है। इस प्रकार की आवृत्ति व्यावहारिक होती है। तत्वत: तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म—सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्' ही है ! जिन सिद्धान्तों में जीव आदि को अंश- अणु प्रभृति कहा गया है, वहाँ भी अंश, अणु, प्रभृति जड़ीय परिच्छेद नहीं हैं। जिस प्रकार से ब्रह्म सृष्टि में 'विन्दु' हो जाते हैं और उसमें (पूर्ण) अनुप्रविष्ट रहते हैं, उसी प्रकार से भगवान भी लीला के कारण जीवरूपेण अंश तथा कण हो जाते हैं। इस प्रकार से होना ही भगवान की नित्याभिव्यक्ति है।

चिन्मय शुद्ध वस्तु का अंशत्व अथवा कणत्व ही नहीं, यहाँ तक की न्यूतत्व भी लीलासम्बन्ध विशेषप्रतियोगित्व नहीं है। भगवान स्वयं लीला प्रयोजनार्थ शरीर के समान प्रतीयमान होते हैं। उससे उनके विन्दुत्वादि का अपगम नहीं होता। जीव का भी नित्यत्व, विभुत्व स्वत:सिद्ध है। तभी वह है चित्कणा। अग्नि की स्फुलिंग के साथ तुलना को जड़परिच्छेद संस्कारसंजात कहते हैं। (चित्कणा की तुलना अग्नि की चिनगारी से करते हैं)। वस्तुत: यह भेदाभेद है अचिन्त्य। जैसे ब्रह्म तथा विन्दु। लीला के क्षेत्र में भी यही अचिन्त्य भेदाभेद प्रभावी रहता है। तब क्या यह मायिक है ? ऐसा नहीं है। अप्राकृत, अमायिक प्रभृति विशेषण भी विचार्य है। इस प्रसंग में 'महामाया तथा माया' सूत्रों का अनुस्मरण करो। अद्वैतवेदोन्तीगण भी सतर्क हो जायें !

यहाँ पुन: विचारणा आवश्यक प्रतीत हो रही है। यह स्पष्ट सा है कि लीलाधिकरण में तत्वत: नित्यत्व-विभुत्वादि की स्थिति है। मर्यादा तथा अभिविधियों की अपेक्षा वहाँ है। अत: आवृत्ति की भी अपेक्षा है। लीला में आवृत्ति सुषमा (छन्दो-लास्यमयी) होती है, अन्यत्र यह विषमा रहती है। पूर्णत: विषमा आकृति कहीं भी नहीं रहती। क्योंकि आनन्द का जो लीलाछन्द: है, उसी में सृष्टि की मूल प्रेरणा तथा योजना रहती है। विषमा है स्वाभाविकी। सृष्टि में जड़त्व भी स्वाभाविक ही है। विषमा में 'पतित' सब कुछ को विषमा की आवृत्ति से हटाकर सुषमा में चालित करना होगा। जिस मार्ग से यह सम्भावित होता है, वह है सुषुम्ना। जो वृत्ति सुषुम्ना अथवा सुषमा में ले जाती है, उसी का साधारण नाम है प्रत्यग्वृत्ति। जो वृत्ति विषमा में 'पतित' रखती है, वह है पराक्वृत्ति। प्रथम में है समावृत्ति, द्वितीय में है व्यावृत्ति ! प्रथम खण्डोक्त जप लक्षणों को पुन: स्मरण करो। समावृत्ति, समारंभण में क्या होती है ? वह होती है स्वाच्छन्द्य। जपादि साधन स्व (अपने) छन्द: में, स्वभाव में, सहजता से चलता है। जड़ में 'प्राणस्पन्दन' परिलक्षित होने पर इसकी सूचना प्राप्त होती हैं। वह Mechanical, cyclic इत्यादि है। वह भूय:, ततोभूय:, स्पान्टेनियस, Rhythmic रूप प्राप्त कर लेती है। व्यावृत्ति में (पराग्वृत्ति में exteriorisation में) परच्छन्दत्व (परवशत्व, व्यख्यत्व इत्यादि) आपतित होता है।

मन्त्र, तन्त्र तथा यन्त्र, इन तीनों में आवृत्ति (जो किसी सीमा अथवा अवधि पर्यन्त व्याप्त तथा वृत्तिमत्ता है) को लक्ष्य करो और उसका परीक्षण करो। मन्त्र में कालशक्ति है (अत: वह संख्या के साथ वृत्तिमता है)। यन्त्र में है देश-शक्ति (अत: परिणाम सहित वृत्तिमता है). तृतीय में अर्थात् तन्त्र में क्रियाशक्ति (अनुपात-मात्रादि के साथ वृत्तिमत्ता) की मुख्यता रहती है। अन्य प्रकार से देखने पर मन्त्र में ज्ञान. यन्त्र में भाव और तन्त्र में कर्म की प्रधानता है। इन तीनों का

अन्योन्य सम्बन्ध रहता है। अतः आवृत्ति में इन तीनों का सम्मिलन है। किसी भी आवृत्ति में (जड़ क्षेत्र में स्पन्द, उर्मि, आवर्त्तन इत्यादि में) इन तीनों सूत्राधार (कोआर्डिनेटस्) का विश्लेषण करना होगा। इसमें से यदि देश को ३ माने तब सूत्राधार की संख्या है ३ यदि काल को ३ कहें और क्रिया को ४ (पाद-मात्रा-कला काष्ठा रूपमान लिया जाये, तब सूत्राधार की संख्या १० हो जाती है। पुनः वही दशधा !

२. उभयत्र परमत्वावमत्त्वे ।।

दोनों स्थलों (मर्यादा तथा अभिबिधि) में परमता तथा अवमता (सुप्रीम, एब्सोल्यूट, सबार्डिनेट तथा रिलेटिव) रूप द्विविध मान हैं ।।

पादमात्रानुबन्धात्तु काष्ठा प्रसज्यते हि या।
तस्यां परमता क्वचावमता दृश्यते क्व वा ।। ५९ ।।
या तरतमता-धारा विश्ववृत्तिषु दृश्यते ।
विहाय त्ववमां तस्याः परमां गतिमाश्रय ।। ६० ।।

मर्यादाभिविधि (मर्यादा एवं अभिविधि) द्वारा जो आवृत्ति है, उसमें कला (aspects, Phases, elements) की परिमेयता होती है, पाद में तथा मात्रा में (जैसे संगीत में किसी स्वरविशेष अथवा स्वर संयोग विशेष में)। पादामात्रा का अनुबन्ध (Context) होने पर क्या होता है ? काष्ठा, सीमा (Limit) जैसे 'इतना' 'यहां तक' प्रभृति अवश्य रहती है। यही खण्ड कला एवं कलासमष्टि के संदर्भ में भी है। जैसे गायत्री जप के व्याहरण में ६ पाद हैं और उनका मात्रा सम्बन्ध है। प्रत्येक के काष्ठामान को सम्यक् ही रखना होगा, उसके समग्र व्याहरण को भी ठीक रखना होगा। समग्र का उदय है ओंकार की आरम्भकाष्ठा (Straight limit), और विलय है ओंकार की विन्दुलीनता अथवा अवसान काष्ठा (closing limit)।

यहाँ काष्ठामात्र ही परमाभिमुखीना (Tending to the supreme Absolute) हो सकती है। परम का यहाँ तात्पर्य है आदर्श (Prototype, Standard)। अतः 'जिसके पश्चात् और कुछ है ही नहीं', 'जिसका विकल्प अथवा तुलनीय कुछ है ही नहीं' और 'जो सर्व विरूप-प्रतिरूप का आदर्शरूप है', इन तीन प्रकार से परमता का तात्पर्य हृदयंगम करना होगा। जैसे 'ॐकार' जप। हम अधिकांशतः यही करते हैं। किन्तु पूर्ण विकल्परहित शुद्ध ओंकार ? जो स्वयं ब्रह्म का परावाक् रूप है ? कहोगे कि वह बहुत दूर है ! अवश्य है, तब भी उसे लक्ष्य बनाये रखना ही साधना है। विकल्पादि दोषबाधित होने पर अवम। 'अ उ म' तथा 'अवम' इन दोनों में 'उ' तथा 'व' का भेद है (एक में उ है अन्य में व है)। इस भेद से क्या द्योतित हो रहा है, यह समझो। उ में अग्नि का उद्दीपन है,

प्राण का उज्जीवन है और वाक् का उदीरण भी है। इसे 'व' बन्धनयुक्त रखता है। संगीत की स्वर साधना आदि में भी यह एक प्रासंगिक विचार है।

विश्व के निखिलवृत्तिसमूह में जो तरमता (कम्पेयरेबिलिटी, ग्रेडनेस) परिलक्षित होती है, उसके फलस्वरूप समस्त विश्ववृत्ति ही न्यूनाधिकरूपेण अवमता के अधिकार में है। इसमें यह लक्ष्य करते रहना होगा कि वृत्तिविशेष की प्रवणता (मुख) किस ओर है? पराक् है अथवा प्रत्यक् है? विश्वभुवन की नाभि की ओर अभिमुखीन है अथवा उससे विपरीत है?

जैसे चित्तवृत्ति! इसका प्रवणता विचार भी सब प्रकार के साधनों में आवश्यक सा है। सामान्य नदियों में बहिःस्त्रोत के अतिरिक्त एक अन्तःस्त्रोत भी परिलक्षित होता है। ऐसा तो चित्तनदी में प्रायः घटित होता रहता है। चित्त गठित है स्तर विन्यास रूपेण! ऊपर में जहाँ एक ओर की वृत्ति का द्योतन होता है; वहीं दूसरी ओर उससे विपरीत गति परिलक्षित होने लगती है गम्भीरतर तल में संवेग (संस्कार भूमि में) मुखीनता ही चित्तपरिकर्म व्यापार में मुख्य है। जपादि साधन का लक्ष्य है गम्भीर तल में परम प्रवणता को बनाये रखना। बाह्यतः पराक् (बाह्यविषय-संस्कार) आदि की विद्यमानता रहने पर भी चित्त गम्भीर गहन तल में प्रत्यङ्निष्ठ रहना चाहिए। 'बाहर प्रवृति' अन्तर में निवृत्ति-यह सूत्र है। मुख में काष्ठ-मन में कष्ट! इस प्रकार से 'द्विमना' होना ही साधना है। 'हाथ से काम करो, मन में कृष्ण रक्खो'। मीराबाई के समान 'गहनगभीरा' भाव कब भाग्य से प्राप्त होगा? श्रीगुरु कृपा के अभाव में यह परम अन्तर्मुखीनता सहज तथा स्व छन्द में प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार के अन्तः के परिपूर्ण भाव को, 'परम भरपूर' भाव को रसगाथा तथा गीतियों में 'परकीया' भाव के समान माना जाता है। न जाने भीतर कितनी ज्वाला है, तब भी बाहर कितना शीतल! मुख से राम तो क्या 'रा' का भी उच्चारण नहीं है। एक साधक के मुख से तो एक बार भी रामनाम नहीं निकला। जिस दिन स्वप्नावस्था में मुख से नाम का उच्चारण बाहर हो गया, उसी दिन प्राण भी निकल गये! जिस धन को इतने दिनों 'दिल' में छिपाये रक्खा था, वही धन आज बाहर व्यक्त हो गया!

जब अन्तः में परम की बाँसुरी बजती रहती है, तब बाहर का कोई आह्वान भी 'अवम' नहीं रहेगा। तब यह देखा जाता है कि बाहर तो 'इधर-उधर' का कार्य करते रहते हैं. परन्तु भीतर जो सुर बजता है, वस्तुतः वही असली सुर बजता रहता है। 'भरमी' के बिना अन्य कोई भी इन दोनो 'बजने' का तारतम्य समझ ही नहीं सकता।

पादमात्रा तथा काष्ठा के प्रसंग में पहले दो सूत्र कहे गये। अब बारी आती है 'कला' की। कला भी दो दृष्टि से देखी जाती है 'अवमा तथा परमा'। अवमा

अर्थात् यत्किंचित् वैकल्पिक, व्यूढ़, अस्वतंत्र, परतन्त्र। साधारण व्यवहार में कला की उपलब्धि ऐसे अवमा पर्व में ही होती है। जैसे चन्द्रकला-उर्मिकला आदि। विशेष कारणों से इन्हें अवमा कहा जा रहा है। इसे अपरा भी कह सकते हैं। यहाँ अपरा को परमा के समीप कैसे लाया जाये, यही समस्त विकास की और साधना की मूल समस्या है। जो Aspect मात्र है, वह कैसे Absolute हो, जो Partial है-वह किस उपाय से पूर्ण हो, यही तो प्रश्न है ! जैसे जीव की अपराप्रकृति और परम की परमा प्रकृति के मध्य की सेतु सन्धि कैसे मिले ? मध्य में परा को बैठाओ अथवा जाग्रत करो। गीतोक्त परा प्रकृति को स्मरण करो। जप आदि साधन इस परमा के लिये परा को जाग्रत करने तथा युक्त करने का कार्य करते हैं।

३०. कलासु परमा या साऽर्द्धमात्रा ॥

निखिल कला में जो कला परमा है, वह है अर्द्धमात्रा ॥

सेतुर्याऽप्यर्द्धमात्रा नयति च परमं व्यक्तमव्यक्तभावम् ।

गुरुस्त्रोतोक्त इस पंक्ति को पुनः मनन करो।

अर्द्धवृगलमित्यादावर्द्धनारीश्वरादिषु ।
सोमार्द्धादिषु वा ह्यर्द्ध एकार्द्धत्वं न सूचयेत् ॥६१॥
अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुच्चार्या विशेषतः ।
विन्दोर्नादस्य सन्धिस्था सन्धिनी ध्यानरूपिणी ।
नीत्वाऽपरं परं याऽपि परपारं नयेत् पुनः ॥६२॥

श्रुति में जो अर्द्धवृगल है, तन्त्र पुराणादि में जो अर्धनारीश्वर, सोमार्द्ध इत्यादि अर्द्धघटित शब्द समूह हैं, इनमें अर्ध का तात्पर्यार्थ एक का आधा नहीं मानना चाहिये।

अगले खण्ड में अर्धमात्राष्टकम् नाम से जो परिशिष्ट प्रकाशित होगा, वर्त्तमान सूत्र एवं कारिका प्रसंग में उसका अनुध्यान करना आवश्यक है। 'ऋघ्' धातु के गूढ़ तथा व्यापक भाव का वर्णन करने का यत्न किया गया है।

जो कलिता अथवा कलनी है, यदि उसे 'कला' कहें तब उस कला को (पूर्वोक्त काष्ठा एवं सीमा के सम्बन्ध में) दो दृष्टि से देखना होगा। परम से अवम और पुनः अवम से परम ! पराग्गति एवं प्रत्यग् गति। जो परम वस्तु है, वह उस रूप में रहते हुये, अवमता का अवतरण कैसे करती है, और परमव्यावृत्तिरूपा अवमता से परम में समावृत्ति कैसे हो सकती है ? इस उभय दिक् की जो अवतरणिका है; वह परम के बिना अन्य कारण द्वारा साधित नहीं होती। होने पर है परमताहानि। अवतरण तथा उत्तरण, दोनों स्थलों पर परम की परतन्त्रापत्ति होने लगती है। अतः यह मानना होगा कि परम ही स्वयं कलनी तथा कलिता

रूपी भूमिकाद्वय का परिग्रह करते हैं, अर्थात् 'कलासु-परमा' हो जाते हैं। यही है अर्धमात्रा !

अर्धमात्रा के अभाव में ऋजु-सुषम-विषम-रूपी पर्वत्रय में से किसी भी पर्व से सृष्टि आदि सम्भावित नहीं होती। मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र (व्यापक तथा सविशेष अर्थ में) प्रसज्यमान भी नहीं हो सकते ! कारिका के दूसरे श्लोक में अर्धमात्रा को सन्धिनी तथा व्यानरूपिणी रूप में विश्लेषित किया गया हैं। जो सब को सन्धि देने वाली है, वह है सन्धिनी। और जो व्यापिनी है (इस प्रकार से) वह है व्यान-रूपिणी ! व्यान तथा सन्धि के सम्बन्ध में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब अर्द्ध की विवेचना सूत्र द्वारा करते हैं :—

४. अर्द्धत्वं समात्रामात्रयोः सकलनिष्कलयोश्च सन्धिसम्बन्धात् ॥

अमात्र तथा समात्र, निष्कल तथा सकल, इन दोनों अन्योन्य-विरहकोटियों (Logical Contradictiories) में से सन्धिसम्बन्ध (Relatednes in fact) जिसके द्वारा होता है, उसे अर्द्ध कहते हैं॥

इन दोनों को व्यवहारतः पारस्परिक सम्बन्ध में लाना होगा। इन दोनों के लक्षणों का प्रणिधान करने पर यह कहना ही होगा कि इसमें सन्धिसम्बन्ध कार्यतः घटित होने पर भी वास्तव में अनिर्वाच्य है। अतः वास्तव में अर्द्ध भी अनिर्वाच्य है।

> **निष्कलमन्तरा चापि सकलं सेतुरीक्ष्यते।**
> **समात्रामात्रयोर्येनानिर्वाच्यं सन्धिबन्धनम् ॥६३॥**
> **विशेषेण समुच्चार्यं निर्विशेषाक्षरं यतः।**
> **तदर्द्धं दोग्धृ जानीत कामधुक्ष्वक्षरेषु हि ॥६४॥**

जो निष्कल तथा सकल के मध्य सेतु प्रतीत होता है (सेतु = Nexus), वह अमात्र तथा मात्र का भी सेतु रूप है। उसी के कारण ये सब अनिर्वाच्य सम्बन्ध-भाक् होते हैं। वाक् के दृष्टिकोण से जो परम तथा निर्विशेष अक्षर है, वह स्वयं को परा-पश्यन्ति-मध्यमा-वैखरी रूप से विवृत करते हुये 'उच्चार्य' कैसे हो जाता है? जो 'अनुच्चार्या विशेषतः' है वह विशेष-विशेष रूप से उच्चार्य होती कैसे है ? यहाँ उच्चार्य का तात्पर्य केवल कण्ठ से ही उच्चार्य नहीं है, परन्तु जो निर्विशेष समता में है, वह 'सविशेष व्यक्तिमापन्न' अर्थात् Differentiated and Evolved as individual sound elements कैसे हुआ, इसकी सूचना उच्चार्य से प्राप्त होती है। उत् + चर = शान्त सलिला के वक्ष पर तरंग के समान। जो absolute Constant है, वह उर्ध्वाधः काष्ठा के variation में कैसे आ जाता है ? कुछ भी Constant हो जाने पर अपने Dyldx (true rate of change) लक्षणानुसार शून्य हो जाता है। ऐसा होने पर वह विविध विचित्र मान में (धन-ऋण में) कैसे आता है ?

गणितोक्त Incommentsurable और 'इमैजिनरी' इत्यादि मान परिणाम के मूल में क्या है ?

चित्त तथा प्राण के क्षेत्र में जो अशेष सुषमा अथवा विषमा वृत्ति की आकृति हैं, वे कैसे सम्भावित होती हैं ? इन सब का एक ही उत्तर है 'अर्धः'। यह स्वयं अनिर्वाच्य है, अथच सभी प्रकार के मान प्रत्यय और सन्धिसम्बन्ध का संस्थापक (The Radix of all that is relatable, mesurable) है। परमाक्षर से जो 'पर' अक्षरभूमि समुदित है और उससे जो 'अपर' का समुदय हुआ है, उन्हें यदि 'गौ' (कामदुघा) माना जाये, तब अर्द्ध को इस संदर्भ में दोग्धृ (दोहनकारी) मानना ही होगा। जैसे परब्रह्म से विन्दु दोहन, यह सब अर्द्ध का ही कर्म है। गायत्री छन्दः देवताओं के लिये अमृत दोहन करती हैं। यह दोहन भी होता है अर्ध-मात्रा की कृपा से। गायत्री में जहाँ नाद-विन्दु कला का त्रितय सम्मिलित (उदय-विलय प्रणव की सन्धि) है, वही है अमृतधाम अथवा आकर। पहले कहा गया है कि यही हैं 'तज्जलानि शान्त उपासीत' का स्थल। इस सन्धि में (ब्यान वेदी में) शान्त न हो सकने पर उर्मिसंघात होता है। परिणाम यह होता है कि मृत्यु से छुट-कारा नहीं मिलता। केवल गतागति पुनः-पुनः चलती रहती है।

कारिका में अक्षर कलासमूह को कामधुक कहा गया है। अ-आ-इ इत्यादि स्वर, क-ख प्रभृति व्यंजन, ये सभी कामधुक हैं। प्रत्येक से (विशेष-विशेष शक्यता द्वारा) निखिल भाव और अभीष्ट का दोहन हो सकता है। अतः शक्यता साधारणी एवं असाधारणी—दो प्रकार की होती है। जैसे आदिस्वर 'अ' और अन्तिम व्यंजन 'ह'—इन दोनों से अहम्। इससे 'मैं' (व्यक्ति) का द्योतन होने लगता है। यह 'मैं' आत्मा अथवा ब्रह्म कैसे होता है ? 'अर्द्ध' को दोहन में लगाओ। मध्य का 'ह' ही विशेषतः दोहन योग्य है, क्योंकि समस्त वर्णों की अपनी-अपनी शक्ति 'ह' में निहित तथा सचित रहती है। 'ह' समस्त वर्ण कला की समूहमूर्ति है। 'ह' से अर्द्ध ने दोहन किया 'उ' का। (दुह् धातु का परीक्षण करो। द = दण्ड। उ = रज्जु। ह = शक्तिपिण्ड, सामग्री) फलतः 'अ उ म' = ओंकार। यह है आत्मा तथा अमृत, दोनों का सन्धायक।

'आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्' का पुनः ध्यान करो। अहंरूपी आत्मा को 'अधरारणि' कहा गया है। इसका अर्द्ध प्रणवरूप उत्तरारणि के द्वारा ज्ञाननिर्मन्थन किया गया। अहम् के 'म्' अथवा अनुस्वार ही उसकी व्यक्तिग्रथि (Tie) अथवा पाश है। प्रणव के द्वारा निर्मन्थन करने से पाश दग्ध हो गया। अब अहं हो गया 'अहम्'। अधरारणि एवं उत्तरारणि का समीकरण साधित हुआ। भाव को (उ) मध्य में रख कर क्रियाशक्ति (अ) तथा ज्ञानशक्ति (म) मे उद्वर्त्तन तथा

उद्दीपन न कर सकने पर यह साधित नहीं होता। ज्ञाननिर्मन्थन शब्द में जो 'ज्ञान' है, वही उपबिषद् भी है और संवित् भी है।

सर्वत्र 'अर्द्ध' को किसी 'given' अथवा 'Martix' के सम्बन्ध में उपयुक्त-अभीष्ट फल का दोग्धृ जानना। इस अर्द्ध (ऋध्धातु) कला की परमता उसी में निष्ठित रहती है। (निष्ठित = Intrinsic, inherent)। अपरसत्त्राका और अवमवृत्तिका के द्वारा परमा कभी भी सन्धिसम्बन्धादिभाक् नहीं होती। जैसे जो क और ख को सन्धि में लाता है, वह इन दोनों के सम्बन्ध में, अथवा तुलना में न्यून होने पर अक्षम सा हो जाता है। यदि यह कहें कि गुरुशक्ति एवं मन्त्रशक्ति क्या इष्ट की तुलना में न्यून नहीं हैं ? तब यहाँ यह स्मरण रखना ही होगा कि यद्यपि व्यवहार के लिये ऐसा भेद करना पड़ता है, तथापि तत्वतः गुरुशक्ति परम की अनुग्रहशक्ति से अभिन्ना है और मन्त्रशक्ति भी परमेश्वर की प्रतिग्रह-परिग्रह शक्ति से अभिन्नवत् ही है। यन्त्रशक्ति परम के संग्रह-विग्रह से अभिन्न है। गुरु, इष्ट तथा नाम, परम की जिस शक्ति के द्वारा अभेदभावना द्वारा ग्रथित हो जाते हैं, वही है अर्द्धा। परमवस्तु 'केवल' रूप होने पर भी इस 'अर्द्धा' को अंगीकृत करते हुये 'युगल' रूप हो जाते हैं। इसके पश्चात् अवम् कोटि में अवतरण :—

५. अवमावृत्तेः कोणत्वेन् ॥

पूर्वोक्त मर्यादाभिविधि सहाकार से जो वृत्ति है, वह जब अवम् पर्व में उतरती है तब कोण हो जाती है (Angularity) ॥

> **त्र्यक्षरावममध्यस्थवकारसम्प्रसारणात् ।**
> **उकारो गृह्यते तस्मादोङ्काराक्षरनिश्चयः ॥ ६५ ॥**
> **कञ्चुकेन वकारस्त्वमावृत्तेः कोणरूपता ।**
> **सम्भावयति कोणत्वं नादे कञ्चुकपञ्चकम् ॥ ६६ ॥**

तीन अक्षर अर्थात् 'अवम'। इसके मध्य में जो 'व' है उसके सम्प्रसारण से हुआ 'उ'। यह 'उ' ओंकाराक्षर निश्चय करता है। अक्षर का जो अबाधित, अखण्डित वितान (अनरिस्ट्रिक्टेड, अनब्रोकेन कन्टिन्युईटी) है, यदि उसे साधारणतः 'नाद' कहें, तब सृष्टिधारा के अवमपर्व में, सब कुछ मे, इस वितान का आकुंचन (कुंचितभाव) हो रहा है। अर्थात् सब कुछ में किसी न किसी प्रकार का बाधक विद्यमान है। (बाधक = कन्स्ट्रेनिंग, कानट्रैक्टिंग फैक्टर)। यह Factor तो Rigid नहीं है। अतः सब कुछ का संकुचन—प्रसारण होता रहता है। क्षुद्र अणु से लेकर विराट—विश्व तक यही होता रहता है। प्राण-मन में भी यही है।

इस बाधक को साधारण संज्ञा दो कंचुक ! तन्त्र आदि में कंचुक का प्रसंग विशेषतः कहा गया है। यहाँ माया को मुख्य कंचुक मानते हुये देश-काल-वस्तु-सम्बन्ध (छन्दः) रूपी चनुः संस्था अथवा संस्कार (assemblage and predispo-

sition) रूपी चतुः कंचुकों की विवेचना हो सकती है। अर्थात् माया को उपादान-कारण रूप से प्राप्त कर वे चारों सृष्टि के अवम पर्व में सब कुछ के अबाधित स्वरूप-स्वभाव-स्व छन्दावस्थान के बाधक हो जाते हैं। सब कुछ से कालादि कंचुक कहते हैं "तुम अभी हो, तभी नहीं हो, यहां हो, वहाँ नहीं हो, इस प्रकार से हो—उस प्रकार से नहीं हो, इस सम्बन्ध में हो—उस सम्बन्ध में नहीं हो।"

जिस कारण से कन्चुक में संकुचन-प्रसारण की वृत्ति है (जिससे आवृत्ति amplitude of osciliation इस विशेष आकृति को प्राप्त करता है), उससे यह प्रतीयमान होता है कि अवमपर्व में यह आवृत्ति दो परिसीमाओं की ओर अभिमुख हो रही है। प्रथम है 'स्वयं को और अधिक मिला लो' द्वितीय है 'स्वयं को और अधिक समेट लो'। प्रथम है महान् की ओर द्वितीय है अणु की ओर। इन दोनों की पराकाष्ठा है नाद तथा विन्दु।

यही अवमपर्व है। नादविन्दु समस्त की चरम परिसीमा अथवा पराकाष्ठा है। फिर भी व्यवहार क्षेत्र में इन दोनों पराकाष्ठा पर्यन्त कुछ भी, कोई भी नहीं पहुँचता। अन्तराल में (In the intervening Position में) मानो कंचुक बाधा को 'ठेल कर' अथवा 'ठुकराते हुये' अवम पर्व ही संकुचत-प्रसरत हो रहा है। देशकालादि चतुष्क का Interval आदि सम्बन्धबन्ध जाल में पतित सा पड़ा रहता है। संकोच तथा प्रसार रूप उभय दिक् में पर-पर सेतु सन्धि एवं मेरु (क्रिटिकल प्वाईन्ट और Phases) रहते हैं जैसे संकोच। कुछ दूर तक यह परिलक्षित होता है कि वस्तु क्षुद्र तथा ह्रस्व होती जा रही है। इस बार एक 'मेरु' मिला। तब क्या होगा? यद्यपि वस्तु आयतन में (Space Measure) छोटी प्रतीत हो रही है (जैसे ऐटम), तथापि उसका शक्तिक्रम क्रमशः महान् महत्तर होता जा रहा है। इस यात्रा की अन्तिम घाटी (मेरु) है विन्दु। इसमें संकोच-प्रसार, दोनों ही निरतिशय (शून्य-पूर्ण) रूपेण प्राप्त होते हैं।

अब यह देखो कि जमादि साधन मात्र में ज्ञात हुई अवमा रूपी संकुचत्-प्रसरत् आवृत्ति। उसे पराकाष्ठा में लाकर स्थित करो। उपाय? अवम् तथा मध्य के वर्ण का सम्प्रसारण, अर्थात् अऊम। अब अवमावृत्ति में जो कोणत्व किंवा कोणिकत्व है, उसे जान लो। परम का जो अवतरण (Descent) अवम् में अऊम के माध्यम से होता है, वही है सृष्टि! इसकी विपरीत अवस्था है लय। अवतरण = 'यह' प्रत्यय मे आना, अर्थात् "यह आया" इस प्रकार की स्थिति। उत्तरण में 'वह' रूपी जो प्रकृति है, उसमें वापस लौटा। 'तत्वमसि'!

प्रकृति की भावना अपरा, परा तथा परमा रूप से करो। सृष्टि तथा लय में भी यही त्रिविध भावना है। जैसे जप। जप की वैखरी अथवा पश्यन्ति भूमि का उदय होने पर वह सृष्टि अथवा अभिव्यक्ति की भूमि है। मध्यमा तथा परा को

लयभूमि कहा जाता है। सृष्टि की इन दोनों भूमियों में से वैखरी अवमा है और पश्यन्ति को उत्तमा कहा जाता है। लय में मध्यमा को मध्यमा ही कहते हैं, क्यों कि मध्यमा है धूः स्थानीय। परा को परमा प्रान्तगा कहते है। गायत्री आदि जप में इस सूक्ष्म भेदों को कार्यतः याद रखना चाहिये। कण्ठ आदि द्वारा प्रयत्न के साथ किये गये जप को वैखरी जप कहते हैं। इसमें मानस जप भी है, क्योंकि मानसिक जप में भी कण्ठ आदि सूक्ष्मप्रत्यय स्थित रहते हैं; पश्यन्ति जप इन सब कंचुक से मुक्त है। मध्यमा में वाक् (साथ-साथ प्राण एवं चित्त) प्रत्यय का लय हो जाता है। परा में प्रकृतिलय साधित होता है। उक्त प्रकृति को कला-नाद-विन्दु की समानाधिकरणता (एकता व स्थान) कहा गया है। परमा तो इन तीनों के अधिष्ठान में रहने पर भी अतीता एवं तुरीया है।

अब अवतरण-उत्तरण की इन प्रदर्शित भूमियों के एक साधारण वृत्ति व्यापार को लक्ष्य करो। वह क्या है? वह "मोड़ घुमाना"। जिस प्रकार से जिस ओर जो छन्द गतिशील है, वह घूम गया। उसमें Turn, re-orientation घटित हो गया। यही है सेतु-सन्धि-मेरु ! यह जो 'मोड़ घुमाना अथवा 'घूम जाना' है, यह सृष्टि में तथा सृष्टि प्रत्यय में एक मौलिक व्यवहार कहा गया है। पूर्वसूत्रालोचिता 'अर्द्धा' इस व्यापार की निर्वाहयित्री है। इसके फलस्वरूप अक्षरपरम (Absolute unchanging Reality) ही गति तथा ऋद्धि (Movement and evolution) रूप से अपना कल्पन करते हैं और इसी रूप में स्वयं को देखते हैं। परमवस्तु ही 'उत्तम' रूप से (भगवत्तारूपेण) क्षराक्षर धारा प्रवाहित करते हैं। क्षराक्षर रूपी द्वन्द्व के क्षर द्वन्द्व से अतीत रहते हुये और अक्षर द्वन्द्व के साथ 'उत्तम' रूप में स्थित होकर भगवान का प्रशासन चलता रहता है। यह जो परस्परतः प्रतियोगी और द्वन्द्वस्थित (opposed and polarised) क्षराक्षर है, वह परम एवं उत्तम की अपेक्षा अवम है। यह अवम पर्व पूर्वोक्त 'मोड़ घूम जाने' के कारण आवृत्ति आकृति को प्राप्त होकर 'कोण' बन जाता है।

जैसे एक ध्रुव अक्ष (asix) किसी निर्दिष्ट तल (Plane) में स्थित है। अब उसके एक ओर के विन्दु को स्थिर (अक्षर) रखते हुये उसे अन्य तल में ले जाया गया (क्षर)। यहां तल कहने पर साधारणतः देशसंस्था (पोजीशन) का द्योतन होता है। अब यदि इस अक्षराक्षर सम्बन्ध को माप में (जैसे इसकी यहां तक अवधि है) देखना पड़े, तब कोण (Circular Measure) आदि की उपलब्धि होने लगती है। यह देखो कि एक ध्रुव अक्ष कोण के रूप में किस प्रकार से परिणत होता है। यह जो कोण है इसे समस्त क्षराक्षर प्रपंच में विविध आकृतियों में पहचान लो। केवलमात्र जड़ परिच्छेद (intrinsic geometry) इत्यादि में ही नहीं, प्रत्युत् मन्त्र यंत्रादि में भी इसी प्रकार से इसे पहचानों। यन्त्र में सरल, सम,

विषमादि कोणता स्पष्ट रहती है। मन्त्र में जैसे ह्रीं बीज को लो। यहाँ 'ई' स्वर में जो लम्बगा ऋजु वागवितान (Straight, upright Continuos Sound) है, वह चन्द्रविन्दु योग द्वारा क्या हो जाता है? 'ह र' इत्यादि कलाओं को पहले नाद में आहरण करते हुये, उस नाद को पुन: विन्दुमुखीन करते हुये, सर्वान्त में विन्दुलीन करने लगता है यह चन्द्रविन्दु! वैसे तो अनुस्वार में विन्दु प्रवणता रहती है, किन्तु चन्द्रविन्दु में पूर्वोक्त आहरण एवं आनयन घटित होता है अर्थात् पूर्ण आवृत्ति होती है। अनुस्वार दे देने पर कोण की साधारण डिग्री ज्ञात होती है। चन्द्र-विन्दु दे देने पर Circular measure, amplitude इत्यादि का द्योतन होता है। अनुस्वार है स्थूल, चन्द्रविन्दु है सूक्ष्म।

शुद्ध अखण्ढ नाद तथा शुद्ध अखण्ड विन्दु में कोण नहीं है। यदि है भी तब वह नाद में असीम है, विन्दु में शून्य कोण रूप है। इन दोनों की पराकाष्ठा में जो कला (evolving and evolved) है, उसमें कोण है। उदय, विलय तथा वितान में है। आधार-अधिष्ठान में नहीं है। निष्ठित संश्रय में भी नहीं है। लक्ष्य करो कि 'अन्यथा' अथवा अन्यरूप होने को ही 'कोण' नहीं कहते। अवम में अथवा द्वन्द्वस्थ क्षराक्षर प्रपंच में आवृत्ति के साथ जो अन्यथात्व (देश-काल में, वस्तु तथा आकृति में) है, उसे कोण कहते हैं।

इस मूल लक्षण को याद रखते हुये कोण की पंचधा विवेचना की जाती है। जैसे ऋजु, सम, सुषम, विषम तथा संकीर्ण। जैसे एक निर्दिष्ट संस्था (given condition of Being) है। यह जब तक एकान्तिक रूप से अक्षर ध्रुव (absolute constant) है, तब तक इसमें कोण नहीं रहता। इसका अन्यथाभाव (Change) घटित हो जाने पर (जैसे गतिरूप होने पर) क्या होगा? जब तक गति पूर्णत: अखण्ड एवं ध्रुव (Absolute Continuous and Constant) है, तब तक इसमें कोणवृत्ति नहीं रहती। अब देखो कि इस निर्दिष्ट संस्था को एक विन्दु माना गया और इसकी गतिरेखा को एक सरल रेखा का रूप दिया। सरल रेखा ने संकल्प किया "मैं आवृत्तिमान हूँगा। किन्तु यह एक शर्त्त पर अर्थात् मैं अपने मूलगात्र वाले विन्दु के पूर्णत्व तथा शून्यत्व को बचाये रखकर ही आवृत्ति स्वीकार करूँगा। अर्थात् आवृत्ति पूर्ण होगी। परिणामत: मैं जिस संस्था में हूँ, उसकी कोई च्युति नहीं होगी"। इस प्रकार की आवृत्ति से जिस कोण का उदय होता है, वह है ऋजुकोण। यह केवल रेखा विज्ञान की बात नहीं है। जप में विन्दु स्थितता, नादवाहिता एवं कलाकलितता के द्वारा ऋजु कोण का परीक्षण करो। प्रथम दो में जपजन्य जो कुछ आवृत्ति है, जो (पूर्वनिर्देशानुसार) 'पूर्ण तथा शून्य' होकर विन्दु नाद को सम्यक् अनन्यथात्व में ही रखती है, वह प्रसज्यमान 'कोण' लक्षण के अनुसार ऋजु होगी। कला कलन में समसुषमादि प्रसज्यमान है।

अब देखो कि प्रथम दो की जो सरल रेखा है, (और उसमें निष्ठ जो ऋजु कोण है) उसमें पूर्व सूत्रालोचित 'अर्द्ध' आविर्भूत होकर कहता है "तुम दिङ्मान को स्वीकार करो, जैसे एक ओर धन दूसरी ओर ऋण !" रेखा ने कहा "अच्छा ! परन्तु यह कैसे करूँ, यह नहीं बतलाया ?" अर्द्ध कहता है "कहता हूँ । विन्दु को मध्य में स्थापित करके उभय दिशा में दोनों ओर गतिमान हो जाओ ।" रेखा उत्तर देती है " चलूँगी तो, किन्तु टेढ़ी हो जाऊँगी तब ?" । अर्द्ध समाधान प्रस्तुत करता है "उसकी व्यवस्था कर देता हूँ । मध्य के विन्दु को सम्यक् केन्द्र बनाकर सीधे उपर की ओर उठ सकोगी ?" यह हुआ लम्ब । एक और दिङ्मान है जो स्वयं साक्षी रहते हुये, उदासीन रहते हुये दोनों ओर (धन-ऋण, उदय-विलय) की गति को सम्यक् सुषय तथा ऋजु होंने की प्रतिश्रुति (Sanction) देता है । कहता है "तुम दोनों और समान दूरी बनाये रखकर जितनी भी दूर चलो, मुझसे समान दूरी बनाये रखकर चलो ।"

गतिसंस्था इस प्रकार की समता की जो प्रतिश्रुति देती है, वही है समकोण । स्वयं ऋजु, उदासीन, साक्षी हुये बिना यह प्रतिश्रुति कोई भी नहीं दे सकता । क्या यह सब केवल ज्यामिति की बात है ? जप में आर्जव लक्ष्य तथा भाव में आर्जव लक्ष्य होना आवश्यक है । दोनों में ही आवृत्ति (उठना-और नीचे जाना) घटित हो रही है । कोई भी साधारणत: Even, Homogenous, Continuous Process नहीं है । फिर भी किसी-किसी ध्रुव आधार में (जैसे नाद में) इनकी ऋजु स्थिति होना आवश्यक है । इसलिये पूर्व विवृत्ति के अनुसार ऐसे ध्रुव आधार को 'सम' रूपेण उपलब्ध करना एवं रखना आवश्यक है । जैसे गायन में अस्थायी स्वर अथवा स्वर संहति । ताल में, ताल के अन्तराल क्रम में गति रहती है, तथापि ताल में जो 'सम' है, वही है ताल का Keypoint, छन्द का समता विधायक !

चित्तवृत्तियाँ अनगिनत प्रकार की हैं । उनमें से अध्यवसाय अथवा निश्चयात्मिका 'धी' समकोणी सम्बन्ध की रक्षा करती है । एक ओर ऋजु, दूसरी ओर सुषम, इन दोनों के मध्य के योगक्षेम की रक्षा करता है सम । इसलिये समस्त ऋजु अथवा सुषम व्यापार समीकरण सूत्रों में सहजता से आ जाता है । ऋजु तथा सुषम के मध्य के भेद को पहले दिखलाया जा चुका है । रैखिक व्यवहार में वृत्त, वृत्ताभास, उर्मि इत्यादि विषम गोष्ठी मे नहीं गिने जाते किन्तु वे सुषम गोष्ठी में माने जाते हैं । इन सभी का समीकरण सूत्र (Equations) है । जप, भाव, ज्ञान, समस्त साधन में सम को रखकर ऋजु-सुषम रूप अन्योन्य उपकारक आकृति में कर्म करना पड़ता है । इस सूत्र को सम्मुख रखकर पुन: इस गायत्री लेख प्रभृति की परीक्षा करो । इस आकृति में आधार निरूपकादि (Basic-coordinates) को पुन: अलग करते हुये पहचानो ।

सुषमकोण को और अच्छी तरह से समझने के लिए एक पद्म से समदल दो पंखुड़ियाँ लो और उनके उर्ध्व एवं अधः कोणों को देखो। किसी भी सुषम तरंग श्रेणी की कला (Phases) का परीक्षण करो। विश्लेषण में 'पाई' 'साईन' इत्यादि समतारक्षक परिमाप तथा अनुपात का प्रशासन रहता है। समस्त सुषमस्पन्द (प्राण तथा चित्त के सुषमस्पन्द) इस प्रकार के छन्दः प्रशासन में आते हैं। इस प्रकार के समतारक्षक ही (समीकरण सूत्र के संयोजक) छन्दः प्रशासन के अभाव में विषमकोण हो जाते हैं। इसे मात्र ज्यामितिक दृष्टि से ही मत देखो। वाक्-काय-चित्त-प्राण, सब में वृत्ति एवं संस्कार की गाँठ बाँधकर abnormality, morbid complex इत्यादि की सृष्टि विषम कोण ही करता है। इस विषम स्थल एवं अनुपात प्रभृति को सुषम-ऋजुता में लाना ही है शुद्धिसाधन।

संकीर्ण संकर होता है असम (असमीकरणीय) के कारण ! मिलन, मिश्रण मात्र ही संकर नहीं है। मिलन मिश्रण में जो समन्वय संगतिसूत्र (प्रिंसफल आफ हारमोनिक रिलेशन, Congruity, compatibility) है, वह सावकाश न होने पर संकीर्ण हो जाती है। सुषम तथा सुषम में पारस्परिक असंगति के कारण भी संकीर्णतापत्ति हो सकती है (जैसे मधु एवं घृत असंगत मात्रा में)। संगति से जप, भाव इत्यादि समस्त में, समय-समय पर दो सुषम के द्वारा ही विषम उत्पन्न हो जाता है। जैसे यह मन्त्र-वह मन्त्र, यह गुरु-वह गुरु, यह भाव-वह भाव इत्यादि। सुषम-विषम में, विषम-विषम में संकर तो है ही। इन सब में अभीष्ट जो है, उसे इस जाल से मुक्त करो। अलग कर लो। सड़ा-गला आम फेंक कर अच्छा आम खाओ। एक टोकरी आलू में से दो एक सड़ने लगते हैं, उन्हें फेंकों, नहीं तो दो दिनों के बाद सारा आलू सड़ जायेगा ! 'संकरो नरकायैव'-संकर अत्यन्त खतरनाक होता है।

संकर को शंकर बनाने के ही लिए यह जपादि रूपी शुद्धिसाधना की जाती है। व्याहरण में वाक् की जिस मात्रा में समता-सुषमता साधित होती है, प्राण तथा चित्त भी उसी मात्रा में संगति साहित्य को प्राप्त हो जाता है। मन का जो श्रद्धा-भाव है, वही इस सम्पादन का सम्पाद्य है और सम्पादक भी है। परवर्त्ती एक सूत्र में (१० में) कोण या प्रकार भेद अन्य प्रकार से भी प्रदर्शित होगा। बीच के सूत्रों में काष्ठा का प्रसंग उल्लिखित है।

६. मर्यादासमतायां सोमार्द्धकला ॥

मर्यादा की समता घटित होने पर कला का जो रूप होता है, उसे सोमार्द्धकला कहते हैं ॥

> वृत्तनेमिस्तदंशो वा विशिनष्टि गतिं स्थितिम्।
> नेमिमुद्दिश्य मर्यादा-साम्ये सोमकलार्द्धकम् ॥ ६७ ॥
> सोमार्द्धकलया विश्वे सौषमेण हि वृत्तता।
> अमां राकामभिप्रेत्य सौषुम्नं यच्च वर्त्तनम् ॥ ६८ ॥

जो कुछ भी वर्त्तिल है, वह है वृत्त। रेखाविज्ञान में जिसे वृत्त कहा जाता है, वह इस सामान्य का विशेष दृष्टान्त है। कुछ भी वर्तित (when happens, becomes, exists) होने पर पूर्वोक्त मर्यादा तथा अभिविधि का प्रश्न उत्थित होने लगता है। जो वृत्ति अथवा वृत्ति की सीमा प्रदान करे, वह है मर्यादा। 'यह देखो, इतनी दूर तक यह वृत्ति है अथवा हो रही है" इस प्रकार के 'अभितः विधान' की जो प्रदाता है वह है 'अभिविधि"। रेखा विज्ञान में यथाक्रमेण परिधि (नेमि) अथवा curve of specification, उसका व्यास (अर), अथवा इस Curve का जो Martix है, general Conditions of the covering equation है, Curve का जो निरूपित रूप है या सीमा है, वह सब इस निरूपक अभिविधि की तुलना में अध्रुव (variable) हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में निरूपक विधि तो ध्रुव (Constant) है। जैसे किसी वृत्त का जो सूत्र (Equation) है, वह व्यवस्थित रहता है, किन्तु वृत विशेष की नेमि जिस सीमा मे है, वह अध्रुव है। अतः वृत्त मात्र में क्षराक्षर सम्मिलित है।

अभिविधि की चर्चा नवम् सूत्र में होगी। यहाँ यह देखो कि यद्यपि मर्यादा अभिविधि को परस्परतः विच्छिन्न नहीं किया जा सकता (जैसे निरूपित एवं निरूपक), तथापि इन दोनों को पृथक्-पृथक् करके काष्ठा प्रसंग में (as Regards limit) विवेचना की जाती है। जैसे कोई Curve! उसकी नेमि विषम है अथवा सुषम? पूर्ण सुषम होने पर कैसी होगी? किम्बहुना यह केवल ज्यामिति अथवा बाह्य विज्ञान की समस्या ही नहीं है। 'ॐ नमः शिवाय' जप रहे हो। व्याहरण की जो मर्यादा है, वह सम्यकतः सुषम कैसे होगी? व्माहरण के समग्रध्व निरूपक जिस लेखचित्र (ग्राफ) का अंकन किया, क्या वह ग्राफ सम्यक् मर्यादायुक्त (हारमोनिक, साईमेट्रिकल) तो हो रहा है? यदि उदय-विलय के सन्धिस्थल को किसी कुसुमकोरक का वृन्त (Stem) माने उस स्थिति में क्या ॐ+नमः+शिवाय ये तीनों ध्वनि अवयव (फोनैटिक फेजेस) सम्यक् रूप से वैसे सुषम सुठाम अंग रूप हो सके हैं, जैसे त्रिदल बिल्वपत्र होता है?

केवल वाह्य यन्त्रादि म ही नहीं, मन्त्रादि में भी इस प्रकार की ध्वनि, भाव मर्यादा-समता (evenness, Simplicity, purity) की ओर अभिनिवेश रखना ही होगा, अन्यथा व्याहरण 'विषम' में पतित हो जायेगा और अपनी यथार्थ समर्थ मर्यादा से वंचित हो जायेगा। यहाँ पर 'सम' का तात्पर्यार्थ है शुद्ध, असंकीर्ण तथा अव्याजविद्ध! जैसे जब कोई ग्रह सूर्य के चतुर्दिक घूम कर अपने स्व छन्द गतिवर्त्म में रहता है, तब उसकी मर्यादा सम रहती है, अन्यथा विषम हो जाती है।

किसी पदार्थ की गतिस्थिति कैसी होगी, यह किसके द्वारा विशेषित (स्पेसिफाइड) होता है? उनका जो वृत्तिलेख (curve चित्र) है, वह पूर्ण है अथवा

वह अंश के द्वारा अंकित है ? यहाँ उस वृत्तनेमि अथवा अंश परीक्षण द्वारा यदि यह द्योतित होता है कि उसमें मर्यादासमता धर्म वर्त्तमान है, तब यह निश्चित है कि वह वृत्तिरूपा कला सोमार्द्ध कला के स्वाधिकार में है। यत्किंचित् वृत्ति कला उसकी मर्यादा समता है अतः वह सोमार्द्धकलाधिकरण से च्युत है। उसे समताशोधन मे लाना ही साधना है। प्रणव तथा ह्रीं प्रभृति के शीर्ष स्थल पर जो सोमार्द्ध (चन्द्रविन्दु) विन्दु है, वह इसी सोमार्द्ध कला का स्वाधिकार सूचक तथा सरक्षक है। इसका भजन करने पर विश्व में (वाक्-काय तथा चित्त में) सर्वप्रकार की वृत्तिकला में सौषम-समता का संचार हो जाता है।

सोमार्द्ध इसलिए कहा गया कि 'अमा' एवं 'राका' (पूर्णिमा) पूर्व व्याख्यात परिसीमा में रहकर (अर्द्ध) सबकी सौषुम्न वृत्ति का नियमन करती हैं। सौषुम्न अर्थात् वह पथ किंवा ऋतम् जो सौषम (छन्दोग) को सम्यक् रूपेण धामग कर देता है। अमा तथा राका रूपी मेरुसन्धि रूप है यह सोमार्द्ध ! एक ओर पूर्णविलय दूसरी ओर पूर्णोदय। गायत्री प्रभृति के 'लेख' का पुनः अनुधावन करो। शुक्लाष्टमी तथा कृष्णाष्टमी भेद की भी भावना इस सम्बन्ध में करो। दोनों में ही सोमार्द्ध है तथापि 'सुषुम्ना' शब्द में जो दो 'उ' हैं उनकी वृत्ति उवर्ण-शक्तिदीप द्वारा देखो। स्थूल अथवा वाह्य में स्थित छन्दक्रिया को बेध वृत्ति से सूक्ष्म तथा कारण में ले जाकर एकबारगी धामग करने वाला जो समर्थ शक्तिवर्त्म है उसे ही सामान्यतः सुषुम्ना कहते हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के समर्थ, उच्च, उच्चतर केन्द्रवेधक्षम शक्ति धामाभिमुखीन आरोह में कुण्डलिनी की सविशेष जागृति आवश्यक होती है। जागृति अर्थात् सूक्ष्म-कारण शक्तिकूट का अभीष्ट प्रयोगानुबन्ध में अनुवर्त्तन।

उकार प्रसंग में सम तथा सोम शब्द का विचार करो। स्थूल के क्षेत्र में भी 'सम' शुद्ध न होने पर भी प्रायिक रूप से मिलता है। यद्यपि इसमें मर्यादा (नेम्यादि वृत्ति) सम नहीं होती तथापि समकल्प परिलक्षित होती है। किन्तु सोम तथा सोमार्द्ध ? प्रायिक किंवा आभासिक मर्यादा प्रभृति के 'सम' को सूक्ष्म तथा कारण में ले जाकर उन्हें किस प्रकार से धामपरिसीमानुवर्ती किया जाता है ? वाह्यतः जो समान अथवा सुषम के समान हैं, वे तत्वतः, वस्तुतः, किस प्रकार के हैं ? Democracy तथा Communism, ये दोनों ही मनुष्य को समान करना चाहते हैं; परन्तु वस्तुतः समान होना किस उपाय द्वारा सम्भव है ? वाशिंगटन तथा मास्को के प्लान तो सर्वनाशी संघर्ष रूप हैं ! अब बतलाओ कि नैमिषारण्य का प्लान क्या कहता है ?

यह प्लान कहता है कि तुम्हारी ये सब वाह्य मर्यादा समता संरक्षण की गतिविधि वास्तव में संरक्षित नहीं होगी। 'सम' के मध्य प्रणवस्थ 'उ' को लाकर सम को 'सोम' करो। अर्थात् अपने आत्मिक गम्भीर उत्स समूह का आसुरी ग्रंथि

मोचन करते हुये अन्हें धाम-परिसीमा समन्वयी सुर छन्दः में ले आओ, व्यष्टि-समष्टि दोनों प्रकार से। इस प्रकार से सोमार्द्ध सोमसंक्रमण के 'अर्द्ध' में स्थित होकर जीवन एवं साधन को पूर्ण शुद्ध समतानुवर्त्तिनी सुषमता (Harmony Leading Progressivily to pure and perfect oneness) में ले जाओ।

जैसे स्थूलतः कोई एक तल है। इसे एक निर्दिष्ट सरल रेखा समझो। इसका कोइ प्रान्तविन्दु कहता है "मैं गतिमान होऊँगा, किन्तु मेरी गति इस प्रकार की होगी कि हमारे गतिपथ का कोई भी विन्दु निर्दिष्ट सरल रेखा के दो प्रान्त विन्दुओं से सर्वदा समकोणिक सम्बन्ध रक्खेगा।" इसकी स्थिति गति किस प्रकार की होगी ? इस सरल रेखा के ऊपर अंकित अर्द्धवृत्त के (सोमार्द्ध के) उपर अंकित परिधि के समान। इसी प्रकार से पॅराबोला प्रभृति सुषमान्वय भी विचार्य है।

अब देखो कि इस अर्द्धवृत्त की जो परिधि (नेमि) है, उसकी मर्यादा समता की रक्षा कौन करता है ? रक्षा करता है निर्दिष्ट सरल रेखा का मध्य बिन्दु, जिसे केन्द्र बनाकर अर (व्यासार्द्ध) की अभिविधि है। यहाँ इस केन्द्र विन्दु को स्थिर रक्खो, किन्तु निर्दिष्ट सरल रेखा को मिटा दो। नेम्यर्द्ध को (उपर अथवा नीचे) रहने दो। क्या मिला ? दो प्रकार का चन्द्र विन्दु ! एक प्रकार से मिली अमा काष्ठा, जहाँ सोमार्द्धकला का विन्दु में अवसान हो जाता है। दूसरे प्रकार से मिली राका काष्ठा, जिसमें विन्दु है सोमपूर्ण कला। एक कला में विन्दुपरिसीमा है, दूसरे में है नादपरिसीमा। निर्दिष्ट सरल रेखा को मिटा देना अर्थात् पूर्वोक्त अर्द्ध समुद्भूत व्यापार को, किसी निर्दिष्ट (पर्टिक्युलर-स्पेसिफिक) तल अथवा संस्था को, 'बन्धन से मुक्ति देकर उसे सार्वभूमिकता में ले जाना। जैसे वैखरी में प्रणवजप चल रहा है। जब तक ऐसा है, तब तक सरल रेखा भूमिनिरूपक रूप से है। किन्तु जप को मध्यमादि में ले जाने पर इस भूमि में आबद्ध कैसे रहा जायेगा ? प्रणवादि बीज के शीर्ष में जो चन्द्र विन्दु है, वह इस प्रकार के अभ्यारोह की सूचना और संकेत दोनों ही दे रहा है। अतएव छन्दोगा मर्यादा समता (सुषमता) को धामगा (Leading to its purity and perfection) बनाने का उपाम दिया जा रहा है।

७. तद्धामनित्यत्वे कैलासः।

उक्त सोमार्द्ध कला का जो धाम है (संस्थान तथा प्रकाश है) यदि वह नित्य है, तब उसकी संज्ञा है कैलाश ॥

धाम्नि धाम्नि सुपर्वासौ सोमार्द्धो वृत्तिमान् यदि।
भूरादयोऽसनाद्वृत्तेः स कैलासः स्वयं सनात् ॥ ६९ ॥

मर्यादासुषमः सोमो मर्यादाविषमं विषम्।
किलासेन हि विज्ञेयं समत्वं विषसोमयोः ॥ ७० ॥

धाम की (अभ्यारोह की भूमि) परम्परा अधिरोहण (सोपान) है। यहाँ धाम से धाम में (जैसे चक्र से चक्र में अथवा वैखरी से मध्यमादि में) यदि सोमार्द्ध सुपर्वा रहता है, तब उसकी अनित्यवृत्ति (असनाद् वृत्ति) तथा नित्यवृत्ति रूपी वृत्तिमत्ता सम्भावित हो जाती है। जैसे वाह्यत: अमावस्या एवं पूर्णिमा घटित हो रही है अथवा साधारण जप में विन्दु मेरुस्थिति में तथा नाद मेरुस्थिति में आ रहा है। नित्य अमा तथा नित्य राका को भी वाह्यत: नहीं देखा जाता। (अर्थात् सर्वदा अमा अथवा सर्वदा राका की अवस्था नहीं रहती)। यद्यपि ये सब एक धाम अथवा कालाकाष्ठा ही क्यों नहीं हों, कला की उदय-विलय आकृति एवं छन्द में सुपर्वा (symmetry) तो रहता ही है। इस प्रकार की 'आसनादवृत्ति' विशेषित धाम समूह को 'कैलास' नहीं कहा जा सकता। जैसे तुम्हारे गायत्री जप में नादरूपी विहग 'सुपर्वा' होकर भूरादि उदय अथवा विकास के धामों को उत्तीर्ण करता हुआ 'वरेण्यं' धाम में नाद के चरम का स्पर्श कर रहा है। इस प्रकार वह 'धीमहि' पर्यन्त उस धाम का ध्याता होकर 'धियोयोन:' इत्यादि में पूर्ववत् सुपर्वा रहते हुये विलय-नादावस्था में विन्दु शयान हुआ। इस प्रकार से सुपर्वा होने पर ही सोमार्द्ध कलारूपिका मर्यादा समता प्राप्त होती है। फिर भी ये सब अनित्यवृत्ति हैं, अत: कैलास धाम अधिगत नहीं होता।

यदि सामान्यत: धाम समूह को भू:-भुव:-स्व: प्रभृति श्रेणी में मानों, तब उन उन में कैलास संज्ञा को एक-एक गौणी वृत्ति ही मानना पड़ेगा। जैसे भू: कैलास, स्व: कैलास ! इन गौणी वृत्तियों में नित्यत्त्व नहीं है। जिसमें है, उसे मुख्यवृत्ति में कहो 'स्वयं कैलास'। प्रथम तीन कैलास हैं Relative, Approximate। चौथा (तुरीय) स्वयं कैलास है final और Absolute, प्रथम तीन का अनित्य एवं आपेक्षिक होंने का हेतु यह है कि उनमें पक्षद्वय की अपेक्षा विद्यमान रहती है। जैसे सोम (अमृत) एवं विष।

जो मर्यादासुषम है, वह है, सोम (अमृत)। जो मर्यादा विषम है उसे कहते हैं विष। इस स्थिति में यह परिलक्षित होता है कि हमारे व्यवहार की समस्त भूमियों (धाम) मे इन दोनों का अनुपात वैषम्य तथा प्रतिद्वन्दिता विद्यमान है। देवासुर के सागर मन्थन में यही रूपक दिखलाया गया है। फिर भी दोनों अवरोध को समता में मिलित करने वाला एक तुरीय धाम भी विद्यमान रहता है। जैसे शिवशंकर के भाल पर सोमार्द्ध (अमृत) है और काष्ठा में है कालकूट। जप में वैखरी में (कण्ठ से) समुद्भूत जो विषमता है, वह मध्यमा के माध्यम से पश्यन्ति-परा (भाल एवं शिर में) में समुद्भूत (sublimated) होकर सोम-मात्रा एवं सामरस्य प्राप्त करती है। जैसे हमारे जीवन में वेदना एवं पुलक। यद्यपि ये दोनों परस्परत: विरुद्ध रस हैं, तथापि एक ऐसा गम्भीर चेतनाधाम अवश्य है,

जहाँ ये दोनों सम्मिलित हैं और समास में स्थित हैं। सागर के वक्ष पर कभी-कभी तूफान आता है, कभी-कभी विराम होता है, किन्तु सागर की गम्भीरता में ?

वर्त्तमान सूत्र में इस समरस समता के धाम को कैलास संज्ञा प्रदान की गयी है। शंकर के ध्यान में महा अहिभूषण, सोमार्द्धधारी, गंगाधार इत्यादि भावों में इस कैलास धाम का संधान प्राप्त करो। 'कैलास' यहाँ अश्वयमेव एक पर्वतविशेष नहीं है।

'क' आदि व्यंजन है। यहाँ आनन्द ब्रह्म की आदिम अभिव्यक्ति है। 'इ' के योग से गतिरूपा वृत्ति हो जाती है। यह सृष्टि स्थिति में द्वन्द्वभाक् (in polarity, opposition) है। फलस्वरूप सुषम-विषम, सोम-विष का विरोध परिलक्षित होता है। द्वन्द्व में, विरोध में, रस भी अलसितवत् हो जाता है। यह अलसित विषम जब सुषमाभिमुख होता है, तब यह है उल्लसित। सुषम में विराजित होने पर है विलसित, तथापि स्वलसित (अखण्ड समरस में समीकृत) हुये बिना पर्यवसान ही नहीं होता। अत: क+इ=किलास शब्द को इस प्रकार स्वलसित समरस समावृत्ति धाम सूचक के रूप में देखो।

८. तद्धामभूयस्त्वे मानससर: ॥

(जो सोमार्द्ध कला का धाम है, उसके नित्यत्व विवक्षा की संज्ञा यदि कैलास है तब) इस धाम का भूयस्त्व समझाने के लिये मानससर संज्ञा होती है॥

मानसं सर इत्येव सर्वधामसु भावय।
मर्यादामध्यगा यत्र हंसस्वच्छन्दवृत्तिता ॥७१॥
रावणं दौर्म्मनस्यं स्यात् सौमनस्यञ्च मानसम्।
मानसयोनिसंवादे ततोभूयस्त्वमीरितम् ॥७२॥

छान्दोग्य के नारद सनत्कुमार (मानस योनि) संवाद में भूमा के अन्वेषण में 'ततोभूय:' (और आगे बढ़ो) का प्रयोग किया गया है। नित्यधाम के अन्वेषणार्थ यही है भूय: क्रम। नित्य के लक्षण को व्यापकतर कर लेने पर तुरीय स्वलसित आनन्द के समान ही विलासित आनन्द में भी नित्यता आ जाती है। यही लीला जब माधुर्य परिसीमा में आती है, तब है व्रजधाम।

कैलास धाम अथवा वज्रधाम, जिस प्रकार धाम परिसीमा को क्यों न ग्रहण करें, उस धाम में उपनीत होने के क्रम में 'ततोभूयस्त्व' धर्म विद्यमान ही रहता है। जिस अभीष्टधाम में जिस मर्यादा की परिपूर्णता है, वह साधना में कैसे प्राप्त हो सकती है ? वह प्राप्त होती है तत्सम्बन्धित अभिविधि सौष्ठव के द्वारा। अभिविधि ही किसी भी क्रम को उसके उपक्रम-अनुक्रमादि रूप में उत्तरोत्तर ले जाते हुये उसे उसकी मर्यादा सीमा पर्यन्त पहुँचा देती है। क्रम के अभिमुख्य अथवा अभिमुखीनता

को 'ततोभूय:' रूप से जो चरम मर्यादा में ले जाने की विधि अथवा विधान प्रदत्त करे वही है अभिविधि ।

जप की मर्यादा क्या है, अभिविधि क्या है, इसे विचार करके देखो । अभि-विधि = Law of Progressive Realization of and End एक सरललेखा और एक ध्रुवविन्दु है । यदि एक विन्दु यह विचार करे कि "मैं इस समय ऐसे मार्ग पर चलूंगा जिससे हमारा गतिपथ ठीक पैराबोला की मर्यादा प्राप्त करे" तब उसे एक निर्दिष्ट अभिविधि (Equation) का अनुसरण करते हुये चलना होगा । जपादि साधना में भी ऐसा ही होता है । वह साधना क्या है ? बारम्बार 'ततोभूय:' रूप से साधना करके पहले परा में (बिन्दु में) अभिसम्पन्न होना और अन्त में परापारीण परम में अभिनिष्पन्न होना । इस साधना में यह 'अभि' दो अभिविधि का निर्देश दे रहा है ।

अभिविधि ही किसी क्रमगति को मर्यादानुरूपा और मर्यादामध्यगा करती है । अणुगा होने पर ही सब कुछ संवाद में और संगति में आता है । 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' । इसकी कृपा से आकृति भी समान हो जाती है, तभी मध्यगा (अन्त-रंगा, रासमण्डल) स्थिति प्राप्त होती है । किसी भी धाम की मर्यादा के सम्बन्ध में इन आन्तरंगा एवं बहिरंगा वृत्तिद्वय को समझ लो । गुरुधाम, इष्टाधाम प्रभृति में भी । "मेरा मन भ्रमर तुम्हारे श्यामपद् नील कमल में जा रमा" । इस प्रकार के मध्यगा भाव की संज्ञा हो जाती है मानससर: । 'मानसगंगा' इसका प्रकार भेद है । 'सर:' उदय मुख्य है । गंगा में विलय मुख्यता है । किसकी विलय मुख्यता और किसकी उदय मुख्यता ? नाद की ।

सरोवर में कमल विकसित होता है । हँस भी स्व छन्द विहारी है । कमल भावध्यान का चिन्तन करो । हँस = प्राण । मानससर: भूयक्रम की एक ऐसी भूमि है । मर्यादा, (मध्यगा) जहाँ कमल भी अपने छन्द में खिलता है और हँस भी अपने छन्द: में खेलता है । जप में नादशिखर है कमल का पूर्ण विकासस्थल । उदय-विलय सेतु में नाद की स्व छन्द में गति ही हंस की स्व छन्द में वृत्ति रूपता है । रावण ह्रद रूपी दौर्मनस्य ही व्याधिस्त्यान प्रभृति योग के दौर्मनस्य में मुख्य है । और मानस सर: सौमनस्य । सुमना: शब्द से साधारणत: पुष्प का द्योतन होता है । अत: वह कमल भी है । यदि कमल ध्यानकमल हो जाये तब सौमनस्य शब्द की व्यञ्जना उसी प्रकार से समझ लो ।

पौराणिक कथानक के अनुसार रावण अभिमान के कारण कैलास धाम की मर्यादाहानि करने के लिये उद्यत हो गया । परन्तु महादेव के वाम पैर के अंगुष्ठ के दबाव से ऐसा नहीं हो सका । दक्षिण पद में पंच अँगुलियाँ हैं — दक्षिणा (अग्नि) से वृत्तिमान पंच प्राण । वामपद की पंच अँगुलिया — सोम से वृत्तिमान । वृद्धांगुष्ठ

(अँगूठा) = व्याज = व्यापक एवं सन्धि संस्थापक । इस संकेत रहस्य को समझने का प्रयत्न करो । जैसे तुम्हारा जप अधिक अग्निमात्रा में चल रहा है । फल है दौर्मनस्य । जप की विलय सन्धि में विशेष करके सोमसवन करो । करने पर दौर्मनस्य कटकर सौमनस्य अर्थात् मानससर: की उपलब्धि होती है, जहाँ प्राण भी अपने छन्द: में है और ध्यान भी ।

पद शब्द को किंचित् अन्य अर्थ में ग्रहण करो । जैसे रावण के समान तुम भी 'ऊँ नम: शिवाय' जप रहे हो । ओंकार (वामपद में) की अ, उ, म, नाद, विन्दु रूपी पाँच उँगलियाँ हैं । विन्दु है अँगूठा । जप में यदि नाद को विन्दुलीन किये बिना "उद्यत" रक्खो, तब तुम्हारा जप होगा उग्र जप । इस प्रकार के उद्धत तथा उग्र जप के द्वारा प्रपत्ति एवं समर्पण नहीं किया जा सकता । मन्त्र की पूर्ण यथार्थ मर्यादा प्राप्त नहीं होती । तुम्हारे औद्धत्य से कैलासधाम हिल जाता है । मन्त्र शक्ति और इष्टशक्ति से साहित्य नहीं होता, प्रतिद्वन्द्विता हो जाती है । साधारणत: असुरादि की तप: शक्ति में ऐसा ही होता है ।

इसका प्रतिकार ? वामपद के अँगूठे का दबाव दो । अर्थात् ओंकार का जो विन्दु है उसमें नाद को मिला लो । अब दक्षिण पद का वृद्धांगुष्ठ भी अनुद्धत होगा। अर्थात् अन्तिम 'अ' को प्लुत करके उसे विन्दुमुखीन करो ! दक्षिण पद का वृद्धांगुष्ठ = नम: । वामपद के स्थान पर दक्षिणपद के दबाव का क्या तात्पर्य है, वह भी सोचो । मदोद्धत सुरहस्ती ऐरावत के समान 'नम:' के विसर्ग को सूँड़ उठाकर रखने से नहीं चलेगा । वह तो मानो घुमाते हुये, गाल फुलाकर दांत किड़-किड़ाते हुये भीम का युधिष्ठिर को प्रणाम करना है "दादा प्रणाम" ! नम: के अन्त में जो विसर्ग है, वह आस्फालन सूचक नहीं है । समर्पण सूचक है ।

इसके पश्चात् अभिविधि को उद्देश्य करके :—

९. अभिविधिकाष्ठायां सौदर्शनम् ॥

(पूर्वकथित) अभिविधि काष्ठा में आने पर उसकी संज्ञा है सौदर्शन ॥

नेमिमुद्दिश्य मर्यादाऽभिविधिर्नाभिमीहते ।
नाभावरस्थितिक्रान्ति याम्यां व्याप्नोति विश्वराट् ॥७३॥
बाधाविरहकाष्ठायां चक्रं सौदर्शनं परम् ।
अवमेऽप्सु वाव्यादौ प्रतिरूपाणि चिन्तय ॥७४॥

भुवन चक्र की (अणु महान्, व्यष्टि समष्टि मे) दो कलायें (aspects) विशेषत: उद्दिष्ट हैं । प्रथम है नेमि (Path of movement) और द्वितीय है नाभि (origin or center of movement) । इन दोनों का सम्बन्ध घारक है 'अर' । नाभि अथवा केन्द्र को पकड़कर (उसमें स्थित होकर और उसकी शक्ति में छन्द: में) जो यथायोग्य आयोजन करे, वह है अभिविधि । नाभि में स्थिति और नाभि शक्ति

और छन्द में क्रान्ति के द्वारा ही विश्व के सब कुछ में आ+वृत्ति की व्याप्ति (Scope, sphere, Field) का भरण करते हैं विश्वराट् (महाविष्णु)। बाहर आणव-मण्डल, सौरमण्डल विश्वमण्डल एवं अध्यात्म में प्राणचित्त अहंकारादि व्यष्टि समष्टि का अपना-अपना मण्डल विशेष-विशेष अभिविधि (Relational Scheme and functional pattern) द्वारा निरूपित तथा विवृत होता है। इतने पर भी अभिविधि को कहीं भी पूर्ण मर्यादा में प्रतिष्ठित नहीं देखता हूँ। बाधा अथवा कंचुक सर्वत्र ही अपने मर्यादा संकर संकोचादि को घटित कराता रहता है। फलत: सब कुछ की आकृति कुण्ठित हो जाती है। उसकी वृत्तिसत्ता का धाम हो जाता है अवम्। जो महाविष्णु का एकान्त अपगतकुण्ठ धाम है (जहाँ कुंठा का अस्तित्व नहीं है), यदि उसे बैकुण्ठ कहा जाये, उस स्थिति में उस बैकुण्ठ की अभिविधिकाष्ठा को सूचित करने वाले की संज्ञा है सौदर्शन। अभिविधि को सूचित करने वाले की संज्ञा है सौदर्शन। अत: अभिविधि की एकान्तिका बाधाविरहरूप (बाधारहित रूप) जो परिसीमा है, वही है सौदर्शन।

जैसे वृत्त अथवा चक्र के एक शुद्ध लक्षण एवं उसके सूत्र (Equation) को अंकित किया। किन्तु वस्तुत: क्या वह ठीक है, सही है? जिस धाम में वह शुद्ध एवं असंकीर्ण रूपेण है अथवा रह सकता है, वह है सुदर्शन धाम (Realm of Archetypal Rhythmicity)।

ओंकार जप हो रहा है। बिन्दु से नाद उदित होकर अ उ म रूपी कला-वितान पूर्वक पुन: बिन्दुलीन हो गया। अर्धमात्रा की सेतु सन्धि के साथ यह आवृत्ति अष्टकला में कलिता है। सौदर्शन के बिना यह शुद्ध, समर्थ तथा पूर्ण छन्द में एवं आकृति में नहीं आ सकती। जप में 'ततोभूय:' प्रणाली द्वारा यह अभिविधि काष्ठा ही बाधाविरह काष्ठा है।

प्रतीति के अवम स्तर प्रभृति में भी सुदर्शन 'परोवरीयान्' क्रम में अन्वेषण करना ही होगा। इससे पहले वाली शताब्दी में किसी-किसी ने अविनश्वर ऐटम के उद्भव में ईथर (as perfect fluid) को एक प्रकार की सौदर्शनी चक्रावृत्ति मान लिया था। जीव क्या है, अहं क्या है, जर्मप्लाज्म क्या है, इत्यादि में भी आवृत्ति की एक नियत आकृति (enduring pattern) प्राप्त करना होगा। एकाक्षरी मन्त्र जप में भी इसे प्राप्त करना होगा। मन्त्र-यन्त्र की विशेष आकृति के समान एक साधारण तथा मौलिक आकृति भी है। वह है, तभी समस्त साधन ही सौदर्शन छन्द: प्रशासन में आना चाहते हैं। आने पर ही है बैकुण्ठ धाम। अत: अवहित होकर अवम के प्रतिरूपों की परीक्षा करो। उनके वैरूप्य को हटाकर अनुरूप प्रतिरूपादि बनाना ही साधना है। जप में वैखरी से उठकर मध्यमा के माध्यम से पश्यन्ति एवं परा मे जाना ही होगा।

१०. कोणस्य जिक्षत्वाऽजिक्षत्वे ॥

कोण का जिक्ष एवं अजिक्ष प्रभृति दो रूप होता है ॥

जपे स्याद् वैखरी नेमिरवः स्यान् मध्यमा ततः ।
मणिवज्रं च पश्यन्ती यन्नाभौ विश्वमर्पितम् ।
बाधिताः सर्वबाधाः स्युर्यया साम्नायते परा ॥७५॥
बाधाभिर्बाधितत्वे तु वृत्तं कोणत्वमृच्छसि ।
जिक्षाजिक्षत्वमायाति मणिवज्रं भिदेलिमम् ॥७६॥

जप के दृष्टान्त में नेमि आदि को दिखलाया गया है। जप की आवृत्ति में (चक्र में) वैखरी नेमि है। मध्यमा है धूः जो कि अरविस्तार का आधान तथा आश्रय है। इस धुर को घेरकर एक अभेद्य अन्तश्चक्र (Inner Impregnable Ring) अवस्थित रहता है। इस रहस्यचक्र को मणिबज्र संज्ञा दी जाती है। वहिश्चक्र (नेमि एवं उससे संलग्न अर समूह में) जिन बाधाओं (अभिघात-अपघात आदि) द्वारा निरन्तर बाधित होता रहता है (Subjcct to strains and stresses), उनका प्रतिषेध करते हुये चक्रनाभि, धूः तथा अरसंस्थान को स्थिर रखने का भार इस अन्तःश्चक्र का ही है। यह अन्तश्चक्र वाह्य उपमर्दादि एवं विघ्नसमूह के दुर्भेद्य वर्त्म का भेदन (hold out and neutralize) करने वाला एक यन्त्र है। इस चक्र में भी मात्रादि भेद रहने के कारण इसकी एक ऐसी भी काष्ठा होगी जहाँ पर बाह्य बाधा समूहों की क्रिया निवारित एवं निरस्त हो जाती है।

यही काष्ठा है मणिवज्र। यहाँ तो साधारण चक्र की उपमा दी गयी है; इसका अनुसन्धान प्रत्येक भूमि में करो। अधिभूतादि अवमस्थलों में भी इसका अनुसंधान करो। जप में, ध्यान में साधारणतः वाह्येन्द्रिय, आवरणादि संस्कार, प्राणापान की विषमवृत्ति प्रभृति दृष्टप्रत्यय (actual experience) का वैरूप्यादि घटित कराते हैं। मर्यादा की हानि एवं अभिविधि की हानि घटित कराते हैं। जो फलित होना था, वह ठीक से फलित नहीं हो सका और उसकी फलन विधि भी कुंठित हो गयी ! ऐसा तो सर्वदा होता रहता है ! उपाय ? मध्यमा रूपी धुर को पकड़ो। उस सेतु का आश्रय लो जो तुम्हें एक ध्रुव एवं निरापद और समर्थ साधिष्ठ स्थल पर्यन्त पहुँचा दे। वह स्वयं बहिः आघात द्वारा भेदनयोग्य नहीं है, अथच सर्वबाधा भेदन में क्षमतावान् है। अतः इसकी संज्ञा है वज्र। यह स्पर्शमात्र को एक (Impact-Impression) (अर्थात् 'म') मूर्धन्य धाम में (ण) ले जाने में समर्थ (इ) है। अतः यह है म + ण + इ = मणि।

यत्किंचित् शक्त्यादि के कारण जो अधम-अवम है, उसे उत्तम में उन्नीत तथा परम में पारीण कराने का सामर्थ्य होने पर ही यह 'मणि' है। इसी कारण मन्त्र के ही समान मणि को भी पातंजल आदि में योगसिद्धि का उपाय माना गया है।

ग्रहतुष्टि-शान्ति में भी यही मणि। मणि अर्थात् Commutatar and Transfarmer of energy-to higher and higher levels. कतिपय में योगक्षेम (Storing up) मुख्यत: परिलक्षित होता है, कुछ में विशेषत: विच्छुरण का अस्तित्व है (जैसे Radio Active पदार्थ)। सृष्टि अथवा उदय ओंकार में विच्छुरणी वृत्ति प्रधान रहती है। गायत्री जप में इसका सन्धान 'भर्गो देवस्य' में करो। 'वरेण्यं' में समुज्वल मणि होकर वह भर्ग के समीप स्थित हो जाती है। यहाँ उसकी संज्ञा है मणिपद्म (ऊँ मणिपद्मे हुँ)। विलय ओंकार में संवरणी वृत्ति (योगक्षेम) प्रधान है। इस वृत्ति का परिसीमा स्थल है विन्दु। अत: मणि को गायत्री आदि जप में 'पद्म' तथा 'वज्र' रूपद्वय में प्राप्त करना ही होगा। विन्दुलीनता में वज्र का निरतिशय साधिष्ठ रूप प्राप्त होता है। यहां 'स्व' (अपनी सत्ता) किसी भी अपर अथवा इतर के द्वारा वेध को प्राप्त नहीं हो सकता। पद्म में अन्य की अपेक्षा रहती है, अथच स्वमर्यादा परिसीमा की पूर्ण सम्भाव्यता है। वज्र में (विन्दुस्थल में) अन्यापेक्षा शून्य होने पर भी सामर्थ्य परिसीमा (पूर्णता) है।

वज्रादि का प्रसंग आगे विवेचित होगा। यहाँ यह कहना है कि जो आवृत्ति चक्र का मणिवज्र है, वह है पश्यन्ति भूमि। चक्र के मणिवज्रस्थल को और भी अच्छी तरह से परख लो। यद्यपि विश्व के प्रत्येक पदार्थ की (यहाँ तक कि अणु की भी) सत्ताशक्ति और सम्बन्ध तो 'आधार' में अपरिसीम है, तथापि वे संस्थान-अवस्थान के कारण एक सीमा (नेमि-मर्यादा) को अंगीकार करते हैं। इसके फलस्वरूप उनकी स्थिति, गति तथा आवृत्ति की एक विशेष आकृति परिलक्षित होती है। यह विशेष आकृति (पर्टिक्युलर पैटर्न) पुनः उनके हृद्देश अथवा केन्द्र में पदार्थ की सत्ताशक्ति की रक्षा पूर्ण घनीभाव (In utmost Concentration) से करती है। जैसे एटम अथवा प्राणिकोष में उसका न्यूक्लियस। यह उसकी सत्ताशक्ति का अक्षय भण्डार, मूल छन्द: और सम्बन्ध का आकर है। इस मर्मकेन्द्र की वह वज्र के समान अभेद्य अथवा दुर्भेद्य रूप से रक्षा करती रहती है। इसका रक्षण ही उसका अपना स्वधर्मसंरक्षण है। उसकी जाति, उसका कुलधर्म, उसकी मर्यादा उसका आश्रय लेकर ही संरक्षित होती रहती है। शक्ति ब्रह्म का परम घनीभाव = विन्दु।

अन्त:करण अथवा बुद्धि का भी इसी प्रकार का मणिकोष्ठ है। वज्र का देवालय है। योग अथवा जप में प्रत्याहार के द्वारा विक्षेप समूह को (Scattering and dissipating momenta) वज्रवर्त्म में रोककर 'ठेलकर' नव अन्तर्मानस के मणिप्रकोष्ठ में प्रवेश प्राप्त होता है। उपाय है संयम (धारणा-ध्यान-समाधि)। जपसौष्ठव तथा सामर्थ्य में भी यह लभ्य है। संयम की कृपा से अन्तश्चेतना के मणिपूर द्वार का अपावरण होते ही पश्यन्ति में गति हो जाती है। यद्यपि मध्यमा जप में हृज्जप (Hearts prayer) अनायास, स्व छन्द में प्राणरूपी जापक द्वारा निरन्तर

चलता रहता है, तथापि पश्यन्ति स्थिति में अकुंठ चिज्ज्योति के अन्तर्गत् मन्त्र-मन्त्री पूर्ण मर्यादा एवं अबाध अभिविधि में उद्भासित होने लगता है। अतः मणिवज्र स्थल ही पश्यन्ति का स्थल है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हमारा साधारण संकल्पी विकल्पी मन (पृथु) मध्यमा की अवरसन्धि में जाते ही 'तनु' हो जाता है। वह पुनः वरसन्धि में अणुरूप धारण करता है। अणु होते ही उससे आविर्भूत होता है महामानस (सुपरमाइन्ड) एवं महद् बुद्धि। इस महामानस एवं महद् बुद्धि का संन्ध्येय तथा विज्ञेय है पश्यन्ति और परा। साधारण जप के विलयपर्व में भी प्रथमतः स्थूलवाक् को, तदनन्तर स्थूल संकल्पी मन को विदा करना पड़ता है। इन उभय के अणु को प्राण ले जाता है विन्दु में। सर्व अणुत्वों का पर्यवसान स्थल है विन्दु।

अच्छा ! जो निखिल का मर्मस्थल है, उसका संगठन कैसा है ? क्या एकरूप (होमोजेनस) है ? नहीं। यदि इसे हृद्देश कहें तब उसके मध्य में है हृदय और हृदय के मध्य में है हृत्। ये सब लक्षण याद हैं न ? जैसे अ उ म में अ=हृद्देश, उ=हृदय, म (कलानाद विन्दु के साथ)=हृत्। अन्य प्रकार से कहने पर पदार्थ के मर्मस्थल में है मणिवज्र उसके मध्य में है नाभि (मणिपुर)। नाभि के मर्मस्थल में है मणिकेन्द्र और उसके भी अन्तरतम स्थल में है मणिविन्दु। मणि क्यों कहा गया, इसे पुनः स्मरण करो। इसी को लेकर ही समस्त की सत्ता शक्ति सम्बद्ध अवम से उठती हुई उत्तम में, तदनन्तर पर में उन्नीत (Sublimated) हो सकती है। श्री गुरु के ध्यान में मणि-पादुका, देवी के ध्यान में रत्नपीठ, मणिमण्डप ही क्यों हैं, इसका विचार करो। मणि तथा कांचन से अन्तर्ज्योति की भूमिका (In inner illumination) की व्यञ्जना होती है। उस 'हिरण्य' का पुनः चिन्तन करो।

जिस नाभि का वर्णन किया है उसी में विश्व व्यष्टि के समस्त अर समर्पित है। इस नाभि को आदित्यरूपेण देखने पर उसी में विश्वसमष्टि का अर भी समर्पित हो जाता है। विशेषतः अर छन्दः एवं सम्बन्ध का निर्देश देता है। किन्तु शक्ति विशेषतः कहां आहित है ? मणिकेन्द्र में—मणिपूर के आभ्यन्तरस्थ मणिसंश्रय में ! और इन सब की सत्ता कहा समर्पित है ? मणिविन्दु में। जब तक बहिः एवं अन्तः का प्रसंग चलता रहता है, तब वह यह कह सकता है कि "मैं एक साथ ही शून्य एवं पूर्ण हूँ।" ऐसे स्थल पर ही बाधा की समाप्ति होती है। सर्व बाधा जहाँ बाधित है, वही है परा (विन्दुरूपिणी)। यद्यपि यहाँ बाधा का अन्त है, तथापि इस शेष में भी कुछ 'लेश' रह जाता है। वह है अभिसम्पन्नता। ब्रह्म का 'काम' अर्थात् 'मैं इस विन्दुरूपेण अभिसम्पन्न हुआ। इसी से है परम अथवा परमा। तब है 'अभिनिष्पन्न' ! इसकी पर्यालोचना के अनन्तर पुनः कोण का वर्णन।

कोण के लक्षण का पुनः प्राणिधान करो। विश्व में आकृति एवं आवृत्ति (छन्दः) का कोण आवश्यक है। इनमें सुषम (हारमोनिक) आकृति तथा आवृत्ति के लिये कौणिक सम्बन्धों की भी सुषमता आवश्यक होती है। जैसे दो उर्मिकला। (जैसे गायत्रीजप में) इनमें से एक के चूड़ाविन्दु तथा भूमि (Base के) के दो प्रान्त विन्दुओं का योग करने पर तीन कोण प्राप्त हुये। अब अपर उर्मिकला से भी इसी प्रकार प्राप्त तीन कोण क्या पहली उर्मिकला के तीनों कोणों के साथ सम किंवा सुषम अनुपात में हैं, अथवा नहीं हैं? यदि है, तब दोनों ही उर्मिकलायें सुषम हैं। दोनों के 'साईन' 'कोसाईन' इत्यादि रेशिओ (Ratio) का परीक्षण करके, गति के ऐगुंलर मोमेन्टम का आकलन करके यह सुषमता विचार किया जा सकता है। जैसे गायत्री जप में 'भूर्भुवः स्वः' नादोर्मि अथवा कला जिस प्रकार से होती है, उसी प्रकार से 'तत् सवितुर्वरेण्यं' में नहीं होती। उर्मि की अयथा क्षीति (bulging out) अथवा अवनति (Bulging in) घटित होती हैं। वेरण्यं में एक मात्रा का ह्रास हुआ, नाद कल्पित हुआ अथवा 'झोंक' (Jerking प्रभृति) आदि से किसी विषम कोण की सृष्टि हुई। इस प्रकार से जप की दोनों उर्मिकलाओं में सुषमता नहीं रह सकी। संगीत वगैरह में इस सम्बन्ध में अवहित रहना पड़ता है। तान, मीड़, गमकादि में स्वरलहरी को तो 'खेला' जाता है, परन्तु पूर्वोक्त कौणिक सम्बन्ध के कारण सुषमभाव के अन्तर्गत रहते हुये! जपव्याहरण में गान नहीं होता, उद्गान होता है। उत् = अव्यक्त परा वाक् और मध्यमा रूपी नित्य स्फोट से उदय को और सुषम कलावितान द्वारा उस अव्यक्त परा के पुनश्च विलयन-उदय को वैखरी पर्व में वाचिक, मानसिक उपांशु रूप से साधा अवश्य जाता है तथापि उसका लक्ष्य—गन्तव्य है सेतुपार स्थित पश्यन्ति।

अतः कोण द्विविध है जिक्ष एवं अजिक्ष। इन दोनों की व्याप्ति को पूर्वकृत आलोचना के आधार पर समझना ही होगा। अर्थात् कोण सरल है अथवा सम, मात्र इतना ही दृष्टिकोण नहीं बनाना होगा, प्रत्युत यह भी देखना होगा कि दोनों कोण अथवा कोणसंहति में समता और सुषमता है अथवा नहीं है। जो कोण अनुपातादि सम्बन्ध में और अछन्दोगत्व तथा वैरूप्य की सृष्टि करते हैं वे हैं जिक्ष। जड़ में, प्राण तथा वाक् में और चित्त में जिक्षासुर अपना डेरा जमा लेता है। जो कुछ स्वर छन्द में चलता है अथवा सरल-सम सुषम में चलना चाहता है, उसमें बाधा देता है यह जिक्षासुर। मन के सहज स्वस्थ, स्वाभाविक भावों को 'बहकाकर' नाना प्रकार के विषय में बद्ध करता हुआ 'आधि' की सृष्टि करने लगता है।

जो अबाधित हैं, बाधाप्राप्त न होने के कारण स्वभावतः ऋजु हैं, वे कोण नहीं होते। यही नहीं, बाधक बाधाओं के अतिरिक्त एक साधक बाधा भी है। यह सरल को बंकिम बनाकर साथ ही साथ सुषम-सुन्दर भी करती है। ऐसा न

होने पर उस पुरातन कवि की यह अपरूप निसर्गरचना और अपूर्व छन्दोमयी लास्यमयी लीला ही संभावित नहीं होती ! तथापि बाधक बाधायें भी हैं। वे बाधायें सुषम उर्मिगुच्छ से कहती हैं कि 'तुम एकत्रित होकर पास आओ, एक दूसरे को तोड़कर चूर चूर कर दो !' फलत: जो सत्ताशक्ति का मणिवज्र है, उसके अतिरिक्त सब कुछ भंगुर है, भग्न होता रहता है ।

उपाय ? वाक् प्राणादि के साधन में मणिवज्र को साध लो। वह तो है ही, उसे पुन: साधना कैसा ? वह तो है ही, परन्तु तुम्हारे व्यवहार व्याहरण व्यापार में वह तुमसे अजिक्ष कोण में नहीं है। वह जिक्ष कोण एवं वृत्ति में है। इसी कारण तुम्हारी गति सहजत: स्व छन्दत: अपने मणिपूर में नहीं है ।

अत: तुम्हारा यह कर्त्तव्य है कि अपने काय-वाक् तथा प्राणमन को निष्ठा के साथ जपादि के द्वारा एक सुषमस्पन्द से घेरे रहना, ताकि वह तुम्हे पूर्वोक्त जिक्षासुर से मणिवज्र के समान अलग हटाकर रक्खे। 'असली' मणिवज्र की प्राप्ति के द्वारा स्वयं को भी मणिवज्र के समान करो। सदृश हुये बिना 'समान' होना कठिन है। सर्वदा स्वयं को एक Protective barrage of harmonic Vibrations द्वारा आवृत्त रखने का यत्न करो ! उन किरातवेशी शिव का स्मरण करो। किसी भी तीर के द्वारा उनको बेधा नहीं जा सकता। अभिमान मत करो। ऐसा अभिमान से नहीं हो सकता। श्रीगुरु तथा इष्टनाम की शरण लेने तथा समर्पण द्वारा ऐसा सुसिद्ध हो जाता है ।

इस युग की जो आसन्न 'महती विनष्टि' है, (एटम, हाईड्रोजन बम्ब) उनसे रक्षा प्राप्त कर सकने का यही है एक मात्र उपाय ! एक दुर्भेद्य Shield of Supersonic, Superzoic, Superphysic Vibration की सृष्टि करो व्यष्टि मे तथा गोष्ठी में ।

व्यापक, अव्यापक रोगों के विष बीजाणु को भगाने के लिये सक्षम 'देहदुर्ग' के गठन का तो सब कोई परामर्श देते हैं, किन्तु अन्तर्दुर्ग ? उत्पात पाकजनित जो महोपसर्ग हैं, उनके शमन का उपाय क्या है ? क्या यह नहीं सुना कि एक महात्मा गभीर वन मे आसनस्थ रहते थे। चतुर्दिक दावानल में सब भस्म हो गया परन्तु उनको वह दावानल स्पर्श भी नहीं कर सका ! तूफान की वृष्टि में सब विध्वस्त हो गया, परन्तु उनके अपने घेरे में कोई भी उपद्रव नहीं हुआ ! पद्मा नदी की बाढ़ में ग्राम नगर तो बह गया, परन्तु वह जलोत्पात उनके पुण्यमय आश्रम के चरणों को छूता हुआ, पद प्रान्त का स्पर्श करता हुआ, वापस लौट गया ! जपादि साधना का उद्देश्य है अधिभूतादि क्षेत्रत्रय में भी अपना एक निजस्व मण्डल निर्मित करना जो पूर्णत: मणिवज्र न होने पर भी कम से कम उसी के जैसा हो ! आजकल Strontium 90 आदि में जो नाशकारी रेडियेशन उपलब्ध हो रहा है उसके समर्थ

प्रतिषेध का उद्भावन अपनी प्रयोगशाला में करना ही होगा। वह क्या है? विचार तथा परीक्षण करके देखो ! यह सर्वदा स्मरण रखना होगा कि जिक्ष एवं जिक्ष मिल कर ही जुड़ते है। अजिक्ष एवं जिक्ष सहज ही नहीं जुटते। भुजंग (साप) मरने पर ही सीधा होता है।

आगे के सूत्रद्वय में मर्यादाकाष्ठा का वर्णन किया जा रहा है। सोमार्द्धसूत्र में मर्यादासमता विवेचित हो चुकी है। 'समता'=विसदृश विरूप विषम न होना। Identical तथा Similar का अर्थ समता ही है। Homologous शब्द को व्यापक तात्पर्य में ग्रहण करने पर, यह भी 'सम परिवार' में प्रयुक्त होता है। जैसे ह्री एवं ऐ ध्वनि। दोनों में ही 'इ' ध्वनि है तथापि विषम हैं। अतः दोनों में ही सोमार्द्ध (चन्द्र विन्दु) लगाओ। समता होने पर Homologous Sounds.। ऐसी स्थिति हुये बिना अनेकाक्षरी मन्त्र का गठन नहीं हो सकता। काष्ठा ही सीमा अथवा पूर्णता का संवाद देती है। अभिविधि तथा मर्यादा विचार से काष्ठा द्विविध है। अब मर्यादा काष्ठा की सूचना दी जाती है :—

११. मर्यादाकाष्ठायां पूर्णकला पौर्णमासी ॥

(समता मे सोमार्द्ध कला। इसका स्मरण करते हुये कहा जा रहा है) मर्यादाकाष्ठा में कला पूर्णता प्राप्त करती है। उसकी संज्ञा हो जाती है पौर्णमासी ॥

पहले गायत्री प्रभृति के विचार से पूर्णिमा अमावस्या, अष्टमी इत्यादि तिथियों का विचार किया गया। किसी मन्त्राकृति को दिन, पक्ष, मास, संवत्सरादि भिन्न-भिन्न, अक्षय अन्योन्यापेक्ष दृष्टि परिमाप से देखा जाता है। यही होता भी है।

प्रत्येक जप में उदय एवं विलय रूपी पक्षद्वय की स्थिति उपलब्ध होती है। साथ ही प्रत्येक जप को अभिविधिप्रधान और मर्यादाप्रधान भाव से देखा और दिखलाया भी जाता है। यह स्मरण रखना कि यद्यपि अभिविधि नेमि के (मर्यादा के) द्वारा अरविस्तार करती है, तथापि वह नाभिमुख्य है। मर्यादा अर के द्वारा नाभि में विधृत एवं संयुक्त अवश्य है, फिर भी वह नेमिमुख्य किंवा सीमामुख्य है। यहां जप को उसकी समस्त कलाओं की पूर्णता में दिखलाना एक स्थिति है। दूसरी स्थिति है उसकी नाभि में (विन्दुस्थल में), उदय में, वितान में विलय में संश्रित रूप से दिखालाना। यद्यपि दोनों आकृतियों में भेद नहीं है, तब भी दृष्टि भेद है। एक है उन्मीलन दृष्टि अर्थात् समस्त कलाओं को पूर्ण देखूँगा। दूसरी है निमीलन दृष्टि अर्थात् यह देखना कि समस्त कलायें बिन्दु से ही उदित होकर पुनः उसी में मिल जाती हैं। प्रथम है सब की पर सीमा देखना, द्वितीय है निष्कल की स्वगरिमा का प्रत्यक्ष !

इस सूत्र में साकल्य परिसीमा पौर्णमासी विवेचित हो रही है। अच्छा ! चन्द्र में १५ कलायें हैं? पन्द्रह ही नहीं, एक नित्या कला भी है। अर्थात् १६। श्रुति

कहती हैं 'षोडशकल: पुरुष:' । क्या यह सोलह सब कुछ में हैं ? जैसे ओंकर में । पहले ओंकार की अष्टकला का वर्णन हो चुका है जैसे विन्दु, उदयसेतु, उदितनाद, अ, उ, म, विलयनाद, विलयसेतु । कला = Phases of function. विन्दु तत्वत: चाहे जो कुछ हा, तुम्हारी भावना एवं चर्या (व्यवहारतः) में उसका कहाँ अव-स्थान है, मध्यमा में अथवा परा मे ? हृदय में अथवा मूल में ? जैसे मध्यमा का 'धुर' बनाकर एक आवर्त्त में वैखरी जप होता है, उसी प्रकार अन्य आवर्त्त में है पश्यन्ति जप । जपध्यान के जिक्षकोणों को अजिक्ष बना लेने पर आवर्त्त परिवर्त्तित हो जाता है । विशेषत: पश्यन्ति है सुषम की भूमि । परा है सम की भूमि । जो Harmonic है, वह Hormogeneous होने लगता है । यहाँ विन्दु का तत्वत: अव-स्थान परा में अवश्य है, तब भी कार्यत: वैखरी जप में मध्यमा भी विन्दु में आ जाती है । अत: जप के इस द्विविध अवस्थान विचार से ओंकार की अष्टकला ८ × २ = १६ कला हो जाती है ।

यह षोडशकलत्व अन्य-अन्य दृष्टि से भी प्राप्त होता है । जैसे गायत्री जप । विन्दु से लेकर उदय-विलय के दो सेतु और उदय विलय के दो ओंकार तथा गायत्री के चतु:पाद = अष्टकला । अब देखो कि प्रत्येक सेतु की दो सन्धियाँ हैं । अत: दो सेतुओं की सन्धियाँ भी चार हो जाती हैं । अब उदय-विलय के दोनों ओंकार तथा गायत्री के चतु:पाद, इन छ को उर्मि आकृति में ग्रहण करने पर प्रत्येक के चूड़ा-विन्दु तथा सानुविन्दु को समझना एवं ग्रहण करना ही होगा । अत: ६ × २ = १२ । इस १२ को दोनों सेतुओं की ४ सन्धि से जोड़ो = १६ । अब ॐ नम: शिवाय में देखो । यह मन्त्र षडक्षर है । किन्तु जप व्याहरण में प्रणव तथा अन्य दो पाद है । प्रत्येक को पंचकला में व्याहृत करना समीचीन प्रतीत होता है । पंचकला का तात्प-र्यार्थ केवल पंचमात्रा से नहीं है । जैसे ओंकार में अ-उ-म रूपी कलात्रय के अतिरिक्त नाद-विन्दु अवश्य ही रहते हैं, उसी प्रकार 'नम:' पाद में 'न, म तथा विसर्ग' के अतिरिक्त नाद-विन्दु का रहना भी उचित है । ऐसा ही 'शिवाय' पाद में समझना चाहिये । अब ॐ कार के अ + उ + म + नाद + विन्दु ५; नम: के न + म + : + नाद + विन्दु = ५, शिवाय + नाद + विन्दु = ५ = १५ इन १५ के अतिरिक्त एक अमा अथवा नित्यकला भी रहती है, जो जप में मूल अथवा परविन्दु है । मन्त्र के इस त्रिपाद व्याहरण में जो तीन विन्दु हैं, वे तीनों यौगिक अथवा अपर विन्दु के रूप में प्राप्त होते हैं । वैखरी वाक् मध्यमा के अव्यक्त स्फोट का स्पर्श होते ही लय को प्राप्त हो जाती है । किन्तु मूल में और भी गंभीर में, पराव्यक्त का संश्रय प्राप्त करने का यत्न करना होगा । प्रयास-यत्न का अवसान होता है प्रपत्ति समर्पण में, यह स्मरण ? अन्यथा अपने मन के संकल्प ही मूल संश्रय के मार्ग में अन्तराय रूप उपस्थित होने लगते हैं । अब कारिका का चिन्तन करो :—

अमेत्यभिविधेः काष्ठा क्वापि याहि न बाध्यते ।
अदर्शनं परागदृष्ट्या सम्यग्दृष्ट्या सुदर्शनम् ॥७७॥
मर्यादायास्तु या काष्ठा तथा नेमिः प्रपूर्यते ।
सकलाकृतिपूर्णत्वं राकेति रनौः समञ्जसः ॥७८॥

अभिविधि (अर अथवा सूत्रयोजना पूर्वक) मर्यादानियंत्रण करने पर भी 'नाभिमुख' मूलसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिता में मूलत; व्यवस्थित रहती है (Intrinsic Relatedness) । अब देखो कि धर्म की परिसीमा कहाँ है ? प्राणी का एक बीज लो । बीज कहता है "इस प्राणी के विकास-परिणति की जो अभिविधि है, वह मुझमें है" । किन्तु यह अवस्थिति पारिपार्श्विक 'परिस्थिति' के सम्बन्ध सें उदासीन किंवा अनपेक्ष नहीं है । एक वृत्त अथवा त्रिभुज । यद्यपि इनका अपना-अपना धर्म समूह भावतः (आईडीयली) बाह्य परिस्थिति से निरपेक्ष सा प्रतीत होता है, किन्तु देश कालादि सम्बन्धाधार में उस प्रकार से नहीं है । किसी त्रिभुज की दो बाहुओं की समष्टि तृतीय बाहु से बड़ी है, अथवा तीनों कोणों की समष्टि दो समकोण है—यह धर्म यद्यपि यूक्लीडियन ज्यामितिक आधार के लिये ठीक है, किन्तु अन्य आधार के लिये ?

यह प्रश्न भी उपस्थित होता है—अच्छा, क्या ऐसा कोई अवस्थान (संस्था) है, जहाँ सत्ताशक्ति अपनी समस्त अभिविधि (छन्दः तथा समसूत्र) को अपने में लाकर पर्याप्त हो गयी है ? यहाँ 'स्वगत' कह सकते हैं "मैं स्वतंत्र ?" परिस्थिति को "छांट" कर फेकना नहीं है, प्रत्युत् परिस्थिति को इस तरह से आत्मस्थ करते हुये इस प्रकार की स्वगत—स्वतंत्र काष्ठा संभावित हो सकेगी । श्रुति भी ब्रह्म की संकल्प शक्ति की उपमा देती हैं "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च' ।

जहाँ देशकालादि से सम्बन्धित निखिल परिस्थिति अवस्थान में न हो कर भी पूर्ण है, जहाँ रहना और न रहना रूपी दोनों विरुद्धभाव एकत्र हैं, वह अभिविधि काष्ठा है 'अमा' (यह अमावस्या तिथि नहीं है) । पराकाष्ठा रूपेण यह है विन्दु (शून्य-पूर्ण) । यह अमा कहीं भी बाधित नहीं होती, स्वाधिकार में रहती है । स्वधा तथा स्वतंत्र कहने पर भी यहीं सूचित होता है । अमा है 'अप्रज्ञातमलक्षणं' की संस्था । अथच, इसी आधार में ही विश्व-संकल्पसृष्टि सर्वसाकल्यसम्भव हो जाती है । अमा है महाकाल-महाकाली की सामरस्यावस्था । अ + मा में इस समस्या की व्यञ्जना भी है । जब सम अवम — विषम आदि में आता है, तभी सृष्टि संभव हो जाती है । मात्र 'केवल' के अतिरिक्त समस्त कला अस्तमित रहने पर है कृष्णा चतुर्दशी । सोऽहं अथवा शिवोऽहं । 'अमा' कला अस्तमित है, इसका क्या तात्पर्य है ?

पराग् दृष्टि एवं सम्यक् दृष्टि । बाहर की ओर, अथवा किसी से बाह्य की ओर जो दृष्टि है, उसे पराक् कहते हैं । ऐसी पराक् दृष्टि से देखने पर अमा में है

'सकल' अदर्शन । किन्तु उसमें सम्यक् निविष्ट होने पर (धारणा ध्यान आदि द्वारा) अमा में है 'सकल' अदर्शन । किन्तु उसमें सम्यक् निविष्ट होने पर (धारणा ध्यान आदि द्वारा अमा में होता है 'सौदर्शन' । A Compact, completed, fullness, जैसे अन्धकार में एक वृत्त है। उसका कुछ भी परिलक्षित नहीं होता। प्रकाश प्रक्षेपण करो-सब कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रज्ञा का आलोक प्रक्षिप्त करने पर केवल वृत्त का निजस्व धर्म सम्बन्ध ही नहीं, प्रत्युत उसी में समस्त भुवन-विश्व देखा जा सकेगा ?

यहाँ पर यह अमा प्रसंग अभिविधि के कारण वर्णित हुआ है। अब मर्यादा के उद्देश्य से देखो। जिस अवस्थान में नेमि अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हो जाती है वह है मर्यादाकाष्ठा। समस्त आकृतियों का पूर्णत्व (कम्प्लीटेड फुलनेस आफ पैटर्न) यही है। इसे राका अथवा पौर्णमासी कहते हैं। इस अवस्थान में चन्द्रमा (ग्नौः) समंजस रूप रहता है। गायत्री प्रभृति किसी भी जप में यह ग्नौः समञ्जस है अथवा नहीं यह देख लो। उदय सेतु से लेकर विलय सेतु पर्यन्त समग्र नाद परिक्रमा (सुषम कला वितान पूर्वक) सम्यक्तः समंजस (Perfectly in Tone and Form) हो रहा है अथवा नहीं ? परा में विन्दु ही 'अमा' है। जो जप की परिक्रमा का जो लेख हैं, उसमें कहीं भी जिक्षता-विषमता होने पर वह उसे असमञ्जस कर देती है। अतः जप की गति इस स्थिति में मर्यादा परिसीमा में नहीं हो सकती। अगले सूत्र में पौर्णमासी का वर्णन अन्य प्रकार से निरूपित किया जा रहा :—

१२. व्यस्तकलासमासात्तत्र ॥

(सर्वत्र) पौर्णमासी इस प्रकार की एक संस्था है जिसमें व्यस्त कला समूह का समास होता। यहाँ व्यास का तात्पर्य है गणित का differentiation, समास अर्थात् उससे सम्बन्धित Integration।

> यं समपेक्ष्य कस्यापि परिणामः प्रवर्त्तते।
> तमपेक्ष्य द्वितीयस्य व्यासः स्याद् वृत्तितान्वयः ॥७९॥
> अनया व्यस्ततापन्नकलानां या समस्यता।
> तस्या या सीमविश्रान्तिः पौर्णमासी मता हि सा ॥८०॥

जैसे 'क' तथा 'ख' दो पदार्थ हैं। 'क' में गत्यादिरूपी परिणाम हो रहा हैं। ऐसा परिणाम नियत (Constant) अथवा अनियत हो सकता है। (अनियत = Variable)। अनियत स्थल पर यह प्रश्न सूचित होता है कि गति का परिवर्त्तन (acceleration) हो रहा है, तथापि उस परिवर्त्तन धारा में कौन सा सूक्ष्म अन्वय निहित हैं, अथवा निहित नहीं है ? निहित रहने पर उस प्रकार के परिवर्त्तन को (गत्यादि को) एक अन्वय सूत्र में लाया जा सकेगा। उसका व्यास रहेगा (जैसे

वृत्त में उसका व्यास होता है। वह परिधिविन्दु की गति का केन्द्र से सम्यक् अन्वय रखता है।)

यहाँ पर व्यास तथा व्यस्त शब्द पारिभाषिक ही है। 'वि' विशेषण, 'आस' (रहना) अथवा अस (होना)। गति रूप अर्थ भी है (अस्यति)। 'विशेषण' अर्थात् किसका विशेष ? अर्थात् 'क' की वृत्ति का अन्य कुछ रूप (ख) की अपेक्षा में हो रहा है। 'ख' स्वयं स्थिर है, अथवा स्वयं भी चल रहा है। जैसे ख = समय (T), क = देश (S)। इस स्थिति में किसी सचल विन्दु के सन्दर्भ में प्रश्न उत्थित होता है कि इस विन्दु के गतिवेग का ठीक 'मान' क्या है। वेग तो अनियत है, तथापि इस अनियत गति को किस सूक्ष्मान्वय में लाकर यह कहा जा सकता है कि 'यही इसका एक सम्यक, सही गतिमान है'। व्यास समाधान (डिफरेन्शियेशन) में ऐसा सम्भव है।

केवल गति ही क्यों, किसी भी अनियत परिणति के सम्बन्ध में भी समान्यत: 'सही मान' को प्राप्त करने की चेष्टा हो सकती है। वृत्ति अथवा परिणाम का साधारण नाम यदि 'कला' है, तब उस कला के सम्बन्ध में 'व्यास' अथवा 'व्यस्त-कला' कहने से क्या अर्थ ध्वनित होता है, इसे समझ लो। व्यस्त = डिफरेन्शियेटेड (गणित में डिफरेन्शियल को इफीसियेन्ट लक्षण में समझ लो।) अनुपात विशेष को सूक्ष्मातिसूक्ष्म में ले जाकर इसे प्राप्त करना होगा। किसी वृत्तिपरिणाम की अभिविधि इस प्रकार की व्यस्त कला के विकलन (समाधान) में प्राप्त होती है।

यदि इस विकलन अथवा समाधान को आंशिक अथवा प्रायिक (पार्शियल एण्ड एप्राक्सिमेट) रूप से प्राप्त न करके पूर्ण तथा निर्व्यूढ़ रूपेण प्राप्त किया जाये, तब इस कलासम्बन्ध में प्राप्त होती है अभिविधि काष्ठा। परा अथवा विन्दु पर्यन्त किसी विकलन को लाये बिना यह नहीं मिलती। और व्यस्तकला को समस्यता अथवा समास (इन्टिग्रेशन) में जिसके द्वारा पाया जाता है, वह है मर्यादा ! इस समास के पूर्ण एवं निर्व्यूढ़भाव में प्रतिष्ठित होने पर, वही है मर्यादाकाष्ठा (पौर्णमासी)।

गणित व्यवहार से सम्बन्धित तथ्यों को केवल संक्षेपत: और सामान्यता कहा गया है। किसी भी वृत्तिपरिणाम की अभिविधि को सम्यकत: समझने के लिए पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार उसके यथायथ व्यस्तकलामान को जानना ही होगा। जो अनुपात परिणाम परम्परा का है उसकी उपलब्धि सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से हुये बिना यह संभावित नहीं हो सकता (व्यस्तकलामान को जान सकना संभावित नहीं हो सकता।) अनियत प्रवाह में, सूक्ष्म में, जाने पर ही किसी नियत की प्राप्ति हो सकेगी। जैसे दो उर्मिकला। यह वाह्यत: प्राप्त नहीं है। दोनों की सूक्ष्म व्यस्तकला ही उनके अन्वयी अनुपात में मिलती है। स्थूल मे तो वह व्यतिरेकी ही है।

मर्यादा के सम्बन्ध में भी यही तथ्य है। किसी परिणाम के समास में कोई भी समञ्जस छन्द अथवा आकृति का प्राकट्य नहीं हुआ। पूर्ण काष्ठा पर्यन्त चलो। असमंजस ही समंजस हो जाता है। यहाँ यह कहना निष्प्रयोज्य है कि जपादि में इस प्रकार के गणितिक व्यास-समास का विचार कभी भी अप्रासंगिक नहीं है।

गायत्री किंवा किसी भी जप में विन्दु से नाद उदित होकर सुषम कलावितान पूर्वक पुनःश्च विन्दु में विलीन हो जाता है। यह बारंबार कहा जा चुका है कि यह साधारण आकृति है। अब विन्दु के उदय-विलय दोनों में ही अर्धमात्रा ही सेतुरूपा हैं। अव्यक्त से व्यक्त तथा व्यक्त से अव्यक्त का जो सेतु है, वह है सूक्ष्मातिसूक्ष्म। यह है तथापि किसी स्वल्प ससीम परिमाप (finite small measured) में नहीं आ सकता। यह है Infinitesimal. इसका आश्रय लेकर जो वृत्ति परिणाम (becoming or functioning) है, वह है अर्धमात्रा की साक्षात् संभवा कला अर्थात् पूर्वालोचित व्यस्त कला। यहाँ सूक्ष्म गणित भी संभव है। डिफरेंशियल कोईफीसियेन्ट भी 'अर्धा' के ही गर्भ से संभूत होता है। जप में विन्दु से नाद प्राणरूपेण उदित होता है, अथच संकल्पी मन तथा वैखरी वाक् का उदय अभी भी नहीं हो सकता। विलयावस्था में वैखरी वाक् एवं संकल्प, दोनों ही 'पतित' होते हैं, अथच-अभी भी प्राण की स्थिति विन्दु विश्रान्त नहीं है। यह दोनों सूक्ष्म व्यक्ताव्यक्त व्यस्तकला ही समग्र जपधारा का अथवा परिक्रमा की मूल अभिविधि का निर्देश करते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त जपकल्प समूह (aspects of the function) अपनी पादमात्रा की सम्यक् मर्यादा की प्राप्ति नहीं कर सकते और समास में (in intigration) वे अमा एवं पूर्णिमा रूपी किसी भी काष्ठा में उपनीत नहीं होते। सम्यक् मान की प्राप्ति के अभाव में 'मर्यादा' नहीं होती। सम्यक् मान की उपलब्धि होती है इसी अर्द्धा के सेतु में। विन्दु में समास की शून्य एवं पूर्ण काष्ठायें स्थित हैं। अर्द्धा का सेतु काष्ठा को धन एवं ऋण रूप में भी प्रदर्शित करता है।

किसी भी वृत्तिपरिणाम की तीन मूल अभिविधि अर्द्धा के इसी सेतु में ही सूत्रित होती है। यह इस प्रकार है :—

प्रथम--परिणाम की जो ऋध्यमानता (Acceleration) है, उसका पूर्वोक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुपात। यह अनुपात उपलब्ध हुये बिना विन्दु से प्राण का उदय नहीं होता। और उसमें 'शायित' भी नहीं होता। छन्दोग प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के मूल में यही सूक्ष्मानुपातित्व बीज स्थित रहता है।

द्वितीय—यह सेतुस्थल ही अनुपात का प्रतियोगी अथवा सम्बन्धी किंवा कुछ (y-z) होगा। जैसे जप में विन्दु से प्राण उदित होकर मानों कहता है "यह तो मैं चल रहा हूँ। यहाँ कौन हमारी छन्दोग प्रवृत्ति में सहग सम्बन्धी होगा ?" नाद

कहता है "वह मैं हूँ ।" मन कहता है "यहाँ मैं भी संकल्प तथा भावना आदि के रूप में विद्यमान हूँ ।" कला कहती है "यहाँ मैं भी अक्षर, पद आदि रूप से विराजित हूँ ।" प्राण तथास्तु कहकर इनके 'साहित्य' को स्वीकार कर लेता है ।

तृतीय—इन सभी की पादमात्रा, भाव अनुभाव, उदय-विलय काष्ठा के व्यास समीकरण और समास समीकरण छन्द अथवा सूत्र इस स्थिति में ठीक ही रहेंगे । जप में विलय के समय क्रम भी वाम में अथवा विलोम में रहेगा ।

वृत्तिपरिणाम तीन प्रकार का होता है, ऋजु-सुषम तथा विषम । यद्यपि अंश कला के दृष्टिकोण से (In segments or partials) विषम परिणाम भी ऋजु-सुषम की ही समष्टि है, तथापि उसमें समास समता तथा सामंजस्य (मर्यादाकाष्ठा) नहीं है । अतएव वर्त्तमान सूत्र में समंजसता हेतु कला के व्यास एवं समास का निर्देश दिया गया है संगीत के दृष्टान्त द्वारा (टुकड़ा-टुकड़ा सुर, समग्र तान-मान-लय) इसे समझो । इसके अनन्तर कारिका के द्वितीय श्लोक को समझो । Tentative-Partial-approximate समाधान की स्थिति में तो इन्हें मर्यादाकाष्ठा नहीं कहा जा सकेगा ।

१३. व्याससमासयोरलभ्यासोऽपि ।।

(पूर्वलक्षित) व्यास समास के अभ्यास को भी मानना होगा ।।

जपलक्षण में जो अभ्यारोह है, वह अभ्यास के बिना साधित नहीं होता। व्यास-समास को उसकी अपनी मर्यादा-काष्ठा में ले जाने के लिये वह पुनः पुनः धारावाहिक रूप से, निरन्तर होना आवश्यक है । Cotinuity of application आवश्यक है । केवल जप में ही नहीं, सर्वकर्म में यह आवश्यक है ।

व्याससमासयोर्वृत्तिः पौनःपुन्येन छन्दसा ।
यत्र चावर्त्तते तत्राभ्यासः स्यादानुपूर्विक :।।८१।।
पूर्वे युगे यथापूर्वमित्यादिषु श्रुतश्चयत् ।
अनभ्यासोऽपि सन्धेयः सर्वाभ्यासे विपश्चिता ।।८२।।

पूर्वकथित व्यास-समास की वृत्ति पुनः-पुनः छन्दः के सहयोग से चलते रहने पर ऐसी आवृत्ति को आनुपूर्विक अभ्यास कहते हैं । किसी वृत्तिपरिणाम के विभाग को सूक्ष्म काष्ठा में ग्रहण किया । इस सूक्ष्म परिणामगत अनुपात को प्राप्त किया। इसमें इस परिणाम का सम्यक् ऋच्छतिक्रम उपलब्ध होता है । इसे उक्त परिणाम सम्पर्क में 'व्यास' कहा जाता है । समास के परिणाम के समग्रभाव में, आकृति में, उसकी मर्यादाकाष्ठा को प्राप्त करना होगा ।

ये दोनों आदर्शलक्षण हैं । कार्यतः जपादि समस्त क्रिया में बारम्बार छन्द की सहायता द्वारा आवृत्ति (अभिविधि तथा मर्यादा के सम्बन्ध में वृत्ति) करके तभी इस आदर्श की अनुवृत्ति करना होगा । इस प्रकार की अनुवृत्ति

ही अभ्यासयोग है। योग में अभ्यास है आनुपूर्विक। यहाँ पूर्व का अर्थ है निर्धारित आदर्श—The End or standard as laid down. व्यष्टि अथवा समष्टि में जहाँ भी कोई संहत् प्रयास चलता है, वहीं पर यह (पूर्व) परिकल्पना पूर्वक होता है। उस स्थल पर वह परिकल्पना ही उसका 'पूर्व' है। इस पूर्व में कालक्रम की सत्ता नहीं भी रह सकती। A logical preconception अथवा Premise ही पूर्व है। वेद के 'पूर्व युगे' 'यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि सूत्रों का प्रणिधान करो। अतः आनुपूर्विक का अर्थ है 'पूर्व' के साथ जिसमें अन्वय तथा आनुगत्य रहता है। श्री गुरु दीक्षादान के समय इस प्रकार के अभ्यास की आनुपूर्विकता का बोध करा देते हैं। दीक्षा के बिना जपादि की आवृत्ति पुनः-पुन- एवं 'छन्दसा' करने की चेष्टा करने पर वह जप आनुपूर्विक अभ्यासरूप नहीं होता। दीक्षा से क्या होता है ? 'पूर्व' सम्बन्ध में जो 'पराक्' रूप तुम हो, तुम्हे उस सम्बन्ध में (दीक्षा) प्रत्यक् कर देती है। तुम्हारी क्रिया की व्यास-समासकाष्ठा से सम्बन्धित जो ऋतच्छन्द है; उसका तुम्हे दीक्षा से ही बोध हो सकता है। दीक्षा तुमसे कहती है "तुम आनुपूर्विक हो जाओ। सङ्गच्छध्वं सम्वदध्वं समाना व आकूतयः।"

किन्तु प्रश्न उत्थित होता है "यह आनुपूर्विक अभ्यास क्यों ?" यह है अनभ्यासभूमि में आरूढ़ तथा प्रतिष्ठित होने के लिये। 'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते'। 'न स पुनरावर्त्तते'। जप में बारम्बार बिन्दुशयान किस लिये होता है ? इसे विपश्चितगण ही जानते हैं।

१४. आवृत्तावभ्यासाच्चन्द्रमाः ॥

(अभिविधि एवं मर्यादा, इन दोनों की काष्ठाभिमुखता से) आवृत्ति में (पूर्वोक्त आनुपूर्विक) अभ्यास होने पर उसकी (असभागान्त) चन्दमाः संज्ञा होती है॥ चन्द्रकला की ह्रासवृद्धि युक्त काष्ठाद्वय का स्मरण रखते हुये इस अभ्यास का उपलक्षण किया गया है। (गणित व्यवहार में जो Continned diffrentition and intigration है, वही चन्द्रमाः उपलक्षण है)।

सकलोऽसकलश्चापि द्विविधो वृत्तितान्वयः।
व्याससमासयो र्यत्राभ्यासः स्यादानुपूर्विकः।
तत्र चान्द्रमसं तत्त्वं सर्वसंस्थासु भावय ॥८३॥

वृत्तिता अर्थात् वृत्तिमत्ता, वृत्तिमान होना। किसी एक प्रकार की वृत्ति नहीं, वृत्ति जाति। उसमें अन्वय, सत्ता-शक्ति-सम्बन्ध-आकृति सामान्यतः कितनी है, इसका सन्धान करो। जैसे किसी एक विशेष मन्त्र के द्वारा कोई विशेष जप चल रहा है। यही है जपवृत्ति विशेष। किन्तु जपवृत्ति को इस प्रकार से न देखकर जाति अथवा सामान्यभाव से भी देखा जाता है। इसे जपविज्ञान में भी देखना होगा as a generic function। इस प्रकार से उसका विचार करना होगा

कि जप में वाक् प्रभृति की सत्ता आदि का अन्वय एवं अनुवृत्ति किस प्रकार से हो रही है। जैसे आकृति में, स्थूल जप में, उसका समग्र लेख क्या वैखरी में ही है? यदि मध्यमा के आधार में है, तब कहाँ किस प्रकार से है? क्या जप का समस्त अंग ही 'कला' (अ उ म) है, अथवा उसमें नाद-विन्दु का समावेश भी है? इन प्रश्नों का कोई वृत्ति विशेष सम्बन्ध ही नहीं है, ये सामान्य के प्रश्न हैं।

कला को विशेष रूप से ग्रहण करते हुये यह वृत्तिसामान्यगत लक्षण द्विविध है, यथा सकल एवं असकल। सकल में कला को अंश-पाद आदि में उपलब्ध किया जाता है तथा विवेचित किया जाता है। (In aspects, Partials)। असकल में ऐसा नहीं है। वहाँ है समग्र तथा अखण्डभाव। प्रथम है विश्लेषणी दृष्टि (Analytic, differential), और द्वितीय को सामग्री दृष्टि (Integral) कहा जाता है। द्वितीय में कलायें अनूदित (शान्त जलराशि के समान) अथवा उदित रहने पर भी अगृहीत तथा अनादृत रहती हैं। समस्त भूमियों में ऐसा ही होता है। आकाश का असीमत्व अथवा वैचित्र्य ?

इस प्रकार सकल-असकल दृष्टिभेद जप आदि साधना में तथा गणितादि विज्ञान व्यवहार में पूर्णतः प्रासंगिक सा है। प्रथम को अर्थात् सकल को चान्द्रमसी दृष्टि (Lunar principle) और द्वितीय को आदित्य दृष्टि कहा जाता है। सकल में व्यास-समास का अभ्यास पूर्वालोचित 'आनुपूर्विक' होना आवश्यक है। अर्थात् आनुपूर्विक होना ही सकला दृष्टि का आदर्श तथा काष्ठा है। The Ideal of Analytical Review गणित की Analysis तथा उसकी मर्यादा का यही कारण है। पूर्वोक्त चन्द्रमा सूत्र का पुनः स्मरण करो। जो 'अस्' भागान्त चन्द्रमाः है, वह है आनुपूर्विक अभ्यासमात्र का देवता। चन्द्र मनः का देवता है चन्द्रमा है 'मान' का। गणित के Continued differentiation, Intigration को इस अभ्यासपर्व में समझो।

वर्त्तमान सूत्र में कहा गया है कि समस्त संस्थाओं में ही चन्द्रमा : तत्त्व का चिन्तन करो। जहाँ भी कला के द्वारा (in aspects partials, elements) कोई व्यापार अथवा वृत्तिमत्ता परिलक्षित हो रही है, वहीं यह प्रश्न उत्थित होता है कि इस कला समूह के व्यास अथवा समास में आनुपूर्विकत्त्व है, अथवा नहीं है? यदि है, तब उस स्थिति में वह सब चन्द्रमा के ही अधिकार में है। यदि चन्द्र तथा चन्द्रमा मन एवं मान (Mind and Measure) प्रदान करते हैं, उस स्थिति में चन्द्रमाः से उपलब्धि होती है इन दोनों के व्यास समासगात अभ्यास के छन्दः की। तरंग के उदाहरण में यदि मन तरंग प्रदाता है और चन्द्रमा उर्मिमान (wave length) है, उस स्थिति में चन्द्रमाः है उर्मिछन्दः (wave frequency etc)। जप में (जैसे गायत्री में) संकल्पी मन कहता है "यह सब तुम्हारी कलायें

हैं"। मानी मन का कथन है "इस प्रकार से कलाओं को सुषम पाद की मात्राओं में ले आया'। गुणीमन (चन्द्रमा:) कहता है "ठीक है, किन्तु सब कुछ तो अमा-पूर्णमासी है। इन दोनों काष्ठाओं (अमा + पौर्णमासी) को अर्धमात्रा के ऋद्धिक्रम में सुसज्जित कर लो"।

१५. आवृत्तावनभ्यासादित्यः ।

यदि आवृत्ति की विद्यमानता रहने पर भी (पूर्वोक्त रीति से) उसमें अनभ्यास है, तब वह है आदित्य ॥

इसके अनन्तर आवृत्ति में असकल, अखण्ड, समग्र भान को विशेष करके लक्ष्य किया जा रहा है। यह स्मरण रखना होगा कि अदिति 'मान' में अविच्छिन्न हैं। आदित्य लक्षण हैं Integral Experience, intution, pereption आदि। पूर्व-पूर्व खण्ड में व्याख्यात मान एवं भास के भेद तथा मर्शपंचकादि का स्मरण है न! Fact तथा Fact Section का विभेद परिज्ञात तो है ?

ज्ञान तथा समस्त अनुभव 'भान' रूपेण ही होता है। ऐसा होता है सर्वदा, सर्वस्थल में। प्रायशः भान में अथवा भानसामग्री में व्यक्ति का मनोयोग नहीं रहता। व्यवहार निर्वहण का निमित्त है मर्श पंचक। परिणाम है भास आदि, तथापि समग्र भान का आधाररूप रहता ही है और उसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। जैसे वाह्य आदित्य के प्रकाश के आधार पर ही चन्द्रमा आदि का प्रकाश है, यहाँ भी उसी प्रकार समझना चाहिए।

अब इसे स्पष्टतः कहा जा रहा है :—

साकल्ये चन्द्रमास्तत्त्वमसाकल्ये तु भास्करः।
सर्वत्राद्येन ज्ञायेते वृत्तनेमेः क्षयोदयौ ॥ ८४ ॥
आदित्येन ह्यखण्डत्वं नाभेर्वन्त्रत्त्वमिष्यते।
देशस्य चाविभाज्यत्वं कालाक्रमिकतापि च ॥ ८५ ॥
रूपादिच्छन्दसां योनेरद्वयत्वं प्रसज्यते।
वनस्पतिः स्वयं सूर्य औषधिभूच्च चन्द्रमा ॥ ८६ ॥

पूर्वसूत्रयद्वय में कहा गया है कि साकल्य में चन्द्रमा तथा असाकल्य में आदित्य हैं। साकल्य अर्थात् जो कुछ अंशादि में विश्लेषणीय है (Analysable into aspects, Partials)। असाकल्य अर्थात् संश्लेषणीय (Intergrable as Continuity and unity)। अब सर्बत्र मर्यादाकला (वृत्तिनेमि) के क्षयोदय छन्दः का चन्द्रमा तत्त्व भरण करता है। आदित्य सर्वत्र ही अखण्डत्व का आधार है। जैसे जप के कला-उर्मिवितान में अखण्डनाद। अतएव जप के छन्दोग्य कलोर्मिवितति में चन्द्रमा और जप की आधारभूता अखण्डनादवाहिता में आदित्य ही दैवत् है। तदनन्तर यह ज्ञातव्य है कि वृत्तिमर्यादा (वृत्तिनेमि) तथा अरसमूह का विस्तार कहाँ

से होता है और उसकी विघृति कहाँ रहती है ? नाभि में ! इस नाभि का मणिवज्र रूप प्रदर्शित किया जा चुका है । यह जो अभेद्य, अक्षय्य वज्रसत्व का स्थल है यह भी आदित्य ही है । अतएव श्रुति में आदित्य को 'भुवनस्य नाभिः' कहा है । जड़, प्राण, मन, व्यष्टि, समष्टि में, सर्वत्र इस वज्रसत्व स्थल की प्राप्ति को ही आदित्योपासना कहते हैं । जो निखिल संकीर्ण, विदीर्ण, विशीर्ण जिस मुख्यप्राण में जाकर असंकीर्ण, अविशीर्ण, अविदीर्ण रूप से निष्ठित तथा निरुपद्रव हो जाता है, वह है आदित्य हृदय । यही है जप में अर्द्धमात्रा (विन्दुगर्भा) ।

पुनश्च, देश में जो अविभाजत्व है और काल में जो अक्रमिकता है, इन दोनों का भान ही आदित्यपर्व है । अखण्ड महाकाश और अखण्ड महाकाल (भूत-भविष्यत् इत्यादि रूप से क्रमलक्षणाविच्छिन्न काल नहीं) ही हमारे समस्त खण्डित दैशिक-कालिक भास के आधारभूत "भान" के रूप में स्थित हैं, यह पहले कहा जा चुका है । (Sapce time continum) । वही आदित्य तो 'महान, की काष्ठा में भी रहता है और सूक्ष्म की काष्ठा में भी इसी का अस्तित्व है । अर्थात् महान् और सूक्ष्म में यही आदित्य अनपिहित (unveiled) है । यह मध्यम संस्था समूह में पिहित होकर भी संस्थित है । क्योंकि आदित्य के अभाव में विश्व में सत्ता-शक्ति-आकृति-छन्दः रूपी चतुष्ठय का कोई भी आधार हो ही नहीं सकता ! कोई सामग्री संस्थान (co-existence and correlation in integration and continuity) नहीं रह सकता ! विज्ञान तथा प्रज्ञान, इस उभय दृष्टि से चन्द्रमा-आदित्य सम्बन्ध रहस्य की भावना करो । जप में नाद के विन्दु में विलय हो जाने पर वाक्-चित्त एवं प्राण को तथा उनकी विचित्र उदितानुदित वृत्ति के सामान्य आधार (आदित्य हृदय) को प्राप्त करना होगा । "आदित्यो वै प्राणः" । वाक् एवं चित्त को आत्मसात् करके प्राण अपने परम घनीभाव 'विन्दु' में मिल जाता है ।

छन्द के प्रसंग में इस अवम सामान्याधार को कहा गया है "रूपादिछन्दसां योनेः" इत्यादि द्वारा । रूपच्छन्दः (Light and colour Rhythms), शब्दश्छन्दः इत्यादि रूपी हमारी प्रतीति में आने वाले जो समस्त छन्दः (uniformities laws) हमें ज्ञात अथवा अज्ञात हैं, उनकी जो उदययोनि (Common origin) है, उसका निर्देश एवं प्रतिश्रुति दाता भी यही आदित्यतत्व ही है । (Principie of universal Continuity uniformity, unity) अखण्ड भूमा ब्रह्म का सृष्टि आदि प्रक्रिया में जो गतिमत्व और व्यापारत्त्व (Kineticity) है, यदि हम उसे प्राण कहते हैं, तब वही प्राण ही आदित्य है । विन्दु-नाद-कलादिरूप से सविशेष होने पर भी वह प्राण (creative elan) अविभक्त, अखण्ड और अपरिच्छिन्न ही रहता है । वह किसी भी विशेष के मूल में तथा आधार में सामान्य और अखण्डाधार रूप से ही स्थित रहता है । कोई भी विशेष (Particularized)

क्रियमाणता (Kinetic Event) इसी सामान्य-अखण्ड एवं (विशेष की अपेक्षा) संचित-ध्रुव आधार में ही घटित होती है। 'स्' ही 'ह' को अपने भाण्डार एवं आधार रूप से रखता है। ('ह्सौ' फार- मूला) विश्व में इसी सूत्रान्वय से ही 'कुण्डलिनी शक्ति' सर्वत्र संचित रहती है। चन्द्रमाः सर्वत्र क्रियाशक्ति को छन्दोमय करें। आदित्य सर्वत्र कारक शक्ति को (विशेषतः आधार शक्ति को) उद्बुद्ध करते हैं। आदित्य से तेजः का आगमन हो, प्राण तथा संज्ञान का अवतरण हो। चन्द्रमा उसे रस, भाव, कला, छन्द द्वारा आकलित संकलित करें!

सूर्यरूपी आदित्य स्वयं वनस्पति (रहस्यमान) हैं। चन्द्रमा तो लोक में तथा वेदों में, सर्वत्र, 'औषधिभृत' रूप से प्रसिद्ध है। "पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः'। साधारण वनस्पति में एक प्रकार का अखण्ड-अव्यय भाव परिलक्षित होता है। वृक्ष के पत्र-पुष्प-फल इत्यादि समय पर ही उद्गत् होते हैं। वे पुनः समय आने पर अपगत भी हो जाते हैं। इतने पर भी वृक्ष स्वयं अव्यय आधाररूपेण स्थित सा रह जाता है! इन सब पत्र पुष्पादि कलाओं के उद्गम अथवा अपगम से वृक्षत्व की स्थितिमत्ता अथवा नाश की अवस्था बाध्य नहीं होती। परन्तु औषधि के दृष्टान्त में क्या परिलक्षित होता है? कलाकलन प्रयोजनमुख्यता। यह प्रयोजन समाप्त होते ही औषधि भी 'शेष' हो जाती है।

इस दृष्टान्त में अन्तर्निहित वैलक्षण्य को समझना ही होगा। पत्र-पुष्प-फल आदि (कला) समय पर उद्गत होते हैं और समय आने पर चले जाता हैं, किन्तु इनका मूल एवं काण्ड जो वृक्ष है, वह तो "निधानं बीजमव्ययम्" रूप से स्थिर रह जाता है। औषधि के समथ कला समूह का अपगम हो जाने पर उसका बीज ही प्राण की नाभि के रूप में अवस्थित रह जाता है। साधारण वृक्ष का दृष्टान्त लेता हूँ। इस लक्षण की काष्ठा है वनस्पति। "उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्"। अ+श्व+त्थ कहने पर पत्रपुष्पादि कल्य (श्वः) नहीं है, तथापि वह अव्यय है। 'छन्दान्सि यस्य पर्णानि'-छन्दान्सि कहने पर क्या वेद है? तब क्या वेद अनित्य है? यहाँ 'पत्राणि' का प्रयोग नहीं है। "पर्णानि" का प्रयोग है। यह लक्ष्य करो। 'पत्र' अर्थात् पत्ता। जो जन्मता है और पीला पड़कर वृक्ष से झड़ भी जाता है। "पर्ण" ऐसा नहीं होता। यदि स्पर्शवर्ण के पाँच वर्ग को पाँच मूलपर्व समझा जाये, उस स्थिति में 'पर्ण' शब्द के रसायन में जो भाव प्राप्त होता है, वह है 'परिणामो-नित्य' ब्रह्मच्छन्दः। 'परिणामी' अर्थात् बीजाङ्कुर विकास रूप से जिसके कला परिणाम की आवृत्ति है। इन सबके रहने पर भी जो अव्यय, ध्रुव रहता है, उसे हम 'नित्य' भी कह सकते हैं। 'प' ओष्ठय पर्व है। 'ओष्ठ्य' का अर्थ? जो प्राण के वेग और गति-पथ को प्रणालीविशेष में नियन्त्रित करता है, canalige करता है।

पर्ण शब्द में 'ण' एवं 'रेफ', ये दोनों मूर्धन्य पर्व हैं। इस पर्व में क्या है? आदि (कन्ठ्य अथवा जिह्वामूलीय) पर्व में जो सत्ताशक्ति (First Manifested) होती है, उद्योग (तालव्य) पर्व में जो छन्दसा अभियुक्त होती है, वह उर्जित (मूर्धन्य) पर्व में उत्तमौजा: (Highest Energy Level) होने की प्रवणता प्राप्त कर लेती है। सिंचित तथा सज्जित पर्व (दन्त्य) में वह स्वयं को विभिन्न तलों एवं स्तरों में प्रसारित एवं सज्जित कर लेती है। अन्त में संयमन (अथवा यंत्र) पर्व में (ओष्ठ्य) वह अपने समुच्चय में अन्वय-अनुतापादि 'संहत्' रूप प्राप्त कर लेती है। इस पंचम वर्ग अथवा पर्व के पञ्चम वर्ण (म) में वह संहति काष्ठा है। विन्दु में समुच्चय-समन्वय हुये बिना-जपादि कोई भी साधना संहति सीमा को प्राप्त नहीं कर सकती। इसका संघटन करता है 'म' (अनुस्वार)। इसीलिये है 'अ-उ-म'।

यहाँ संहति सीमा (organisational Limit) के प्रथम पाद (प) में जो है, उसे उर्जित पर्व की परिसीमा (Highest efficiency value) के साथ तादात्म्य-साहित्य (correlation Tending to identicality) में जो रखता है, वह है पर्ण !

इसे उदाहरण से समझो। घर में एक ५० कैण्डिलपावर का बल्ब है। स्विच दबाया। प्रकाश हुआ। किन्तु वह पचास पावर में जला ! यह क्या फारमूला है? 'पत्र'। किसी किसी निर्दिष्ट तल (Level तथा Measurc) में शक्ति अपनी क्रिया में बद्ध है। 'पर्ण' उसे बंधनमुक्त करता है। कहता है 'तुम स्वच्छंदता से इस सीमा तक बढ़ो।' जैसे नदी बढ़ती है सागर की ओर अतएव पत्र है static और पर्ण है Dynamic। पत्र है Matter and Form, और पर्ण है Sprit and expression, पत्र है यन्त्र, पर्ण है यन्त्रम् (मन्त्रमन्त्रित, तंत्रतारित यन्त्र)। अच्छा आजकल जो ऐटम, हाईड्रोजन बम बनाया जा रहा है, वह सब इस 'पर्ण' फारमूला में है न? है, तथापि व्याज-वैगुण्य में है। वह सुपर्ण नहीं है। कुपर्ण अथवा विपर्ण है। सुपर्ण होने के लिए इस अव्यय अश्वत्थ का 'पर्णानि'-"छन्दान्सि" (वेद = way of Realizing highest Experience) होना उचित है।

अत: वनस्पति लक्षण बनने के लिये (१) मूल अव्यय, (२) काण्ड साधिष्ठ (३) शाखा सुषमा एवं सुपर्णा, इन तीनों की आवश्यकता है। किम्बहुना यह मात्र वृक्षावयव की वर्णना नहीं है। यह है सर्वत्र मूल शक्त्याधान एवं शक्तिविन्यास संस्था (Basic Deposit and Distribution Scheme)। यह प्रत्यक्ष सूर्य एवं सौर्य-जगत् इसी आकृति के दृष्टान्त हैं। केवल विराट में ही नहीं, अणु में भी ऐसा ही है। प्राणसंस्था तथा चित्त संस्था में भी ऐसा ही है। इन सब संस्थाओं में 'वनस्पति' को पहचानों। A universal Radiation supply and Distribution Scheme.

विभिन्न प्रकार के Cosmic Radiations भी 'पर्ण' संज्ञा के अन्तर्गत हैं। वनस्पति = सूर्य = ह्रीं। इस समीकरण का चिन्तन करो।

'पर्ण' शब्द के 'प' में उर्जित सीमासूचक 'ऊ' का योग करने पर 'पूर्ण' हो जाता है। इसी ग्रंथ के पूर्व खण्डों में कहीं पर भगवती के अपर्णा नाम की विवेचना की जा चुकी है। यहाँ पर (अ+प)+र्णा की आकृति को समझो। अर्थात् आद्याशक्ति 'ओष्ट्यवृत्ति अथवा Valve principle के द्वारा प्रणाली प्रवाहित (Canaliged) नहीं है। 'अप+ऋण' आकृति की भावना करो। अर्थात् महाशक्ति को किसी तल से मूर्द्धा तक उठाया गया (ऋ कार), उसे परिसीमा में धारण ('प कार') नहीं करना होगा। अर्थात् अपर्णा अपरिसीम हैं। इससे Absoluteness की द्योतना हो रही है।

'वनस्पति' शब्द समीक्षा में शक्ति के अपरिमेय संचय और सिंचन अथवा वेष्टन रूपी भावद्वय की विद्यमानता होने पर भी प्रथम संचय भाव की मुख्यता परिलक्षित होती रहती है। सूर्य अथवा सविता नाम में यह विशद है। साधारण व्यवहार में वनस्पति का परीक्षण समग्र प्राण व्यवहार (Total Vital economy) के आधार में करो।

'ओषधि में सिंचितादि भाव की प्रमुखता है। प्रथम की 'सू' धातु (सूर्य-सविता) द्वितीय में 'सू' (सोम-सवन) है। दीर्घ एवं ह्रस्व उ के भेद का चिन्तन करो। वनस्पति 'सु' वर्ग है ओषधि 'सू' वर्ग। समग्र विश्व के भोग में 'अन्न' (शक्ति) सुषममान में जो मर्यादा रखती है, वह ओषधि है। इसका भरण कौन करता है? चन्द्रमाः करता है।

जपादि में विन्दु-नाद-कला भी वनस्पति संज्ञान्तर्गत् है। और कला-नाद-विन्दु ओषधि के अन्तर्गत्। गायत्री प्रभृति जप में 'उदय' है सूर्यमुख्य। विलय है सोममुख्य। हे विश्वेदेवाः! विश्व में सर्वत्र वनस्पति ओषधि के स्व छन्द परिणय की रक्षा करो। अन्यथा विनष्टि का आतंक हो जाता है, जैसे वर्त्तमान में युगसंकट है! वनस्पति दीक्षित होकर सब प्रकार की आधि को और ओषधि सोमसुत् होकर ओषधि रूपेण सब प्रकार की व्याधि को दूरीभूत करें! वनस्पति मन्त्ररूप की पूर्णता है—ॐ ह्रीं ऐं। ओषधि हो जाये श्रीं। दोनों की परिणय पूर्णता = In Consumation, यदि हम प्राणसंज्ञा द्वारा सब कुछ के अव्यय उत्स (मूल) को 'प्राण' कहते हैं और विभाजन-विस्तारक को 'अपान' संज्ञा देते हैं, उस स्थिति में इस प्राणापान की समता रक्षक किसी की स्थिति (समान की) आवश्यक है—Balancing, Equaliging Factar, यही है वनस्पति का 'काण्ड'। अब 'अमा' प्रसंग वर्णित है :—

१६. अपास्तव्यस्तत्वेऽमा ॥

पूर्व व्याख्यात व्यस्तकला (Differential Coefficient) अपास्त (Negatived) होकर ही अमा है ॥

अर्थात् गणित की परिभाषा में किसी Function का dldx यदि शून्य है, तब वह अमा है। न + मा = दो निषेध की विधि स्थिर होती है। दो निषेध में प्रथम है दन्त्यवर्ग। अर्थात् कोई परिणाम विशेष जिस तल में चल रहा था, वह अब उस तल में नहीं (न) है, यह तात्पर्यार्थ है। किन्तु जहाँ शेष स्पर्श (म) है, वहाँ भी यदि नहीं है, तभी तो नित्य तथा ध्रुवा स्थिति है। धनु की ज्या खींचकर बाण छोड़ा। बाण बहिर्गत् हुआ। अब धनु अथवा ज्या पर कोई दबाव (Stress and Strain) नहीं है। किन्तु जो बाण छूटा है? जिस लक्ष्य पर वह बाण लगा? क्या यहाँ भी संवेगादि निवृत्त हो गये? धनु तथा ज्या के समय तो कह दिया 'ना' अर्थात् बाण छूटने के पश्चात् कोई दबाव नहीं रहा। परन्तु बाण के लिये यह नहीं कहा जा सकता। क्या यहाँ कहोगे मा? यदि कह सको तब तुम अमाकोटि में आ गये। तुम प्रारब्धकर्म की फल प्रसववृत्ति से जीवन्मुक्त हो! यदि शरसम्वेगादि भी निवृत्त हो जाये, तब तो 'प्रपञ्चोपशम' हो। यदि वह निवृत्त न होने पर भी उसके लक्ष्य (तुम्हारा प्रत्यभिज्ञान) सम्बन्ध से निवृत्ति आ जाये, तब हो लक्ष्योपरम।

निर्व्यूढ़त्वेन यो भावोऽभावान्योन्यखण्डनात्।
व्यस्तवृत्तेरपायाच्च सम्यक्तया ह्यमा ततः॥ ८७॥
अमायाँगृह्यते सूर्यो राकायां गृह्यते शशि।
कलातिगत्वमादित्ये षोडशकलतान्यतः॥ ८८॥

तम के अभाव मे आलोक, आलोक के अभाव मे तमः, इस प्रकार का द्वन्द्व स्थित अन्योन्य अभाव यहाँ मुख्यतः विवक्षित नहीं है। फिर भी लक्षणा में यह आयेगा ही यहां 'अभाव का अभाव' अथवा 'निषेध का निषेध' ही उद्देश्य बनाया गया है। इस प्रकार से अभाव द्वारा अभाव को बाधित करने पर भाव (रहना) को निर्व्यूढ़त्व (अनकन्ट्राडिक्टेड एफर्मेबिलिटी) प्राप्ति हो जाती है। व्यूढ़ = कन्डीशनल, अतः जो बाधित (कन्ट्राडिक्टेड) हो सकता है।

निर्व्यूढ़ में बौद्ध निश्चय (लाजिकल सर्टेनिटी) रहना आवश्यक है। यह रहने पर क्या 'अमा' संज्ञा आ जायेगी? ध्रुव अध्यवसाय अथवा निश्चय के साथ और एक गुण का रहना आवश्यक है। वृत्ति परिणाम की जो व्यस्तकला है, उसका भी अपगम (अपास) होना चाहिये। यह अपाय भी 'सम्यक्तया' सम्यक्रूपेण होना चाहिये। केवल approximately अथवा कंण्डीशनली होने से कार्य सम्पन्न नहीं होगा। जो ध्रुव (कन्सटेन्ट) है, उसके सम्बन्ध में Logic, मैथमेटिक आदि न तो 'जिरह' कर सकते हैं और न उसमें 'किन्तु-परन्तु' का प्रयोग ही कर सकते हैं।

नेतिमुख मे, शून्यपर्व में, व्यास अथवा व्यस्त कला को सविशेष उद्देश्य बनाये हुये जो ध्रुवसंस्था है, वही है अमा। लक्षणमत से यह है जप में विन्दु विलय का स्थल। नेतिमुख में शून्यपर्व में, (As the Limit of Negation) देखा जा रहा है। अ—उ आदि व्यस्तकला क्या वहाँ हैं? नहीं। क्या कला परिणामगत शून्य अनुपात (Infiritesimal Ratio of acceleration) है? नहीं। अत: acceleration (परिणाम) भी नहीं है। यहां बुद्धि कहती है "मैं निश्चित हूं"। मन तथा वाक्य कहते है "हम शान्त हैं।" चित्त (सूक्ष्म अनुपातित्व की भूमि) कहेगा "मै निवृत्त हूँ"। प्राण कहेगा "मै संश्रित हूं"।

अपाय तथा सम्यक्तया शब्द द्वय का चिन्तन करो। प्रायस्त्व अथवा Approximation के स्थल का वारण करने के लिये अपाय है और व्यूढ़त्व अथवा Conditionality का वारण करने के लिये है 'सम्यक्'। वर्त्तमान विज्ञान व्यवहार में जब तक इस प्रकार का ध्रुवस्थल प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक स्वस्ति-शान्ति ही नहीं है!

द्वितीय श्लोक में अमा तथा राका को पृथक्तः प्रदर्शित किया गया है। अमा मे सूर्य गृहीत होते हैं। पूर्णिमा में शशि! इस गृहीत (ग्रहण) का अर्थ नाना प्रकार से देखा गया है और देखा जा रहा है। यहाँ सामान्यभाव से अमादि के तत्वलक्षण के सम्बन्ध में मुख्यभाव का उपयोग किया गया है। 'सकल' के आवृत्ति अभ्यास की काष्ठा एक ओर, 'असकल' के अनावृत्ति-अनभ्यास की काष्ठा दूसरी ओर। यह दूसरी है आदित्यकाष्ठा (लिमिट आफ सोलरप्रिंसपल)। कलातिग है ध्रुव की स्थिति। उत्तरायण में, अर्चिरादि मार्ग में इसी काष्ठा में उपनीत होना पड़ता है। जप में कला नाद की विन्दु समता में उपनीत होना पड़ेगा। चन्द्रमा: काष्ठा अथवा राका की षोडशकलता। इस षोडश को गंभीरता से समझ लेना चाहिये। अब प्रस्तुत में 'समा' को लक्षित करते हैं।

१७. अपास्तसमस्तत्वे समा ॥

समास अथवा समस्तकला अपास्त होने पर समा है ॥

समास का अर्थ है सूक्ष्म व्यस्तकला का अनुपात लेकर उर्द्धाध: काष्ठा के किसी भी वृत्ति परिणाम में समाहार (इन्टिग्रेशन)। एक की दृष्टि है अनुमान में, अन्य की दृष्टि उरुमान में। प्रश्न है "विभाजन के शेष अनुपात सम्बन्ध में क्या प्राप्त किया?" "संयोजन की शेष संहति क्या हुई? जपादि की आकृति में ये दो मूल प्रश्न हैं।

जप व्याहरण मे प्रथम प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना होगा (अभ्यास योग में) जप्यमन्त्र के उर्मिकलासमूह के सानुविन्दुस्पर्श स्थल मे। विशेषत: विन्दुविलय-सेतु सहकृत संस्पर्श स्थल मे। द्वितीय का उत्तर मिलेगा नादमेरु तथा विन्दुमेरु संयोजक

'अक्ष' का समाश्रय लेकर उर्मिचूड़ा समूह की संहति-समञ्जसता मे (Are the wave phases in harmonic alliance with respect to the Axis of the function of the system ?)

सर्वसमासनिःशेषात् साकल्यसमतागतौ ।
समेति स्थितिरायाता समीकरणपूरणात् ॥ ८९ ॥
समाकृतसपक्षाणां सम्पाते निरपेक्षता ।
पक्षपातविनिर्मुक्ता समेति परिगण्यते ॥ ९० ॥
व्यासस्य शून्यताऽमास्थात् समासशून्यता (पूर्णता) समा ॥ ९१ ॥

इस समासूत्र मे 'समीकरणपूरण' काष्ठा प्रदर्शित की गई है। प्रिंसपल आफ ईक्वेशन की परीक्षा ! समीकरण मात्र ही सपक्ष (with terms that vary Subject to Coditions) आकार मे प्रवृत होता है। इस प्रकार जो पक्षपात बाध्य समीकरण है, वह है व्यूढ़ तथा अध्रुव। पक्षपात मुक्त (Not bound by the Special Values and Conditions of the terms) सामान्य तथा व्यापक समीकरण को प्राप्त करना ही लक्ष्य है। (सामान्य समीकरण = जेनरल ईक्वेशन) जैसे जेनरल ईक्वेशन आफ दि सेकेण्ड डिग्री अथवा सामान्य क्वाड्रेटिक ईक्वेशन। टेलर्स थ्योरम मे भी इस प्रकार निर्व्यूढ़ ध्रुव को प्राप्त करना ही उद्देश माना गया है। फिर भी वह पूर्णतः प्राप्त नहीं होता। निर्दोष-निर्व्यूढ समता (Absolute आईडेन्टिटी) कहां है, उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? यह समीकरण प्रयास शोधन-पूरण की किस भूमि पर पहुँच कर सिद्ध हो सकेगा ? जड़ विश्व मे आज तक यह काष्ठा सम्यकतः नहीं मिल सकी। प्राणादि बस्तु तो अब तक उससे 'वाह्य' है ! (प्राप्ति नहीं हो सकी)। जहाँ अन्तरंग एवं बहिरंग पूर्णतः सम हैं, वही तो है आत्मा ! इस आत्मा मे ही सर्वसाकल्य समीकरणों के शोधन-पूरण की काष्ठाविश्रान्ति हो जाती है। जब तक आत्मा पर किंचित् दोषलेशपक्षपात है, तब तक हमारे किसी भी समीकरण में निर्दोष समता नहीं है।

उपाय ? विश्व में जितनी भी साकल्पसंस्थाएँ (aspectual and functional diversity) हैं, उनकी समता की स्थिति अवश्य है और व्यवहार एवं प्रत्यय मे समताभिमुखीन गति की भी प्राप्ति होती है। किन्तु अन्त में परायण (ध्रुवा स्थिति एवं गति) कहां है, यह अभी भी जान नहीं सका। प्रज्ञान तो आत्मा तथा प्राण रूपी शब्दद्वय सुनाने लगता है। उससे क्या जानूंगा क्या ठीक समझूंगा ?

जानने का प्रयत्न करने पर क्या चाहिये ? चाहिये सर्वसमास-शून्यता एवं पूर्णता। हमारा जो कुछ भी समास (Synthetic, integral approcach) है, वह इस स्थल में आकर कहेगा (शून्यता-पर्णता में आकर कहेगा) "अरे नहीं ! अब हमारा कोई भी व्यापार शेष नहीं है ! हम पूर्ण हो चुके। अब हानोपादान की अपेक्षा

नहीं है। तत्व प्राप्त हो गया।'' यहीं यह अभिमान समाप्त है । "समीकृत-सपक्षाणां सम्पाते निरपेक्षता"। गणित व्यवहार में तथा जीवन व्यवहार में इसे अच्छी तरह से समझ लो। गणित अथवा जीवन व्यवहार में अनेक 'सपक्ष' (स्पेसिफिक कण्डीशनल) को साध लेने पर यह प्रतीत होता है "यदि यह यह रहे तब ऐसा-ऐसा होगा"। जप क्रिया को इस प्रकार से करने पर हो सकता है कि अन्त में विन्दु विलय सम्पन्न हो अथवा न हो ! ऐसा अनेक बार करके देखा जा चुका !

उस स्थिति में स्वयं से प्रश्न किया "यह इस प्रकार का सपक्ष समीकरण तो हो रहा है, किन्तु उसके सम्पात में क्या (By induction or by deduction) कोई ऐसा मूल सामान्य छन्दः एवँ आकृति प्राप्त हो सकी (general principle and pattern) जो इन-इन सपक्ष समूह के विशेष (Condition) सम्बन्ध में निरपेक्ष हो ? मानों इस प्रश्न का उत्तर मिला, हाँ ! जप में अग्निमात्रा तथा सोममात्रा की समता साधित हुये बिना सम्यक् रूपेण विन्दुविलय नहीं होता। इन दोनों का अनुपात वैषम्य रहने पर वह साधित नहीं होता। जैसे गायत्री में "वरेण्यं" में यदि अग्नि मुख्याधिकारी है, उस स्थिति में गायत्री के आगे वाले पादत्रय में सोम की इस परिमाण में मुख्यता होनी चाहिये कि दोनों की अधिकारतुल्यता एवं अनुपात समता साधित हो सके। एक even Balancing of outward and inward Functioning की स्थिति होना आवश्यक है। इस समता का अभाव रह जाने पर सपक्ष समूह से निरपेक्ष (Independent) हो सकना संभव नहीं हो सकता। अतः कला के साथ नाद को "शून्यपूर्णंक" विन्दु में एकीभूत कर सकना असंभव सा हो जाता है।

यह स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है कि 'समा' तो एक काष्ठा अथवा आदर्श है। 'अमा' अपर है। निखिल भवप्रत्यय के एक ओर 'समा' है तो दूसरी ओर है 'अमा'। दोनों को अक्षर काष्ठा प्रशासन में जो विधारण करती है और यथोपयुक्त छन्दोवैभव में सब कुछ को इन दोनों में उपनीत करती है, वह है "उमा"। जब यह अभ्युदय दक्षिणावर्त्त है तब रमा ! जब वामावर्त्त है, तब वामा ! प्रणवादि जप में उमा (विशेषतः उ वर्ण द्वारा) क्या करती हैं ? वे वागर्थ-भावादि के कलासमूह को सुषमा दक्षिणावृत्ति में, नाद के आधार में प्रस्फुटित कर देती हैं। अब वे रमा हैं। सेतु में जाकर (उदय तथा विलय में) ये ही हैं अर्धमात्रा। जब विलय सेतु में (वामगति से) नादशक्ति की विन्दु से "विपरीतरता" करती हैं, तब यह हैं 'वामा'। अन्त में कला-नाद-विन्दु रूपी त्रितय के सामरस्य में ये हैं "मा"। सर्वविध सपक्ष समीकरण किस परिमात्रा में पक्षपातयुक्त होकर समता समीकरण में आ रहा है, Conditioned Solutions कितना Independent of Conditions हो रहा है यह लक्ष्य साधनादि में होना चाहिये। यह है साकल्यसमास समाप्ति की

धारा अर्थात् Process of Integral approach and attainment. लक्ष्यशून्यता तथा लक्ष्यपूर्णता (महानाद अथवा भूमैकप्रत्ययरूप से) युगपत है। यही है समा।

पक्षान्तर से व्यासपूर्वक नैष्कल्य परिसमाप्ति का लक्ष्य प्रारंभ मे है पराव्यक्त (अमा) महाविन्दु एवं अन्त में है परम की परापारीणता ! इस धारा की परिसमाप्ति में (Limit of infinitesimal approach) प्राप्त होता है (अलक्षण, अप्रमेय परापारीणता के उपक्रम में) एक शून्य एवं पूर्ण। यहाँ तक सम्प्राप्त होकर कलासमूह कहते हैं "अब हम बहु: नहीं हैं। हम एक हैं"। यहाँ तक की स्थिति को प्राप्त करके नाद कहता है "हम यहाँ पूर्ण हैं और उदयविलय की अपेक्षा नहीं है"। विन्दु भी स्वयं कहता है "अच्छा ! तुम दोनों को अपने में मिलाकर भी मैं शून्य ही हूँ—A unique point of perfect potency where all posibility is full and all actuality is 'nill''

समा एवं अमा के उपेयगत सौसादृश्य अथच उपायगत वैलक्षण्य की विवेचना समास एवं व्यास की सम्यक् धारणा करके की जायेगी। महासिंधु के बिंदुसमूहों की समासपूर्णता तथा समता से ही महासिंधु का अस्तित्व है और बिंदु को सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यास में लाने पर भी यही महासिंधु ही प्राप्त हो जाता है।

असंख्यजलविन्दूनां समासे यो महाम्बुधिः।
विन्दुव्यासे त्वनिष्ठेऽपि स सिन्धुरनुदृश्यताम् ॥९२॥
प्राणाणुर्व्याप्नुवन् विश्वं भवेद् विश्वमहीरुहः।
महीरुहेऽपि सञ्जाते विश्वबीजाणुता फले ॥९३॥

१८. तथाह्यनावृत्तिसमावृत्ती ॥

(पहले जिस अमा तथा समा की काष्ठा आलोचित हो चुकी है) वे यथाक्रम से अनावृत्ति एवं समावृत्ति की सूचना प्रदान करते हैं ॥

जपादिना समावृत्तौ समेतीति विचिन्त्यताम्।
पौर्णमासीप्रतिष्ठायां स्वाराज्यसिद्धिमृच्छति।
पौर्णमास्याअधिष्ठात्रीं महालक्ष्मीं समाश्रितः ॥९४॥
अनावृत्तिरमा ख्याता जपाजपासमापनात्।
महाकालीति विज्ञेया परकैवल्यदायिनी।
शुक्लत्वे मूलपञ्चाशार्मः या महासरस्वती ॥९५॥

जपादि के द्वारा जिस आवृत्ति से समावृत्ति साधित होती है, उस साधन में उपनीत होने पर क्या होता है, यह कहा जा रहा है। 'समेति' समागत होना। कहाँ ? पहले जिस समा को आलोचित किया गया, वहाँ। वहाँ साकल्यपूर्णतारूपा पौर्णमासी है, उसकी प्रतिष्ठा है। फल है वेदादि में प्रसिद्ध तथा उक्त स्वराज्य-

सिद्धि। इस लक्ष्य पर्यन्त पहुँचने का उपाय क्या है? पौर्णमासी की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी (बीजमंत्र श्रीं) का आश्रय लेना।

जप एवं अजपा के समापन में जो अनावृत्ति है—आवृत्ति चक्र का जो पूर्ण विराम है, वह पूर्व कथित लक्षण के अनुसार 'अमा' है। अमा की अधिष्ठात्री देवता हैं परकैवल्यदायिनी महाकाली। इनका बीजमंत्र है क्रीं। यदि मूलस्थ शक्ति के बीज को ह्रीं कहें तब ह र ई नाद एवं विंदु, ये हैं मूलपंच। इन मूलपंच की कृष्णावृत्ति से निखिल विश्व का आवरण द्योतित होता है। साथ ही लय, उपरम एवं उपशम भी द्योतित होता है। शुक्लावृत्ति में उन्मेष-विकास की पूर्ण स्थिति है। कृष्णा तथा शुक्ला गति प्रारम्भ में परस्परतः विपरीत हैं, मध्य में है प्रतियोगी और अन्त में सहयोगी किंवा अभिन्न होने लगती हैं। कृष्णा तथा शुक्ला के मध्य के विरोध एवं द्वंद्व का अवसान करते हुये मूलपंच की जो शुक्लमुख्या प्रकाशप्रधाना वृत्ति है, वह वाग्भव बीज द्वारा अधिकृत है। बीज है ऐं। अधिष्ठात्री हैं महासरस्वती।

समा एवं अमा की काष्ठा करते हुये समावृत्ति-अनावृत्ति, साकल्य पूर्णता-नैष्कल्योपशम, इन दो प्रस्थानभेद की चर्चा वर्त्तमान सूत्र में संक्षेप में की जा रही है। अन्य अन्य स्थलों पर भी इसका सविस्तार वर्णन किया जा रहा है। प्रस्थान-गत भेद के रहने पर भी विरोध नहीं है, अपितु क्रमशः साहित्य है और अन्त में है अभेद। इसी निर्देश को देने हेतु महासरस्वती तथा ऐं बीज का उद्‌भव हुआ है। बीज आदि समस्त जप में सकल-निष्कल, शून्य-पूर्ण, समा-अमा, उत्तम-परम को अन्त में प्राप्त करना होगा।

जैसे गायत्रीजप में "वरेण्य" तक समा और समावृत्ति को मुख्याङ्गरूपेण-साधित करना होगा। 'धियोयोनः' तक विलय ओंकार में अमा एवं अनावृत्ति को साधना होगा। "भर्गोदेवस्य धीमहि' इन दोनों की सन्धि है। अर्थात् 'धीमहि' में जाकर ही अमा एवं अनावृत्ति की ओर 'झोंक' होगा। शुद्ध तथा समग्ररूप से समा-वृत्ति एवं अनावृत्ति की प्राप्ति विशेष साधनसाध्य है।

अब दक्षिणा-वामा का लक्षण उक्त है।

१९. अनुलोमावृतिर्दक्षिणा ॥

आवृत्ति के अनुलोमा होने पर उसे दक्षिणा कहते हैं ॥

अनुलोमविलोमाभ्यामावृत्तिर्दक्षिणेतरा ।
प्रथमा नेम्यराणां स्यान्नाभिमुद्दिश्य याऽभितः ॥९६॥
देशकालादिषु श्रेणी धारावाहिकतास्थितिः ।
स्वयोनि मनतिक्रम्य वितन्यते समन्ततः ॥९७॥

किम्बहुना, 'दक्षिणावृत्ति' द्वंद्व द्वारा केवल "दाहिनी ओर घूमना" समझना उचित नहीं है। जैसे दक्षिण = दक्षिण दिक्, उसी प्रकार गुणविशेष भी इसका तात्-

यथार्थ है। यहाँ मौलिक लक्षण दिया जा रहा है। इसके लिये 'अनुलोम' शब्द एक सूत्र है। अतः यह जानना आवश्यक है कि 'अनु' किसे कहते हैं ? जहाँ किसी प्रकार की आवृत्ति अथवा आवर्त्तन हो रहा है, वहाँ विश्लेषण करने पर अंगत्रय की उपलब्धि हो रही है नाभि-अर तथा नेमि। आवृत्ति मात्र की जो नेमि (actual path of functioning) है, उस सम्बन्ध में नाभि ही है योनि और अर है 'योजनी'।

जैसे कूर्म अपने आप ही अंगविस्तार करता है और उसे स्वयं ही अपने में छिपा लेता है, उसी प्रकार से नाभि अथवा केन्द्र के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। जैसे गणित में है Root अथवा Radix, Martix आदि। यही नाभि है। यही है Equation के सम्बन्ध में अर। जैसे quadratic Equation से ज्ञात होता है कि उसके Root द्वय का क्या सम्बन्ध रहेगा। अन्त में इस Equation द्वारा निरूपित गतिलेख अथवा Curve निरूपक Equation का विशेष-विशेष रूप भी हो सकता है।

नाभि तथा मूल से अर के उदय और अर द्वारा नेमि प्रवृत्ति का निरूपण, यह एक प्रकार की दृष्टि है। यह है अनुलोमा। जो कुछ उदय अथवा प्रवृत्ति हो रही है, उस उदय में मूल के साथ अन्वय परिलक्षित हो रहा है। Centre अथवा Origin में यह Reference सम्यक् रूप से रहता है। जैसे ग्रहादि की गति की नाभि सूर्य। जैसे प्राणिजगत के किसी जातिबीज (germplasm) में नाना सजातीय प्राणी के जन्म का Reference। अनुलोम में उदय, उद्गम की प्रवृत्ति देखने की वस्तु है। "प्रथमा नेम्यराणां स्यान्नभिमुद्दिश्य याऽभितः"। इस प्रकार से अनुलोमा को कहा गया है। नाभि को अमितः उद्देश्य करके (Congruent with respect to the origin) अरनेमि (Expansive movement) प्रवृत्ति देखने की वस्तु है।

जैसे एक वट आदि वृक्ष की बीजकणिका। इसमें अंकुर-प्ररोहक्रमेण वृक्ष-पत्र-पुष्प-फल पर्यन्त अनुलोमा वृत्ति पूर्वोक्त लक्षण के समान है। परन्तु फल में पुनः विलोमा वृत्ति आ जाती है। अन्तर्बहिः विश्व के चक्रनेमि आवर्त्तन मे इस अनुलोमा-विलोमा के सहक्रम का अनुधावन करो। जैसे जन्म-बाल्य-यौवन-मृत्यु। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति। व्यक्त-अव्यक्त। कर्म संस्कारादि। ये सब समष्टि-व्यष्टि व्यापार अनुधावन योग्य हैं। सृष्टि की व्यक्तक्रिया (Kinetic Action) मात्र ही देशकालादि बाधा-संस्कार के कारण (due to intrinsic retarding factor) अपने शुद्ध-समग्र साकल्य में नहीं प्रतीत होते। अर्थात् उन्हे जो निर्बाध रूप से करना चाहिये था, वे वैसा कर सकने में अक्षम से रह जाते हैं। अथच इस सम्यक् सफलता के प्रयास में वे अपने व्यक्त सम्वेगमान (Momentum) को त्याग देते हैं। प्रतीत होता है वे निःशेष हो गयेः किन्तु शक्ति तो अव्यक्त है। अतः निःशेष प्रायः व्यक्त क्रिया को पुनः

अव्यय अव्यक्त भण्डार (Reserve of Potential में) वापस लौटना पड़ता है। उसके मुख अथवा Sense को Reverse करना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं होता उस अवस्था में विश्व के समस्त कारोबार बन्द हो जाते। इस प्रकार से अनुलोमा विलोमा को जानना होगा। नाभि तथा अरनेमि को पुनः-पुनः अपने में 'आत्मस्थ' करना आवश्यक है, अन्यथा वे क्षीण तथा विशीर्ण हो जाते हैं।

केवल यही नहीं। नाभि केन्द्र में अवस्थित रहने पर भी अपनी सत्ताशक्ति के मण्डल में अर नेमि दोनों का ही विधारण-भरण करके रखना चाहिये। इस अन्वय-आधार में समस्त प्रवृत्ति,निवृत्ति का चक्र अनुलोम-विलोम (प्रसरत-संकुचत) चलता रहता है। जैसे नासिका में श्वास-प्रश्वास। हृदय में आकुंचन-प्रसारण। जबतक प्रवृत्ति के साथ प्रत्यावृत्ति (Reversibility) नहीं रहती, तब तक कोई यन्त्र नहीं चलता।

फिर भी कठिनाई यह है कि (साथ ही साथ मुश्किल को आसान करने की विधि भी) क्रिया की सीधी स्थिति के समान ही उसकी उल्टी स्थिति भी बाधा के द्वारा कुछ न कुछ बाधित होती है। अर्थात् जैसे शुद्ध समग्र फल की दृष्टि से कोई भी क्रिया सम्यक्ता नहीं है, उसी प्रकार उसके अव्ययनिधान के योग (प्रत्यावृत्ति में) तथा क्षेम (अवस्थान) मे भी सम्यक्तता नहीं है। यद्यपि देश काल आदि में श्रेणी धारावाहिकता रूपी जो समस्त स्थिति एवं गति परिदृष्ट होती है, वह समन्तात् होने पर भी स्वयोनि (their origin) का अतिक्रम नहीं करती (जैसे बाह्य विश्व में परार्द्ध योजन दूर स्थित कोई निहारिका) तथापि शुभसम्यक्ता धर्म कहीं भी कार्यतः परिलक्षित नहीं होता। अतः विश्वचक्रनेमि के आर्वत्तन का अन्त नहीं है। जीवसंसृति का भी अन्त नहीं है। The universe by its imperfection or limitation. इसी सम्बेग (Drag) को उच्छिन्न करने हेतु साधना है। जो limiting principle सर्वत्र है, वह माया है। जप में 'विन्दुमभितः' 'अनुलोमा-विलोमा-द्वय को क्रमशः शुद्धि पूर्णता में लाने का प्रयास किया जाता है। विन्दु या नाभि से प्रवृत्ति में प्रयास होता है। उसी से निवृत्ति में प्रवृत्ति होती है। अनुलोमा प्रवृत्ति प्रयासमुख्या है और विलोमा है निवृत्ति-प्रपत्तिमुख्या।

२०. विलोमा तु वामा ॥

वामा होने पर वृत्ति को विलोमा कहा जाता है ॥

विलोमछन्दसा नाभिमुद्दिश्यावर्त्तनं पुनः।
लिङ्गस्यालिङ्गता वामाऽयोनौ योनिसमर्पणम् ॥९९॥
दक्षिणावृत्तिमाश्रित्य लभ्योमा या सदा रमा।
वामावृत्या भवेदम्बाऽमाऽवाङ्मनसगोचरा ॥१००॥

विश्वप्रतीति में दो परस्परानुपाती भाव लक्षित होते हैं। योग-तथा क्षेम। प्रथम सब कुछ को उसकी समग्रसत्ताशक्ति एवं आकृति प्रदान करता है। दूसरा इस योग में विविध प्रकार का बाधाजन्य जो कुछ वियोग है, उससे बचाता है। योग है वस्तुमात्र का जातिधर्म (The king of function), क्षेम है वस्तुमात्र का लज्जा-धर्म (Its self-Conserving function)। महामाया 'जातिरूपेण' तथा 'लज्जा-रूपेण' सर्वत्र संस्थिता हैं। 'सर्वभूतेषु' सभी भूत समूह में ! इन दोनों धर्मों के अनुपात निबन्धन से विश्व में, व्यष्टि में, समष्टि में स्थितिस्थापकता (Cosmic Elasticity) रहती है।

सृष्टिधारा को स्व छन्द: में चलाने के लिये इस अनुपात को भी स्व छन्द: में ही रहना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त अनुलोमा-विलोमा नाभि के सम्बन्ध में समस्त अर-नेमि को स्व छन्द योगक्षेम युक्त रहना चाहिये। अनुलोमा समस्त को, सब कुछ को उसकी जातिधर्म की समग्रता से युक्त करती है। विलोमा उसकी नाभिनिष्ट अव्यय सत्ताशक्ति को उसके लिये मुक्त करके उसके क्षेत्र की रक्षा करती रहती है। विलोमा के बिना कुलकुण्डलिनी की जागृति कौन सम्पन्न करेगा ?

अत: कहा गया है कि विलोम छन्दसा नाभि को उद्देश्य करके का सब कुछ पुनश्च आवर्त्तन करता है। अर्थात् अरविस्तार युक्त जो नेमि (गतिस्थितिलेख) प्रसारित हो रहा है, वह अरसंकोचपूर्वक वामागति से नाभि में "स्वधा-शक्ति" के दोहनार्थ पुन: लौट आता है। अनुलोमा में स्वाहा, विलोमा (मौलिक अर्थ में) में स्वधा ! फलत: वस्तु मात्र का जो लिंग (Determinate, Specified, unconditional) है, वह अलिंग (प्रधान मूल) Indeterminate, unspecified, unconditional में वापस आता है। यदि वापस न आये, उस स्थिति में उसका स्वाभाविक योगक्षेम रक्षित नहीं होता। साधन में तो इसकी आवश्यकता है ही। पुनश्च, योनि (कारण) को वह अयोनि में (first cause or without cause) समर्पित कर देता है। समस्त कारण का लय परमकारण में होगा, मानों उसकी यही इच्छा है।

मात्र नैसर्गिक में ही नहीं, अध्यात्म साधन में भी इस वामागति को भली भाँति समझ लो। 'हंस' सोऽहं क्यों होगा ? यदि वे ॐकार रूपिणी हैं, तब वे 'प्रत्यालीढ़पदा' क्यों हैं ? तारा तो विशेषत: विलय ॐकार रूपा हैं। दक्षिणा कालिका विशेषत: हैं उदयमुख्यता युक्ता।

दक्षिणा में उमा, रमा, समा। वामा में अम्बा और अमा, जो अवाङ्‌-मनसगोचरा हैं। इस रहस्य को गम्भीरता से समझो। जैसे गायत्रीजप के उदयसेतु में उमा, अनुलोम में जो "वरेण्य" चूड़ामणि है वहाँ रमा, अनुलोम विलोम की (दक्षिणा-वामा की) सन्धि में समा। विलोम अथवा वामा में अम्बा, अम्बाला तथा अमा के त्रितय की भावना विशेषाधिकरण में करो। सामान्यधिकरण में ऐसे अवच्छेद

नहीं हैं। अर्थात् उमा, रमा प्रभृति सामान्यतः सर्वत्र ही विद्यमाना हैं। किम्बहुना, इस प्रकार का सामान्यविशेषाधिकरण यदृच्छाकल्पित नहीं है। प्रत्येक में तत्व-निरूपित उपयोग रहता है। Relevancy determined by principle, जैसे वामा में प्रथमतः अम्बा क्यों हैं ? उदय में जो ओंकार रूपी नाद है, उसने अब विलोम में विन्दु विलय रूप धारण किया है। अ उ म का 'उ' कहता है "अब मैं मध्य में स्थित रहकर नाद को (अनुलोम) वितान में नहीं ले जाऊँगा। इस बार विलोम में (नाभि अथवा केन्द्रीणवृत्ति में) 'शेष' में जा रहा हूँ। और मेरा संकोचरूप जो 'व' है, वह रूप धारण कर रहा हूँ। अर्थात् अब हो रहा हूँ—अम्ब (माँ का सम्बोधन। अब तक 'मैं' था "धीमहि"; परन्तु अब 'मैं' को छोड़कर माँ को पुकारो"। बस, अब तो क्या यहाँ सब चुप हैं ! विन्दुवासिनी का आकर्षण यहीं तक है। मां ने मेरी पुकार से मानो हाथ बढ़ाया। यही है "आ" कार। अब तक लोहा चुम्बक की ओर जा रहा था। परन्तु अब तो चुम्बक स्वयं लोहा की ओर बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार "अम्बा" अधिकार में आई। इसके पश्चात् है अम्बाला। इसके अन्तिम वर्ण 'ला' का प्रणिधान करो। वैखरी वाक्, संकल्पी मन तथा प्राण की गौणी वृत्ति का लय करना होगा, अथवा इस अम्बाला में जाना होगा। "ला" में सब कुछ को लूट कर लीन कर लेने की शक्ति है। अन्त में अमा। यहाँ केवल मात्र विन्दु विलय ही नहीं, प्रत्युत परमविलय भी विवक्षित है। दोनों पक्ष में "अवाङ्‌ मनसगोचरा" को समझ लो !

खेचरी प्रभृति मुद्राओं की सहायता से क्रियायोग में, ज्ञान तथा भाव में, विवर्त्त आदि में भी वामा का अनुसन्धान करो। "सब उलट देना" जो उलटा है, उसे पुनः जब तक उलटोगे नहीं, तब तक वह सीधा नहीं होगा।

अब एक और कारिका :—

वामा च दक्षिणा वृत्ति दृश्यते सर्ववृत्तिषु।
तयोरुद्‌वृत्तमेतासु समीकरणमुच्यते ॥ १०० ॥

इस कारिका में समीकरण मात्र का लक्षण प्रदत्त है। विश्व के जितने भी समीकरण हैं, वे सभी दक्षिण तथा वामा वृत्ति में उद्‌वृत्त (Remainder) हैं, यह कहा गया। इस विश्व व्यापार में कहीं भी इन वृत्तिद्वय की एकान्त समता, पूर्ण समता नहीं है। अर्थात् कोई भी Function Perfectly reversible नहीं है। जपादि साधनायें समता की साधना हैं।

जैसे प्रसिद्ध Heisenberg Equation। उसमें Pq—qP है। Pq एक प्रकार की क्रिया और qP अन्य प्रकार की क्रिया (Matrics Function)। qP उसका विलोम (Reverse) है। साधारण बीजगणित में एक से दूसरे का वियोग

करने पर तो शून्य होना उचित है। साधारण बीज गणित में संख्या का हिसाब है, परन्तु यहाँ जो इक्वेशन है, उसमें क्रिया (फंगशन) का हिसाब है। क्रिया कहने पर उसके Sense को भी पकड़ना होगा, अर्थात् किस दिशा में क्रिया, किस प्रकार से? केवल संख्या तथा परिणाम देखने से ही नहीं चलेगा। जैसे जप एक क्रिया है। प्रत्येक आवृत्ति में (Pq qP में) वाक्-प्राण-मन की वृत्ति है। अतः आवृति का विराम नहीं है। विराम-उपराम समता साधना की काष्ठा में होगा।

२१. दक्षिणादक्षिणत्वेऽनपायः ॥

पूर्वोक्त दक्षिणा दक्षिण (अनुलोमा अनुकूल) होने पर अनुपाय है ॥

अनपाय शब्द को काष्ठा एवं काष्ठाभिमुख गति रूपी उभय अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। यहाँ द्वितीय अर्थ विशेषतः विचार्य है। अर्थात् धाम अथवा लक्ष्याभिमुखी ऐसी गति (अभ्युदय) जिसमें बाधा के कारण च्युति अथवा स्खलन की सम्भावना शून्य होती जाती है—अनइनटरप्टेड प्रोग्रेशन ! अर्थात् गति जिस वर्त्म में चलकर लक्ष्य तक पहुँचेगी, उससे स्खलित न होना। यही है गतिशुद्धि अथवा शुद्धगति। स्थितिशुद्धि अथवा अनपायधाम का इसके साथ विचार करो।

मर्यादाभिविधी प्राप्य वृत्तेरावृत्तिरिष्यते।
समाराकानुलोम्येन दक्षिणा सा निरूपिता ॥ १०१ ॥
दाक्षिण्यं यद् दक्षिणायाः स्वच्छन्दवाहिताभवम्।
नैरन्तर्येण तस्माच्चानपायोऽभ्युदयो मतः ॥ १०२ ॥

मर्यादा तथा अभिविधि, इन दोनों को ('आ' के अर्थ में) प्राप्त करके वृत्ति होना चाहती है आवृत्ति। अर्थात् चक्र की आकृति से नेमि तथा अर इन दोनों को पाकर। जो वृत्ति अबतक स्थिति किंवा गतिमात्र थी, वह नाभि-अर-नेमि की आकृति को प्राप्त करके आवृत्ति हो जाती है। यद्यपि यह आवृत्ति पूर्वोक्त समा एवं राका के आनुलोम्य में घटित होती है, तथापि इसे दक्षिणा कहते हैं।

दक्षिणावृत्ति का आनुलोम्य अथवा स्वच्छन्द वाहिताजन्य जो दाक्षिण्य है, यदि उसमें नैरन्तर्य (अनइनटरप्टेड कन्टिन्यूयिटी) धर्म रहता है, तब उसे कहते हैं अभ्युदय। इस अभ्युदय लक्ष्य की ओर जो अभिमुखीन गति है, उसकी स्वच्छन्दवहा, निरन्तरा, समासन्धिनी तथा अनपेता-आकृति रहती है। जपादि सर्वविध साधनाओं में दक्षिणादाक्षिण्य है। अतः यथार्थ अभ्युदय घटित हो रहा है, अथवा नहीं हो रहा है, उसे इन उपरोक्त चारो धर्म के सद्भाव, असद्भाव, न्यूनता तथा अतिरेक द्वारा ठीक से जान लो। अभीष्ट लक्ष्य में उपयोगिनी क्रिया का साधन होने पर इस प्रकार का अभ्युदय साधन हो सकेगा। जिसके द्वारा अभ्युदय तथा निःश्रेयस अधिगत होता है, वही है धर्म। क्रिया (भावज्ञान के साथ व्यापक अर्थ में) मात्र का अपना स्वधर्म

है। उसके इसी स्वधर्म में अनपाय गतिस्थिति हो जाने पर अभ्युदय होता है। "परधर्मों भयावहः" परधर्म का परिहार अर्थात् संकर शुद्धि। स्वधर्म में प्रतिष्ठा होते ही शुद्धि की परिसीमा में ही शंङ्कर है।

२२ दक्षिणावामत्वेऽपायः ॥

दक्षिणा के 'वाम' होने पर अपाय अथवा च्युति होती है ॥

वाम का अर्थ पूर्वोक्त वामा कदापि नहीं है। कोई Desired movement यदि Retarded and reversed by cross or Contrary Current होता है, तब उसमें वामत्व (Contraindicatedness) है और इस कारण से अपाय घटित होने लगता है।

अदाक्षिण्यं हि वामत्त्वं सन्धिर्विगृह्यते यतः ः
व्याहता दक्षिणाधारा प्रतिपक्षेण केनचित् ॥१०३॥
व्याजविघ्नावन्तरायोपद्रवाविति वामतः ।
दक्षिणाया हि जायेरन् येऽप्यपायाश्चचतुर्विधाः ॥१०४।
दैशिकं कालिकं रिष्टं वास्तवं छान्दसं तथा ।
स्कन्दैकदन्तशर्वाणी श्रीपतिभिर्निवार्य्यते ॥१०५॥

यहाँ पर अदाक्षिण्य को ही वामत्व समझना चाहिए। इससे क्या घटितहोता है ? सृष्टि धारा अथवा साधन जीवन में जहाँ सन्धि (alliance, Congruence) रहती है, अथवा रहना उचित है, वहाँ तो विग्रह (विरुद्ध अथवा विपरीत भाव ग्रहण) परिलक्षित होता है। इस विग्रह का रूप क्या है ? जिस दाक्षिण्य अथवा अनुकूला की धारा अन्तर्बहिर्विश्व में प्रवहमान रहती है, वह धारा किसी भी प्रकार के प्रतिपक्ष (Cross or Contrary Current) के द्वारा व्याहता होती है। अतः दक्षिणा या अनुलोमा धारा अब शुद्ध तथा असंकीर्ण नहीं रह जाती। उसमें संङ्कर आ जाता है। व्याजविघ्न रूपी अन्तराय वामता के कारण 'उपद्रव' का आकार धारण कर लेता है। अन्तराय = जो अन्तरा (मध्य में) में उपस्थित होकर अबाधगति को बाधित करे। Obstruction in the path. उपद्रव = जो केवल मार्ग में पड़ा रहकर बाधित नहीं करता (जैसे अन्तराय मार्ग में पड़ा रहकर बाधा देता है), प्रत्युत जो बलात् पथ से खीचकर पथभ्रष्ट करता है (A major distraction) उपसर्ग = जो बलात् अन्यत्र 'नीत' नहीं होता, प्रत्युत अन्य एक और होकर बाधित करता है (सर्ग)। अन्तराय रूपी व्याज-विघ्न (वैरुप्य-वैगुण्य) सृष्टि की गतिमात्र में कुछ न कुछ रहते ही हैं। प्राकृत सृष्टि में (विशेष, विषमपर्व में In the third Emergence में) शुद्ध, ऋजु के समग्र व्याज विघ्न में किंचित् कवलित हो जाने पर भी उसकी मात्रा तथा मुख (Sence of Acceleration) के सम्बन्ध में अवहित रहना पड़ता है। वैरुप्य की मात्रा क्या है, उसका मुख (Sence of Acceleration) किधर है, संकर की ओर

है अथवा शंकर की ओर, यह जानना चाहिए। जो विरूप, विगुण है क्या उसने स्वभाव स्वरूप (शुद्धि) की ओर मुख किया है, अथवा नहीं किया है ? क्या राग उच्छिन्न हो रहा है अथवा वर्द्धित हो रहा है ? इस प्रकार से दोष की मात्रा और उसके मुख की दिशा, दोनों की ओर लक्ष्य रखना पड़ेगा। जपादि साधन में भी ऐसा ही है।

यह देखो कि दोष की मात्रा तथा मुख इतना अधिक (प्रोनाउन्स्ड) है कि उसे साधारण अन्तराय कदापि नहीं कहा जा सकता। इसे उपद्रव अथवा उपसर्ग कहना पड़ता है। इससे विदित होगा कि दक्षिणा के अदाक्षिण्य में इस बार जीवन साधनादि के उपाय (Frustration) में जाने की आशंका है। तब अब समय व्यर्थ करना, काल विलम्ब करना--उचित नहीं है, अतएव "उत्तिष्ठत् जाग्रत"। जैसे रोगवृद्धि तथा शत्रु वृद्धि को बर्दाश्त नहीं किया जा सकता, वैसा ही व्यवहार इनसे भी रखना होगा।

अपाय चतुर्विध है, रुपापाय; गुणापाय, मानापाय तथा सम्बन्धापाय। इनका वर्णन अगले सूत्र में किया जायेगा। प्राकृतिक अपाय में (Unfulfilled or frustrated natural happenings) तथा जपादि साधन में भी इन चतुर्विध अपाय का (Infructuousness) का निवारण करना होगा। जैसे गरम लू चल रही है। मौसमी वर्षा का समय होने पर भी वर्षा नहीं हो रही है।

(क) मौसमी वृष्टि के लिए जिस आकृति में मेघ संचार होना चाहिये, वैसा नहीं हो रहा है।

(ख) वर्षण हेतु उसमें जैसे गुणों की आवश्यकता है, वैसे गुण उसमें नहीं है। उनका योग (काम्बिनेशन) नहीं हो रहा है।

(ग) जिस मान का (मात्रादि में) रहना आवश्यक है, वह मान घटित नहीं हो रहा है।

(घ) वायु की गति, पृथ्वी पृष्ठ के स्थानविशेष इत्यादि में जो सम्बन्ध रहना आवश्यक है, वह सम्बन्ध प्राप्त नहीं हो रहा है।

यह सब साधारण विश्लेषण है। विशिष्ट रूपेण देखने पर इन विषमताओं को एक सामान्य लक्षण में लाया जा सकता है। वह है प्रकृति में अग्निषोमीय वैषम्य। इस प्रकार के अनुपात वैषम्य का नैसर्गिक हेतु साधारण तथा असाधारण रूपी प्रकार द्वय का होता है। असाधारण में Solar Spots समूह की मात्रा तथा कास्मिक किरणों की मात्रा इत्यादि भी असाधारण रहती है। जैसे मनुष्यकृत Hydrogen Bomb इत्यादि का विस्फारण। जैसे जंगलों का ध्वंस, विराट पावर प्लान्ट आदि की स्थापना आदि। इनके फलस्वरूप नैसर्गिक अग्निषोमीय छन्द का व्यतिक्रम होने लगता है। चाहे जिस कारण से व्यतिक्रम क्यों न घटित हो, उसके निवारणार्थ पहले समर्थ भाव से याग यज्ञादि का अनुष्ठान किया जाता है। वर्त्तमान में विज्ञान अपने

पाप के प्रायश्चित्त की बात न जानता हो, ऐसा नहीं है। फिर भी पाप का भाव (नैसर्गिक विनाश) द्रुत गति से वर्धित होता जा रहा है। धरित्री को रसातल में ले जाने का उपक्रम हो रहा है। विशेषत: वाराही शक्ति के जागरण का प्रयोजन इस संकट में आवश्यक है। इनकी कृपा से आणविक तापादि शक्ति का उद्वर्त्तन (Levelling up) प्राणिक तथा आत्मिक शक्तिरूप में साधित होगा।

जैसे किसी प्रकार का रेडियोएक्टिव एटम। इसके केन्द्र (न्यूक्लियस) में केवल मात्र जड़ शक्ति नहीं है, प्रत्युत प्राण एवं चैतन्य शक्ति का महान् भण्डार भी निहित है। प्राकृतिक व्यापार छन्द में (In natural Economy) जिस प्रकार से तथा जिस परिणाम में इस शक्ति का विकिरण होता है (ह्) उससे सृष्टि की स्थिति तथा पुष्टि के निमित्त अग्निषोमीय स्वच्छन्द एवं आवश्यक अनुपात की रक्षा होती है। अर्थात् "ह्सौ" आकृति दक्षिणादाक्षिण्य की ओर जाती है, वह सहसा वामत्व की ओर नहीं जाती। बृहद् विश्व में Cosmic Rays इत्यादि में भी दाक्षिण्य बना रहता है। पृथ्वी के परिमण्डल में जिन Ionosphere का स्तर विद्यमान रहता है, वह सब हमारे रेडियों प्रूफ अथवा Screen के समान आन्तर एवं वाह्य रेडियेशन्स से रक्षा करता रहता है। यदि भय हिंसा इत्यादि से प्रचोदित होकर हमारी बुद्धि आणविक स्व छन्द (दक्षिण) रूपी 'ह्सौ' आकृति को भग्न कर देती है (By fission or fusion), उस स्थिति में 'ह' में निहित महाप्राण क्षुब्ध-उपद्रुत तथा विप्लुत होने लगता है।

'ह्सौ' आकृति में जड़ाणु समूह में जो प्राणशक्ति सुप्त तथा अव्यक्त है, वह जब जाग्रत एवं व्यक्त होती है, तब उसकी आकृति है 'हँस:'। इसमें विन्दु से सोम (अनुस्वार रूप से) नि:सृत होकर मानो आणव अग्नि से कहता है "तुमने मात्र बाहर स्वयं को तापादि रूप से क्यों प्रचलित कर रक्खा है। तुम्हारा बाह्यताप इस बार आन्तर योग रूप में परिकल्पित हो उठे। उससे मैं सोमसुत हो जाऊँगा। मैं तब जड़ धर्म को प्राणधर्म बना दूँगा।" मानों अग्नि कहते हैं "अच्छा ऐसा हो ! तब मुझे अग्निषोम रूपी युग्म में प्रथम स्थान दो।" सोम कहते हैं "तथास्तु" ! इसका फल है अहंस:। सोम पुन: कहते है "विन्दुमुखीन, अन्तर्मुख (Subjective) होने पर अब बाहर आप स्वयं को कितना रक्खेंगे? 'स:' का कुछ संवरण करिये और स्वयं की ओर अभिनिवेश दीजिये।" परिणामस्वरूप अहंसंवित् Consciousness of self, यही है अहं आकृति। वामावृत्ति में (वामत्व में नहीं) यह रसायन में होता है सोऽहं (आत्मसंवित्) ! स: का संवरण किया था ? वह पुन: कहाँ से आ गया ? अहं एवं स:, मैं और वह, इन दोनों का जब तक आधार-अधिष्ठान नहीं मिल जाता, तब तक आत्मा ही नहीं मिलता। आत्मा ही अग्निषोम की पूर्ण समता का स्थल है।

जप की साधना है इसी समता की साधना। जप में चार प्रकार की अपायशंका का परिहार करने के लिये अवहित रहना पड़ता है। अर्थात् जप करते समय आकृति (ध्वन्याकृति तथा रूपाकृति), गुण, मान तथा सम्बन्ध में दाक्षिण्य रखना ही होगा। वामत्व में जाने से लाभ नहीं होगा। मुख्यतः जप की संख्या तथा परिणाम (quantity) लक्ष्य नहीं होता, लक्ष्य है जप का गुण (Quality)। जिस जप में गुणवत्ता है, उसकी स्वकल्प साधना करने से ही भूयसी ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। गुण अर्थात् वाक्, मन तथा प्राण का उत्कर्ष-प्रकर्ष।

पहले रूपापाय (Deformity) को विशेषतः दैशिक, मानापाय को कालिक, गुणापाय को वास्तव तथा सम्बन्धापाय को छान्दस कहा जा चुका है। यदि इन पूर्वालोचित पर्वों को लिया जाये, उस स्थिति में कारिका के अन्तिम श्लोक में कहा गया है कि इन चतुर्विध व्यत्ययवारण कल्प में यथाक्रम से स्कन्द, एकदन्त, शर्वाणी एवं श्रीपति, इन दैव चतुष्ठय का मन्त्रादिरूप से समाश्रय करो। अर्थात् स्कन्दादि दैव चतुष्ठय हमारे लिये देश-दाक्षिण्यादि का विधान करते हुये सर्वतः सर्वत्र कुशल हों। विशेष स्थल में विशेष उपयोग का चिन्तन करके देखो। कला, नाद विन्दु, सेतु-सन्धि, इन चारो को दैशिकादि तथा स्कन्दादि चतुष्ठय के साथ अन्वित करके देखो। उस स्थिति में स्कन्द तुमको कला कुशल, एकदन्त तुमको नाद कुशल, शर्वाणि (विन्दुवासिनी) तुमको विन्दुकुशल तथा श्रीपति तुम्हे सन्धिकुशल बनायें। इन चारों के साथ ह्रीं ऐं क्रीं श्रीं रूपी बीज चतुष्ठय की भावना करो। Space-Time-Power-Correlation ही सृष्टि के चार मूल Co-ordinates हैं -

२३. तत्रोदारविच्छिन्नतनुतादिप्रसङ्गः ॥

दक्षिणा के अदाक्षिण्य के कारण 'अपाय' सम्भावित होने पर यह लक्ष्य करना होगा कि दक्षिणा अथवा अनुकूला (अनुलोमा) वृत्ति क्या है? उदार अथवा विच्छिन्न है अथवा तनु, अथवा अनुलुप्त-विलुप्तादि है?

अपाय स्थल में (लक्ष्य में गति स्थिति की असम्भावना में) अनुकूला अथवा अनुलोमा वृत्ति अथवा क्रिया किस अवस्था में है, इसे सविशेष रूप से न जान लेने पर प्रतिविधान सम्भव नहीं होता। जैसे देह की अस्वस्थता में (रोग में) यह जानना आवश्यक है कि देह की स्वाभाविक रोगनाशिनी शक्ति (पूर्वोक्त दक्षिणा) ने किस मात्रा में दाक्षिण्य को सुरक्षित कर रखा है। यही है निदान। औषधि का कार्य है इस दक्षिणा की समीक्षा परीक्षा करके उसके दाक्षिण्य को स्व छन्द में लाना। चिकित्सा=सम्यक् रूप से दक्षिणा की समीक्षा-परीक्षा करते हुये दाक्षिण्य के योग क्षेत्र हेतु अन्वीक्षा! देह के स्वाभाविक हंसः (श्वास-हृत्स्पन्दन इत्यादि क्रिया जिसके लिंग हैं) की विवेचना करते हुये अन्वीक्षा (अभीष्टानुकूल

बुद्धियोग) का साधन किया जाता है। केवल शरीर व्याधि में ही नहीं; प्रत्युत मानस व्याधि आदि में भी इसी नियमानुसार निदान किया जाता है।

जैसे रोग में कोई वैद्य आकर नाड़ी परीक्षण कर रहे हैं। यदि नाड़ी की गति स्थिति 'उदार' है, तब तो रोग सहज है। विच्छिन्न गति चिन्ता का कारण है। अवहित होने पर विच्छेद के समय मात्रादि का परीक्षण किया जाता है। तनु (क्षीण) होने पर प्राण अथवा ओज शक्ति की दुर्बलता रहती है। जहाँ गति अवलुप्त है, वहाँ संकट है। मानसिक शुभाशुभ, संस्कार संवेगादि में भी ऐसी अवस्थायें प्रणिधान योग्य हैं। प्राणिधान के अभाव में प्रतिविधान नहीं हो सकता। जैसे जपादि साधना में नाद। जप स्थिति में नाद उदार है किंवा विच्छिन्न क्षीण (तनु) अथवा विलुप्त है ? नदी के स्त्रोत से विपरीत नौका चल रही है, रस्सी से खींचकर। नदी चौड़ी नहीं है। मस्तूल को तान कर दोनों पार से दो लोग रस्सी खींच रहे हैं। नौका न तो उस ओर जा रही है और न इस ओर भटक रही है, प्रत्युत मध्य में (Parallelogram of acceleration) में है। यहाँ पर नौका की गति स्त्रोत से विपरीत, प्रतिकूल होने पर भी उदार कही जाती है। शून्य में एक रैकेट छोड़ा गया। रैकेट शून्य में कुछ दूर ऊपर उठकर पुनः भूमि पर आ गिरा, यहाँ भी गति को उदार ही कहा जायेगा।

उदार दाक्षिण्य अथवा गति-स्थिति का आनुकूल्य अबाध एवं ॠजु न रहने पर भी ॠतानुग तथा छन्दानुग होने की ओर उन्मुख रहता है। जो बाधज और वाम गति है, वह भी उदार तथा साम (जिसे सहायता से समता में लाया जा सके) होने पर साधक हो जाती है, बाधक नहीं रह जाती।

प्रतिपक्षेण वामत्वे दक्षिणायां समर्पिते।
आकृति गुणसम्बन्ध संख्यानां (मानानाँ) हि विपर्ययात्।
अपायस्य प्रकाराः स्युर्गुणसम्बन्धादिभेदतः ॥१०६॥
रूपापायगुणापायौ मानसम्बन्धभाविनौ।
चेति चत्वार इक्ष्यन्त उदारादिविशेषणैः ॥१०७॥

कोई दक्षिणा (अनुलोमा-अनुकूला) वृत्ति (गति-स्थिति) चल रही है। कोई प्रतिपक्ष (पक्ष अथवा सपक्ष का प्रतिद्वन्द्वी) उपस्थित होकर दक्षिणा में वामत्व (untowardness) ला रहा है। पूर्वसूत्र में कहा गया है कि यह वामत्व आकृति (जप), गुण; संख्या (मान), तथा सम्बन्ध के विपर्यय का लक्षण स्वरूप है। (जैसे विराट विश्व में कोई ज्योतिष्क तारा निर्दिष्ट गति से विपरीत अथवा विपर्यय में जाने लगा अथवा आणव जगत् में कोई इलेक्ट्रान विपर्यय में हैं)। फलस्वरूप निर्दिष्ट अथवा अभीष्ट गति स्थिति का जो अपाय घटित होता है (Deviation आदि ॠतगतिस्थिति का व्यतिक्रम), वह अपाय भी रूपादि भेद से चतुर्विध कहा

गया है। यदि इसमें गुण-मान-सम्बन्ध आदि का उतना विपर्यय न होकर जप अथवा आकृति (फार्म) गत विपर्यय होता है, तब यह अनुमान करना होगा कि अभी भी यह विपर्यय उदारकोटि में ही जा रहा है। यह है साध्य विपर्यय। यह साधक भी हो सकता है।

यदि कोई वस्तु अथवा वृत्ति अपना रूप परिवर्तित कर देती है, तथापि गुण-मान तथा सम्बन्ध में ठीक रह जाती है, तब उसमें उतनी अनर्थापत्ति नहीं है, वरन् उसमें इष्टापत्ति भी हो सकती है। यदि मिष्ठान्न कई प्रकार का हो और देखने में अच्छा लगे, तब वह अच्छा ही होगा, किन्तु गुणमान में उसका आस्वाद भी अच्छा है क्या ? प्राणी के जीवकोष में Chromosome आदि में gene नामक जो आणव-जीवमूल रहता है, उसमें किसी उपाय से परिवर्त्तन घटित हुआ। अब यह परिवर्त्तन क्या केवल कौलाकृति को ही बदल देगा अथवा कौलगुणमानादि को भी ? वर्त्तमान में Hydrogen Bomb इत्यादि की परीक्षा तथा विस्फोट आदि से जो तैजस प्रक्षेप (Relative fallout) होता है, वह प्राणिमण्डल का कुछ न कुछ विपर्यय अवश्य करता है। जैसे मनुष्य। विभिन्न मुखाकृति के मनुष्य तो हैं ही। भविष्यत् में यदि मुखाकृति और भी हो नाना प्रकार की हो, उससे चिन्ता की उतनी अधिक समस्या उत्पन्न नहीं होती (यह अवश्य है कि उसकी मुखाकृति में पुन: वानरों के समान होने की Reversion की धारा न आ जाये।), किन्तु यदि बुद्धि प्रभृति गुण, सामाजिक-नैतिक-आध्यात्मिक मान तथा अपनी सत्ता में, जीव-जगत् के साथ उसका सम्बन्ध परिर्वत्तित होने लगता है, तब तो महान् अनर्थ उत्पन्न हो गया ! वर्त्तमान में पृथ्वी में जिस प्रकार की अवनत मनुष्यगोष्ठी परिलक्षित हो रही है, उनकी अवनति क्यों तथा कैसे घटित हो रही है, इसे भी प्रसंगत: समझना होगा।

गुणगत अपाय में दक्षिणा का दाक्षिण्य विच्छिन्न होने लगता है। मानगत 'तनुता' अथवा क्षीणता आती है। मूल सम्बन्ध अथवा छन्दगत अपाय के सम्बन्ध में सतर्क रहना होगा। रूप अथवा आकृति के अपायस्थल में विशेषत: कलाकुशल होना चाहिये और मान-गुण में नादविन्दु कुशल। सम्बन्ध में सन्धिरूपा अर्धमात्रा में कुशलता आवश्यक है !

२४. वामदक्षिणत्त्वे निसर्ग: ॥

पूर्वलक्षण निरूपित वामा के दक्षिणत्व अथवा दाक्षिण्य से जो होता है, वह है निसर्ग ॥

इस सूत्र में निसर्ग शब्द को केवल अभिधानिक दृष्टि से देखने से नहीं चलेगा। "नि' (नितरां निश्चयेन वा) आधीयते सर्ग: अस्मिन्" सर्वतोभाव से अथवा निश्चित रूप से सृष्टि जिससे आहित होती है वही निसर्ग है The Basic Background of all creation. पाश्चात्य दर्शन के Natura Naturata तथा

Natura Naturans की तुलना इस प्रसंग में आवश्यक है। गीता के श्लोक 'निधानं बीजमव्ययम्' में निधानं कहने से क्या ध्वनित होता है। उसके पहले है "स्थानं"। यह क्या है? उस भूर्भुवः स्वः रूपी महाव्याहृतित्रय (The three grand categories) का स्मरण करो। 'यह' (व्यक्त), 'वह' (अव्यक्त), न यह-न वह। 'स्थानं' का तात्पर्य है कि सब कार्य अथवा फलरूप से यह मुझमें ही है। जैसे प्रकारान्तर से गीतोक्त विश्वरूप दर्शन! 'बीजमव्ययं' कहने पर यह तात्पर्य विदित होता है कि उसी परमकारण में समस्त, सब कुछ अव्याकृतरूपेण अवस्थित है। 'निधानं' — कार्यसमष्टि से परमकारण को और परमकारण से कार्यसमष्टि की गतिसन्धि को कहा गया है। जैसे बैंक का खाता और घर का खाता। बैंक से घर में आ रहा है और घर से Bank में जा रहा है। मध्य में लेन-देन का एक बन्दोबस्त है जिससे बैंक से घर में और घर से बैंक में रुपया आता-जाता है।

यद्यपि यहाँ पर 'निसर्ग' का तात्पर्य इसी प्रकार की बैंक व्यवस्था ही प्रतीत हो रही है, तथापि 'मुख' तो मूल अथवा 'बीजमव्ययं' के पास है। "जहाँ से सब आ रहे हैं, वही सब जमा हो रहें हैं" अतः बीज का, विन्दु का अन्वेषण करो। यही है निसर्ग वार्त्ता।

अतएव निसर्ग में विन्दु किंवा बीजमुखीनता रहती है। सब कुछ कहते हैं "देखो! इस बीज में, इस विन्दु में ही हम सब निहित हैं" जप में विन्दुविलय में इसी निसर्ग वृत्ति की साधना करना पड़ता है। वर्णमाला के अनुस्वार, चन्द्रविन्दु तथा अनुनासिक सामान्यतः उक्त निसर्ग वृत्ति के ही साधक हैं। यह भी लक्ष्य करो कि निसर्ग वृत्ति में सर्ग न रहने पर ही छुटकारा होगा। निसर्गवृत्ति है विलयसेतुसन्धि सन्धिनी। सर्ग द्विविध हैं—स्थूल अथवा व्यक्तवर्ग, सूक्ष्म अथवा अव्यक्त वर्ग। Kinetic and potential (static)। प्रथम के स्थगित हो जाने पर सापेक्षनिवृत्ति। दोनों के अभाव में निरपेक्षनिवृत्ति।

विलोमा या भवेद्वामा दक्षिणा सा समन्वयात्।
निसर्गमूलविन्दुत्वं संगच्छमानवृत्तिता ॥१०८॥
अमात्रश्चातिमात्रश्चाधिमात्रश्चार्धमात्रकः ।
समात्रश्चेति तत्रापि जानीत सर्गपञ्चकम्।
युक्तिख्याति विधासंख्ये सत्तेति वर्गपञ्चकम् ॥१९९॥

पहले जिस विलोमा की संज्ञा वामा प्रदान की गयी है, उसके सम्बन्ध में यह कहा जा चुका है कि वामा का दाक्षिण्य कैसे संभव होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'दक्षिणा' होने का यह तात्पर्यार्थ नहीं है कि अब वामा (विलोमा) वैसी रह ही नहीं गयी उसने अपना मुख 'फेर' लिया। यहाँ वामा के दक्षिणा होने का यह तात्पर्यार्थ है कि वामा तो अपने उसी रूप में स्थित है, वह विलोमा ही है, तथापि

उसकी उस प्रकार की गति तथा छन्द में अनुकूलता आ गई। वामा की गति एवं छन्द में संगति और समन्वय रूपी गुण विशेषत: आये हैं। संगति = गति की अनुकूलता। गतिच्छन्द का जो दाक्षिण्य अथवा अनुकूलता है, वह किसका उद्देश्य अथवा लक्ष्य है ? 'निसर्गमूलविन्दुत्वं संगच्छमानवृत्तिता'। निसर्ग का जो मूलविन्दु अथवा बीज है, यदि विलोमवृत्ति (जैसे जप के विलय में) उसकी संगति तथा समन्वय में है, तब उस स्थल में वामा का दाक्षिण्य हो गया यह मानना चाहिये। अर्थात् इस प्रकार के स्थल में निसर्ग तो गीतोक्त 'निधानं'' की आकृति प्राप्त कर लेता है। दक्षिणा अथवा वामा, दोनों में ही समर्थ गति को यदि तन्त्र कहते हैं, तब उसमें संगति से उसका यथार्थरूप (यन्त्र अथवा Correct pattern) विदित होता है, और समन्वय होने पर उसके यथार्थ छन्द (मन्त्र अथवा Correct principle) की अभिज्ञाता होने लगती है।

जैसे ॐ नमः शिवाय मन्त्र जपा जा रहा है। यदि अंतिम पद (नमः में) की विलोमा वामागति में ही विन्दु लय तुम्हारा अभीष्ट है, उस स्थिति में नमः में स्थित विसर्ग का ध्वनिप्रक्षेप के समान उच्चारण नहीं करना चाहिये (As an abrupt throw of Sound); 'नमह्' इस प्रकार से ध्वनि अथवा नाद को विन्दु लय की ओर अभिमुखीन सूक्ष्मता (समन्वय-संगति) में लाना होगा। सगीतालापन में वाद्य के लय में इसी phonetic Congruence ध्वनिगत समन्वय तथा संगच्छमानवृत्तिता को विशेषतया साधना होगा। जैसे कोई चौताल राग गा रहा है "शम्भु-शिव आदि"। ताल के सम में आकर शम् कहकर छोड़ दिया किन्तु यह बलात् ध्वनिप्रक्षेप नहीं है। ताल के 'धा' अथवा 'धुम' के साथ जो शम् है, उसके स्व छन्द में लय का प्रदर्शन ही उद्देश्य है। जैसे जप में जब विन्दु विलय में आकर लयविराम की स्थिति आती है, मार्गसंगीत में भी वैसा ही होता है। संगीत में गीतवाद्य के कलाकलाप का नाद में समाहार करते हुये उस नाद को पुन: विन्दु में शयान करना पड़ता है। यह होने पर ही 'सम्' को छोड़कर होगा प्रकृत शम् (कल्याण)। इसके प्रसाद से शिवशक्ति सामरस्य के रसपायी हो जाओगे तुम ! स्थूल में गीत को (स्वर) कहते हैं शिव और तालमात्रा को (स्वन अथवा बोल) शक्ति। शुद्ध आलापन में शिवशक्ति अर्धनारीश्वर के रूप में मिलित शरीर होकर स्थित रहते हैं। 'गायन बाजन' वे पुन: पृथक् हो जाते हैं, लय में पुन: मिल जाते हैं।

इसके पश्चात् कारिका में सर्गपंचक तथा वर्गपंचक का उल्लेख है। अमात्र-अतिमात्र-अधिमात्र-अर्धमात्र तथा समात्र है पंचसर्ग। जिससे सृष्टि होती है, अथवा जो सृष्ट होता है, इस दो प्रकार की स्थिति को देखो। दो प्रकार के सर्ग का (महान् एवं अणु दोनों का) एक अमात्र (unmsaeured) रूप होता है। जिस प्रकार ब्रह्म तो अधिष्ठान रूपेण और ब्रह्मशक्ति सर्ग के मूल आधार एवं भण्डार के

रूप में विद्यमान हैं ही, अतएव ब्रह्म की अमात्रता सर्ग के अधिष्ठान और आधार में है।

सृष्ट पदार्थमात्र में मात्रा रहने पर भी वह समग्रत: एवं तत्वत: अमात्र है। यह एक ओर तत्वत: अमात्ररूप है, दूसरी ओर व्यवहारत: समात्ररूप है। इन दोनों में और भी रूपत्रय हैं। व्यावहारिक प्रयोजनों में उन्हें किसी भी मात्रा में क्यों न लिया जाये, वे सभी समय यह कहते रहते है कि "हमारा सब तथा असली जो है, वह तो तुम्हारी मात्रा में गया नहीं:"। A margin of Indeterminacy समस्त वैज्ञानिक विश्लेषण में रह ही जाती है। वही 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्"। यही है अतिमात्र। तदनन्तर प्रत्येक व्यवहाराधिकार में उन-उन अधिकार में निरूपित उसकी मात्रा तथा मान स्थित है। यही है अधिमात्र। यह मात्रा भी देश काल प्रभृति संस्था में एकरूप से व्यवस्थित नहीं रहती। अतएव इसे सर्वोच्च एवं सर्व-निम्न काष्ठा में देखना होगा जैसे Maximum and minimum temperature आदि। अन्त में अर्द्धमात्र। फलस्वरूप काष्ठाभिमुखीन सब कुछ की मात्रा छन्द में कम-अधिक, न्यूनाधिक होती रहती है। ऋध्यमान होती है।

मानमात्रा दृष्टिकोणानुसार इसी सर्गपंचक की भावना करो। इस प्रकार की सर्गभावना से अब मायाजनित उपसर्ग नहीं रह पाता। जो मायातीत हैं, उनमें उत्सर्ग हो जाता है। जैसे जप। विन्दु में सर्गमात्रा एक साथ शून्य-पूर्ण तथा एक है। नाद में अतिमात्र है। अर्थात् उदय-मध्य तथा विलय में, सर्वत्र ही नाद है अखण्ड (entire indivisible)। वह पाद-कला आदि समस्त मात्राओं का अतिक्रमण करके स्थित है। पाद में है अधिमात्र। अर्थात् प्रत्येक जपोर्मि में अधिमात्र। तथा सर्वत्र, विशेषत: मेरुस्थल में, सेतुसन्धि में वह, है अर्द्धमात्र।

पुनश्च, इस सूत्र कारिका में वर्गपंचक (The five Fundmental Catagories) कथित है। सत्ता, युक्ति (जो योजना करे सम्बन्ध करे), ख्याति (गुण), विद्या (आकृति-प्रकारता) तथा संख्या। ये वर्गपंचक हैं। सत्ता = Substance, युक्ति = Relation, ख्याति = quality, संख्या = quantity, विद्या = Modelity, इस देश के वैज्ञानिकों; पश्चिम के कान्ट प्रभृति वैज्ञानिकों के विभाग के साथ इसकी तुलना करो।

जैसे ओंकार ! विन्दु तथा नाद = सत्ता। अर्धमात्रा में उदय विलय = युक्ति अथवा सम्बन्ध। वैखरी मध्यमादि = ख्याति। पूर्वालोचित अष्ट कला = संख्या। उदय-व्यक्त-विलयादि = विद्या (अथवा स्थूलत: वाचिकादि)।

२५. **वामावामत्वे विसर्गः ॥**

वामा के वामत्व में विसर्ग संज्ञा होती है ॥

इस सूत्र द्वारा वामा के वामत्व को विशेषरूप से समझो। जैसे वामा अथवा विलोमा गति विन्दु की ओर अभिमुखीन चल रही है। यदि कोई अन्तराय (Any thing that crosses or intervenes) नहीं आता तो उसे विन्दु प्राप्त होगा। अन्तराय आ जाने पर उससे प्रहत होकर द्वित्व एवं द्वन्द्वभाक् होगा (Reflected, bi Polarised)। उसका एक विन्दु में पर्यवसान न होकर दो विन्दुरूप में हुआ और एक के मुख में और तल में जो गति है, दूसरे में उसे काटनेवाली (Cross wise) गति हुई। अर्थात् दोनों विन्दु आसपास नहीं रहे, उपर नीचे (:) हो गये परिणामत: विसर्ग बना।

जो निसर्ग है, उसके विसृष्टि रूप को आयत्त करने के लिये इस प्रकार के विन्दु-विसर्ग की आवश्यकता रहती है। इसके विन्दु विसर्ग द्वारा यह कहने पर कि "नहीं जानता" उस मूल नासदीय सूक्त को देखो "कुत इयं विसृष्टि"! तत्वत: विंदु की विसर्गरुपतापत्ति भी सर्ग का एक आदिम रहस्य है। अनुलोम में अथवा विलोम में किसी ऋजु सरल गति से कुछ आकर उसके तलकोणादि को अन्य प्रकार का करता है, तभी सुषम पर्व का सृष्टि विकास संभव होता है। "एकोऽहं बहुस्याम्" नामक काम भी चरितार्थ नहीं होता इस प्रक्रिया के अभाव में! इस विसर्ग का प्रयोजन है एक का मिथुनरूप होना। जीवबीज के द्वित्व-बहुत्वादि (Division and multiplication) भी इसी विसर्गाधिकार में आते हैं। अहम् का द्वित्व-बहुत्व भी आलोच्य है। जड़ के क्षेत्र में भी स्थूल-सूक्ष्म समस्त कुछ में शक्तिविकिरण कामना करता है अपने सम्पात के एक ऐसे मुकुर की जहाँ वह अपने प्रतिबिम्ब के रूप में स्वयं को दो, बहु, द्वन्द्वस्थ (Polarised) रूप में देख सके। महामाया भी आलोकादि निखिल शक्तिवर्त्म में मुकुरमाला (Reflecting-Retracting act media) को सज्जित कर देती है।

इसका परिणाम यह होता है। कि बिम्ब स्वयं की प्रतिबिम्ब के रूप में उपलब्धि करने लगता है। इसी तरह ध्वनि भी प्रतिध्वनि की उपलब्धि करने लगती है, इत्यादि। इसी प्रकार चित्त में वृत्ति का, प्राण में वृत्ति का आगमन हो जाता है। जैसे पृथ्वी के परिमंडल में Inosphere आदि Radio proof होने के कारण पृथ्वी की सूक्ष्म ताड़ितादिशक्ति प्रतिफलन-आवर्त्तन का सुयोग प्राप्त करती है, उसी प्रकार आंणव देश में भी (अणुजगत् में भी) सम्भवत: इसी प्रकार की Atom Roof की विद्यमानता के कारण केन्द्रीण 'युग्म' ताड़ित शक्ति स्वयं को इलेक्ट्रान-प्रोट्रान रूपी द्वैधद्वन्द्व में सज्जित करते हुए ऐटम के व्यवहार का निष्पादन करने लगती है। आणव "मुकुरमाला" ही आणव रक्षाकवच भी है। इसी मुकुरमाला के प्रभाववशात् हाईड्रोजन आदि एटम भी एक-चार इत्यादि एटामिक नम्बरों में इलेक्ट्रान कक्ष में अपने छन्द में आवर्त्तन करते रहते हैं। Fission अथवा fusion में यह मुकुरमाला

विध्वस्त हो जाती है। सौर मण्डल के महाप्रचण्ड केन्द्रोण ताप तथा चाप के प्रभाव से चार हाइड्रोजन (H) एटम मिलकर एक हिलियम एटम की संरचना करते हैं। फलतः किंचित वस्तुमान (Mass) शक्तिमान में परिणत हो जाता है। यह है प्रचंड परिणति। यह है fusion का उदाहरण। तथापि इस प्रकार के विसर्ग द्वारा सौर-जगत् में स्व-छन्द शक्तिसंस्था रक्षित ही होती रहती है। सूर्य का अपना तपादि का महाभंडार 'जमा' में ही रहता है। "फाजिल" की ओर उतना नहीं जाता। किन्तु तुम्हारे Thermo न्यूक्लियर बम्ब में विसर्ग परिणत हो जाता है महोपसर्ग के रूप में!

उपाय? विसर्ग मात्र को ही बिन्दुनाद प्रशासन में अग्निषोमीय समता में रक्खो। तुम्हारा मनन हो जाये मन्त्रम्, तुम्हारा यमन (Control) हो जाये यत्रम्। तुम्हारा तायन (aggression) हो जाये तन्त्रम्। याद रक्खो कि तुम्हारी वर्त्तमान fusion प्रक्रिया में यद्यपि तुम सूर्य के महाविराट यंत्र की अनुकृति का निर्माण करना चाहते हो, तथापि यह मत भूलो कि सूर्य केवल यंत्र नहीं है, वह है यंत्रम्। अर्थात् सूर्य तथा सूर्यशासित पृथ्वी आदि, ग्रह में तड़ित-चौम्बकादि (Electro-magnetic) मुकुरमाला इस प्रकार से विन्यस्त है कि उसके परिणामस्वरूप सूर्य संहार से रक्षा और पोषण प्राप्त करने से उसकी प्रचण्ड शक्ति का विनियोग होने लगता है। यंत्र में यमन (Control) रूपी मुख्याधिकार का होना आवश्यक है। तुम्हारे द्वारा परिकल्पित Stellarator प्रभृति में जब तक यह 'यमन' मुख्याधिकार नहीं होगा तब तक उप-रोक्त महोपसर्ग का शमन सम्भावित नहीं हो सकेगा। अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग जानते हैं, किन्तु उसका प्रतिसंहार (लौटाना) नहीं जानते।

जो मुकुरमाला विसर्ग के लिए आवश्यक है, वह विभिन्न प्रकार की है। इनमें से अनेक हैं सर्ग की छन्द सुषुपता तथा अग्निषोमीय समता की ओर उन्मुख। महोप-सर्ग का वारण करने के लिए इनको विशेष करके छाँट लेना होगा। इन्हें जड़ीय-प्राणिक तथा आध्यात्मिक रूपी भागत्रय में पहचानना होगा। जो प्रचण्ड आणविक शक्ति उद्भूत हो सकी है, उसे किसी प्रकार से मैगनेटिक आदि किसी ब्यूह में आबद्ध कर सकने वाले ऐसे उपाय विशेष को जड़ीय (फिजिकल) कहते हैं। अन्दर कालाग्नि है, किन्तु बाहर से स्निग्ध शीतल है, इस द्वन्द्व का समाधान प्रकृति में है। तुमको भी ऐसा ही करना पड़ेगा! तब भी प्राणिक एवं आध्यात्मिक रक्षाव्यूह की रचना ही मुख्य उद्देश्य रूप है। a system of Inner nature defences. प्रणवादि आश्रय में नादसाधना और ध्यानधारणा आदि के माध्यम से संयम साधन, और जहाँ महोपसर्ग है वहाँ 'आशु रक्षाकल्प' द्वारा चाहे जितना भी गोचरफल हो अथवा न हो ('समर्थ' होने पर फल अवश्यम्भावी है।) परन्तु स्थायी रक्षाकल्प पूर्ण आश्वास-अभय की व्यवस्था कर देता है।

जिसके मांथे पर 'बाज' आ पड़ा है उससे रक्षा प्राप्त करने हेतु वज्रसत्व आवश्यक है। (बाज का विश्लेषण इस खण्ड के आरम्भ में अंकित है।) वह वज्रसत्व इस मरलोक' में दुर्लभ सा है, किन्तु उसके द्वारा होने वाली निकटस्थ अथवा दूरवर्त्ती अनिष्ट प्रतिक्रिया से रक्षा आवश्यक है। उसका उपाय मिलना भी आवश्यक है।

> विन्दुमूलं निसर्गस्य स द्वन्द्वभाग् भवेद् यत: ।
> नादक्षोभानुरोधित्वात् संगच्छघानताच्युते: ॥११०॥
> निर्व्यूढ़घनतापायाद व्रजेदुच्छूनतां स्वत: ।
> सप्तव्याहृतिभिर्व्यस्तो विसर्ग: स उदीरित: ॥१११॥
> विन्दु: शक्तेर्धनत्वस्य निरतिशयतालय: ।
> भूमत्वञ्च तथात्वेऽपि विन्दोर्हि नादरूपता ।
> नादक्षोभो भवेद्वेतो विन्दुक्षोभो भवेद्रज: ॥११२॥

जो विन्दु (एक) निसर्गमूल है, वह द्वंद्वभाक् (Dual and polar) होता है विसर्ग के उद्देश्य से। अर्थात् विसर्ग ही प्रयोजनरूप है इस प्रकार के द्वन्द्व तथा मिथुनीभाव का। कला तथा नाद, ये दोनों एक पूर्ण शून्य विन्दु में संगत (Coalesced) रहते हैं। अब यदि नाद कहता है 'मैं और इस प्रकार की एकीकृत संगति में नहीं रहूँगा, उससे पृथक् सत्ता तथा वृत्ति में जाऊँगा", तब इसे कहते हैं नादक्षोभ The Stress of Nada to become, इसके प्रभाव एवं अनुरोध के कारण जो एक तथा संगत था, वही बिन्दु तथा नाद रूपी द्वन्द्व एवं मिथुन भाव को प्राप्त हो गया। उद्देश्य ? नाद स्वयं को कलाकलित करेगा। अखण्ड नादब्रह्म से 'अ' आदि वर्ण कला तथा शब्दकला इसके पश्चात् विसृष्ट होती है। वर्णकला तथा शब्दकला यह दोनों सर्गकला से अभिन्न हैं। अर्थात् Sound elements are basically Creative elements.

कलाकलन उद्देश्यार्थ जो नादक्षोभ है, उसका आदिमरूप क्या है? ब्रह्मशक्ति के निर्व्यूढ़ता का घनरूप जो बिन्दुत्व है, उसके रूप में व्यवहारत: (तत्त्वत: नहीं) अपाय घटित होता है और विन्दुब्रह्म में एक प्रकार की स्वत: उच्छूनता (Self-Swelling) आविर्भूत होने लगती है। (जैसे बीज आदि अंकुरित होने के पहले फूल जाता हैं) जो सर्गकला नादक्षोभ के कारण विसृष्ट होगी, यह उसकी पूर्वसूचना है। सर्ग का यह विसर्गरूप (विविध कलाशक्ति में अभिव्यक्त रूप) पूर्वोक्त व्यास वृत्ति (डिफरेन्शियेशन) के कारण है। अर्थात् नादक्षोभ के कारण निखिल सर्गकला इसी के अनन्तर 'व्यस्त' होगी। इसी मूलव्यास व्यापार की तीन अथवा सप्त व्याहृति आकृति कही गयी है। अर्थात् जो कुछ विसृष्ट (Ejected or projected) होता है उसका मूल विन्दुनाद सन्धि में आहृत ही रहता है Hold on to the Basic

Origin, Frame and Co-ordinates, यही आहरण पहले तीनअथवा सात प्रकार से आलोचित हो चुका है ।

विन्दु-नाद के सम्बन्ध में पुनः संक्षेप में कहा जा रहा है । विन्दु के शक्तिघन भाव की निरतिशयता में उसके आलय की भावना करो । और नाद उसकी निरतिशयता की रक्षा करता है (तथात्वे), वही है विन्दु का भूमत्व ! एक ही शक्तिब्रह्म का घनत्व (अणुत्व) तथा भूमत्व रूपी भावद्वय कहा गया है । घनत्व 'मुख फेरता' है एकत्व की ओर, और भूमत्व फेरता है बहुत्व की ओर । जो शुद्ध निर्विशेष भूमा है, वह इस द्वैत से अतीत है । वह न तो एक है और न बहुः ही है । कोई भी लक्षण उसकी स्वरूप स्थिति तक नहीं पहुँचता । चाहे एकरस लक्षण आदि क्यों न कहा जाये, ये सभी लक्षण उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते । वह स्वभावतः अलक्ष्य तथा अक्षोम्य है । किन्तु विन्दु-नाद के तत्तद्वच्छिन्न रूप में क्षोभ रहता है । इनमें नाद क्षोभ है रेतः और विन्दुक्षोभ है रजः ।

नादक्षोभ में बिन्दु—यदि यह भावना करो कि नादक्षोभ में विन्दु है, तब नाद की पर (ब्रह्म) रूप में भावना करो । क्षोभ अर्थात् जहाँ है काम एवं विसृक्षा । जब 'नाद से विन्दु, विन्दु से नाद' इस प्रकार के जन्य जनकता सम्पर्क को कहा जाता है, तब यह समझना होगा कि दोनों को पर पर्व से नीचे उतारा जा रहा है । परत्व में कोई भी अन्यजन्यत्वधर्मावच्छिन्न नहीं है । इसी प्रकार अवच्छिन्न हो जाने पर अपरत्व आ जाता है । अपर को जनकत्वादि की अपेक्षा रहती है ।

अधिष्ठित तथा अधिष्ठान, शक्ति-शक्तिमान, जबतक तादात्म्य सामरस्य में अवस्थित रहते हैं, तब तक क्षोभ्य-क्षोभक, अपर-पर प्रभृति द्वैत-द्वन्द्व नहीं रहता, तब तक नाद-विन्दु परस्परतः 'अन्य रूपता' (जन्यजनकादि सम्बन्ध में) नहीं प्राप्त करते ।

जैसे परब्रह्म स्वयं को परमकारण रूप से प्रदर्शित करते हैं । यह भी परब्रह्म से अतिरिक्त कोई तत्व नहीं है । परब्रह्म अथवा शिव ही स्वयं को "जगद्योनिर योनिः "रूप से उपलब्ध करा रहा है । यह है उसका सृष्ट्यादिकल्प में स्व-ईक्षण । यह है परनाद । इस बार परमकारणता को निखिल सर्ग बीज रूप से प्राप्त करने के लिए उद्यत होने पर ब्रह्म के स्व ईक्षण को स्व काम (will to become) होना होगा । साथ ही निखिल बीज को एक साथ शून्य-पूर्ण रूप से गर्भित करना होगा । इसी (रूप से) अयोनि जगद्योनि से शिव के 'बिन्दु' का विधान होता है । यह है सृष्टि के अनिदान का मूल रहस्य । इस मूलविन्दु से पुनश्च नाद का और उससे कला (अपरा) का उद्भव-विकास-विलय । बीज बिन्दु का स्वभाव ही यही है कि इसीमें यह समाप्त होता है और पुनः उससे व्याप्त (व्याकृत) हो जाता है !

कारिका में उक्त है कि नादक्षोभ रेतः है और विन्दुक्षोभ है रजः। इन दोनों संज्ञा द्वारा पूर्वोक्त समाप्ति तथा व्याप्ति (व्याकृति) को विशेषतः ग्रहण करना होगा। रेतः कहता है "मैं अग्नि हूँ। सर्ग को रूप देते-देते अलग हो जाता हूँ, परन्तु इस बार तुम में (बीजाधार में) आकर-मैंने समापन किया। तुम मुझे (अग्नि = र) धारण करो। इस बार स्वयं को जनि (ज) के लिए व्याप्त तथा व्याकृत (स्) करो"। रजः कहता है "वही हो ! तुम मुझमें आओ"। व्याप्तिःव्याकृति की सूचना विन्दु की (बीज की) स्वतः उच्छूनता ही है !

जप में नाद की भावना रेतोधा रूप से करो। 'धा' अवश्यमेव है कर्त्तृवाच्य। विन्दु विलय में इसका अन्तर्भाव (Interiorization) होता है। मानों कर्त्ता अपने कर्म का सम्प्रदान (समापन) करने के लिए करण के साथ अपादान अधिकरण में शयन कर रहा है। इस प्रकार से विन्दु में कर्तृकर्मादि षट्कारण का एकत्रावस्थान हो जाता है। सम्बन्ध (षष्टी) विन्दु सम्बन्धी होकर बन जाता है सेतु सन्धि। विन्दु स्वयं हो जाता है निखिलकलनकारणता। इसमें नाद रेतः रूप से प्रविष्ट है, अतः विन्दु के जनिकल्प में स्वयं उच्छूनतारूप जो क्षोम हो रहा है, उसे रजः कहते हैं।

२६. वामो देवो देवनात् ॥

जो वाम है, वह देवनगुणवशात 'देव' संज्ञा प्राप्त करता है ॥

जो वृत्ति ऋजु तथा दक्षिण भाव में रहते-रहते उससे विपरीतमुखीन होकर स्तब्ध-स्तिमित अथवा चलचञ्चलादि हो जाती है (Dead-dull monotony or troubled, distracted movement) उसमें (उस प्रकार के वाम में) यदि देवन धर्म का संचार किया जा सके, अर्थात् यदि उसमें मुक्त-स्वच्छन्द-स्वच्छ-सावलील होने की प्रवणता आ सके, तब वह वाम हो जाती है। जो महादेवता सृष्टि के सर्वक्षेत्र में वाम की इस प्रकार से देवन में जाने की प्रेरणा तथा मार्ग देते है, वे ही हैं वामदेव। पूर्व में द्यौः सूत्र में तथा अन्य अनेक प्रसंगो में 'दिव्' 'देव' प्रभृति शब्द आलोचित हो चुके हैं। वे यहाँ पुनः स्मरणीय हैं।

क्षोभ्यक्षोभकवैषम्यात् सङ्गच्छेरन् न वै यदा।
विसृष्टो ये तदा बाधाः प्रसज्यन्ते पृथग्विधाः ॥ ११३ ॥
वामस्य वामतापत्ते र्दीपनेदेवनद्वयम्।
आद्योऽर्चिरन्यतो वर्च्च उभयत समीहते।
आर्जवे दीपनं ज्ञेयं वौचित्वादिषु देवनम् ॥ ११४ ॥

जैसे कोई एक विसृष्ट पदार्थ (what has been ejected or projected from a central sonrce of power) । (Eject कहने पर Subjective or original की मुख्यता है। Projection किसी न किसी objective plane of

incidence के Reference का मुख्य रूप होता है) । विसृष्ट मात्र में ही कोई न कोई क्षोभ्य अवस्थित रहता है। (क्षोभ्य = क्षोभयोग्य Subject to stress and strain)। कोई न कोई क्षोभक (आपरेटिव फैक्टर) तथा इन दोनों का कोई अनुपात विशेष भी रहता है। यह अनुपात सुषम अथवा विषम होता है।

सुषम का तात्पर्य लक्षणा में ऋजु अथवा सरल भी है। जैसे एक सुस्थिर जलराशि। इसमें एक ऋजुधारा प्रवर्त्तित हो सकती है। अथवा एक सुषम् तरंग गुच्छ भी रह सकता है। ये उक्त दो प्रकार के न होकर वक्र अथवा विषम भी हो सकते हैं। गान-व्याहरण में आ अथवा ई स्वर किसी ऋजु एवं सुषम वितान के साथ ही वक्र एवं विषम वितान में भी ग्रहण किये जा सकते हैं। इन दोनों दृष्टान्तों में जल तथा स्वर होने पर क्षोभ्य तथा वायु-प्राणप्रयत्न प्रभृति होने पर क्षोभक स्थिति होती है। इन दोनों क्रियाकारक अनुपात पर निर्भर करता है इनका फलानुपात (effectual Ratio)। सर्वत्र ही ऐसा ही है। सृष्टि के पदार्थमात्र के क्षोभ्य-क्षोभक सम्बन्ध में एक स्वाभाविक स्थितिस्थापकता (Natural Ratio of elasticity) रहती है। यह है विश्व व्यवहार में अपनी उसकी अपनी संस्था। इससे व्यवस्थित होता है उसकी जाति, धर्म तथा लज्जा। ऋजु अथवा सुषम फलानुपात से वस्तु के धर्म आदि का योगक्षेम साधित एवं रक्षित होता है। वक्र विषम से अनर्थापत्ति होती है। वहाँ वस्तु की सत्ता, शक्ति, छन्दः तथा आकृति की सुसंगति नहीं रहती। यह सुसंगति असंगत हो जाती है अपने सम्बन्ध में तथा विश्व सम्बन्ध में।

यहाँ वामतापत्ति तथा द्विविध बाधा की संभावना रहती है। वाम अर्थात् 'what is not according' जो अभिमुख में नहीं है, सुर-छन्द में नहीं है। यहाँ उपाय है, वाम को वाम में ही वाम करो (वामस्य वामतापत्तेः)। जो विष (अथवा रोग प्रभृति) वाम होकर अनिष्ट घटित कर रहा है, उसका उपाय विशेष द्वारा उसका मुख फिरा कर इष्ट (भेषजादि) में परिवर्तित करो। वामदेव (नीलकण्ठ) कण्ठ में हलाहल धारण करके इस उपाय संकेत को प्रदर्शित कर रहे हैं। तुम जप में वाक्-प्राण तथा चित्त के समस्त विष का व्याहरण से कण्ठ में आहरण करो। शोषण-जारणादि करके उसका अमृतायन करो। इस कर्म में नाद हो जाये अग्नि, अकारादि कला (मन प्राण की भी), उस में आहुति दो। विन्दुविलय के द्वारा उसमें सोम (अमृत) सवन करो। जपादि सर्व क्षेत्र में जो वाम है, उसे पुनः वाम करना पड़ता है।

यद्यपि इस इष्ट फल की साधारण संज्ञा देवन है, तथापि उसकी आकृति देवन तथा दीपन दोनों ही है। दीपन में ऋजुमुख्यता है और वह है अर्चिः। देवन में है सुषमवीच्यादि छन्द मुख्यता और वह है वर्च्चः। जैसे गायत्री जप मे शुद्धनाद-वाहिता = अर्चि और भूर्भुवः स्वरादि कलावितान में वर्च्चः। नाद में दीपन, कला-

वितान में देवन। विश्वव्यवहार में सर्वत्र यह सूत्र प्रयोज्य है। जैसे वर्त्तमान विज्ञान-व्यवहार में आणव शक्ति की विषम वामता के कारण महान् अनर्थ सम्भावना घटित होती जा रही है। इस वाम को ही पुनः वाम कर सकने पर सृष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-सिद्धि सम्प्राप्त होती है। वाममात्र को 'मृत्युबाण' अपने से ही दिया गया है। अतः सन्धि को पकड़ो।

२७ वामो रामो रमणात् ॥

रमण धर्म आने पर वाम हो जाता है राम ॥

रमण शब्द साधनार्थ यह कारिका है :—

रमिति वह्निबीजं स्यादनित्याद्यक्षरत्रयम् ।
अन्ते ह्यकारयोगेन लभ्यते रमणाक्षरम् ॥११५॥

रम् है वह्निबीज; अण्=अ इ, उ ण—ये आदि स्वरत्रय। अन्त में पुनः अ। सबके संयोग से सिद्ध हुआ 'रमण' शब्द। अरणि तथा मन्थन, इन दो शब्द का अक्षर समाहर इस 'रमण' शब्द मे ही रहा है। 'म' मध्य में आया है। वेद उपाख्यान में अरणिद्वय मन्थन में अग्नि उत्पादन को उर्वशी-पुरुरवा के रमण रूप में कहा गया है। यह भी स्मरण करो। रमण शब्द में पूर्व व्याख्यात नादक्षोभजन्य रेतः तथा विन्दु क्षोभजन्य रजः, इन उभय शाक्त मिथुन की सामान्याधिकरणता और संगति (Co-Existence and Co-functioning) घटित होती है। फलतः उभय के हृत् में जो रस तथा आनन्द है, वह मधु रूप से काष्ठा की गति (ण) बन जाता है। रस तथा मधु को पृथकतः क्यों कहा गया, यह भी चिन्तन करो। रस तो स्वरूप में आस्वाद्य आस्वादन के बिना भी रहता है। जैसे निगूढ़ रस आदि। पुष्प के समस्त अवयवों में रस है, किन्तु मधु रहता है उसके मधु कोष में ही। रस भूमा है, सर्वव्यापी निखिल में ओत-प्रोत, निखिल हृद्वस्तु (All pervasive Core substance) है। वह है मधुरूपेण घनीभूत एव आस्वाद्य। ब्रह्म भी है भावद्वय में, रस तथा मधु।

ब्रह्म एवं अलसित रस, स्पन्दायमान अथवा स्पन्दरूप होने पर उल्लसित विलसित होता है। यह है रस का मधुलुभा, मधुलालसा में आत्म लीलायन। रस के इस माध्वीलीलायन को 'रमण' रूप में समझना चाहिये। अलसित (जड़ीय) एवं प्राणस्पन्द विकास में जो उल्लसित है, वह इन दोनों की सन्धि में रमण तथा इच्छा-कृति को ग्रहण करता है, अतः है विरंसा। रस की माधुर्य परिसीमा है रासलीला। उसमें रस के रन्तुकाम होने का परम आलेख स्फुरित होता है।

क्षोभक्षेत्रे नादबिन्द्वोररणिद्वयलिङ्गिते ।
पञ्चधा मथनं तस्य चैकधा प्रणवाक्षरैः ॥११६॥

दो अरणियों की पारस्परिक आलिंग्यमानता में (अथवा अरणिद्वय द्वारा सूचित तथा निरूपित क्षोभक्षेत्र में) पञ्चधा अथवा एकधा मन्थन होता है। अरणि-

द्वय की किस प्रकार से भावना करोगे ? एक है सामान्यत; नाद, द्वितीय है विन्दु (दोनों के क्षोम्य क्षोभक सम्पर्क से)। 'आत्मानमरणिंकृत्वा' इत्यादि में आत्मा है विन्दु स्थानीय और प्रणव है नाद। समस्त जप में विन्दु की भावना करो अधरारणि रूप में और नाद की भावना को उत्तरारणि रूप में ! छन्द तथा आकृति के साथ कला भी अरणिद्वय मन्थन द्वारा ही संजात होती है। अरणिद्वय के रूप में यथानुरूप भाव से पृथ्वी तथा पर्जन्य की भी भावना करो। बुद्धि तथा चित्त की भी भावना अरणिद्वय रूप मे करो। प्राण के क्षेत्र में स्त्री-पुरुष का मिलन तो अरणिद्वय का साधारण दृष्टांत है। जड़ में रासायनिक सयोग, एटामिक फ्यूशन इत्यादि भी उपमेय हैं। एक अरणि है नादरूप, दूसरी है विन्दुरूप। इसका तात्पर्य यह है कि क्षोभ्य क्षोभक मात्र में ही एक में है (क्षोभ्य में है) प्रसरत मुख्यता (Expansive Co-efficient) क्षोभक में है संकुचत मुख्यता (Intensive Co-efficient) एक समस्त रूप में विचित्र रेखा में स्फुरित होना चाहता है, दूसरा सबको ही एक केन्द्रीण घनता में जड़ित करके रखना चाहता है। इन दोनों का अनुपात यह निरूपित करता है कि पदार्थ की वृत्ति विशेष किस आकार की होगी।

एकधा एवं पञ्चधा मन्थन ? अरणिद्वय (योग्य अनुवन्ध में) के मन्थन से जो अग्नि आविरूपता में आया, उस अग्नि की मुख्यप्राण तथा प्राणापानादि से पंचीकृत प्राण की धारणा करो। इनमें मुख्य प्राणाग्नि ही है आदि-निधान एव निलय। जप में शुद्ध नाद है मुख्यस्थानीय। नादाधार में पाद, मात्रा, छन्द: आकृति तथा काष्ठा रूपी पंच विधा से कला की अभिव्यक्ति होती है। बोध में एक सामान्य प्रत्ययाधार में ही रूप रसादि पंच तन्मात्र का व्यास (Differentiation) होता है। सृष्टि में ब्रह्म का आदिम स्व ईक्षण ही है आदिम अरणिमन्थन। इसीसे आकाशादि पंचमहाभूत का अस्तित्व प्रकट होता है। यह सूक्ष्म में होता है, अर्थात् इनका रूप प्रथमत: सूक्ष्म है। इनका जब पचीकरण होता है, तब है स्थूल सृष्टि। निसर्ग संवाद में ब्रह्म (अखण्डसत्तासामग्री), विन्दु, नाद, कला (परा तथा अपरा) को प्राप्त करना ही होगा। यदि इन्हें प्राप्त नहीं किया गया, तब विन्दु, नाद, कला आदि के फंदे में पड़ना ही पड़ेगा। इन्हें प्राप्त कर लेने, जान लेने पर इनका फंदा काम नहीं करता। अत: एकधा तथा पंचधा, इन दोनों को सम्यक रीति से साध लो। एकाक्षर बीज जप में, गायत्री प्रभृति जप में क्या करना पड़ता है ? पाँच को अर्थात् विन्दु 'उ' नाद कला, 'वि' नाद तथा विन्दु को एक में (पराव्यक्त विन्दु में) मिलाना पड़ता है। उस एक और एकाधार में है पूर्ण-शून्य। गायत्री में (व्याहृतित्रय के अतिरिक्त) उदय-विलय ओंकार है और पांच कलाये हैं। दुर्गा, नृसिंहादि को गायत्री में प्रणव आदि द्वारा पुटित करने पर है पंच संख्या !

हिरण्यबाह्लसोमाख्य रेतांसि सन्ति मन्थनात्।
वामो रामो भवेदेवं हौंसाक्षरसमुच्चयात् ॥११७॥

मिथुनमन्थन में (Bipolar Interaction में, विशेषत: प्राण तथा चेतना की भूमि में हिरण्य, वन्हि तथा सोम (चन्द्रमा:) रूपी त्रिविध रेत: समुद्भूत हो जाते हैं। साथ ही कामकला, सोमकला एवं अर्द्धकला रूपी रज: भी प्रकट हो जाता है। इसमें से कामकला को ब्रह्म के स्वकाम रूप से सबसे पहले लेने पर (अर्थात् रेत: एवं रज: की अभिन्न मूल भावना करने पर) मन्थन (उद्भूत) संस्था की संख्या पाँच ही परिलक्षित होती है। गणना में सोम दो बार आता है। इसे दोनों स्थल में दो भावों के अन्तर्गत् देखा जाता है। यह रेतस स्थल में है चन्द्रमा: और रजस् स्थल में है चन्द्रमा। पूर्वसूत्र का स्मरण करो। प्रथम में है प्रसरत (विसर्ग) मुख्यता, द्वितीय में (चन्द्रमा में) है संकुचत (विन्दु) मुख्यता। प्रथम कहता है वितान-विस्तार। दूसरा कहता है घनन, समाहार।

रमण का विचित्र प्रसंग कहा जा चुका। अब देखो वाम कैसे राम हो जाता है? उसे कारिका के अन्त में रहस्यभाषा द्वारा कहा गया है। "हौंसाक्षरसमुच्चयात्"। जैसे पूर्वालोचित "ह् सौ" आकृति (फारमूला)। 'ह' (संचित) तथा स (सिंचित) Potential and kinetic है तथा स अरणिद्वय के समान मंथन में लगे हैं। 'औ, इस मिथुनीकृत संस्था का निर्देश दे रहा है। मन्थन के उपक्रम से रणन। औसिलेटरी नमूना है श्वास-प्रश्वास, हृदयस्पन्दन आदि। सूक्ष्म में भी यह है। वहाँ यह संकुचित स्व घनीभूत सा है। वह कहता है "मै प्रसारित होऊँगा"। "अच्छा! किन्तु पुन: घनीभाव में लौट आओ।" इस प्रकार की रमणी वृत्ति का संचार हो जाने पर 'ह् सौ' की क्या आकृति होती है? 'हंस:' आकृति होती है। यहाँ यह हंस:' दक्षिण तथा वाम भी हो सकता है। दक्षिण तथा वाम का इस प्रसंग में एक विशेष अर्थ है। (दक्षिण = According to Rhythm or pattern) (वाम = Not According)। यहाँ दक्षिण तथा वामा के साथ उलझना ठीक नहीं है।

यही है दक्षिण-वाम प्रसंग का विशेषार्थ। वाम अर्थात् वामावर्त्त, ऋणमुखी, विपरीतभावेन, अन्यथारूप। वाम अर्थात् शोभनादि भी होता है। इन सब में वैप-रीत्य अथवा अन्यथापत्ति लक्षणावच्छिन्न को वर्त्तमान प्रसंग में विशेषत: लिया गया है। इसे ऐसे देखो कि हंस: में वाम कब होता है कैसे होता है? जैसे श्वास-प्रश्वास अथवा हृत्स्पन्दन। स्वास्थ्य अथवा जपध्यानादि के प्रसंग में (अनुबन्ध में) इन दोनों का दाक्षिण्य है अथवा नहीं है? यह प्रश्न नहीं है कि वाम नासिका से श्वास प्रवहमान है अथवा नहीं है। दाक्षिण्य = छन्दोगत्व Rhythmicity प्रभृति इष्ट साधन के अनुकूल गुण। वामत्व है इसका अभाव अथवा विरोध। अरणिद्वय का घर्षण हो रहा है (अर्थात् रणन है। Molecllar oscilation); किन्तु घर्षण सम्यकत: छन्दोमत्त (दीर्घकाल-निरन्तर, सत्कारासेवित) न होने पर उससे अभीष्ट अग्नि-

मन्थन साधित नहीं होगा। Irregular, Interrupted, retarded इत्यादि व्याज-विघ्नसंकुल क्रिया द्वारा अग्निमन्थन कैसे हो सकेगा ?

अतः रणन को रमण रूप में लाना ही होगा। जो 'ण' मध्य में था, अब वह अन्त में गया। अंतिम 'न' मध्य में आकर 'म' बन गया। अतः वाम हुआ राम (जो सर्वभूतसमूह में अन्तरात्मा रूप से रहते हैं और उनकी हृद्वस्तु अर्थात् रस का पूर्व-निरूपित मधुरूपेण मन्थन करते हैं।) हंस में जो रणनी वृत्ति है, उसे इस प्रकार से रमणीवृत्ति में परिवर्त्तित करो। इसके लिये क्या चाहिये ? चाहिये ब्रह्म का वाचक ॐ। इसे ठीक मध्य में लाओ। अर्थात ॐकार ही नाभि में रहते हुये 'ह' कार की विन्दुमुखीनता (हं, Intensive Potential movement) एवं सकार की विसर्ग प्रवणता (सः Expansive radiating moment) इन दोनों को ही ब्रह्म के स्व ईक्षण स्व काम, स्व संकल्प तथा स्व तपः रूपी चतुः पादः में कुशलक्रांन्ति सम्पन्न करेगी। ब्रह्मवाचक ॐ में ये चतुः पाद सम्पद्यमान हैं (विन्दु = काम, नाद = ईक्षण; कला = संकल्प, सेतुरूपा अर्द्धमात्रा = तपः)। ॐ के अन्तर्भाव के कारण हंस हो गया हौंसः। इसी की कृपा से वाम हो गया राम। (कुशलक्रान्ति शब्द पर ध्यान दो— वामन सूत्र में यह विवेचित हो रहा है)।

२८. वामो वामनो विक्रमात् ॥

विक्रमधर्म रहने पर वाम हो जाता है वामन ॥

क्रमधर्म की विवेचना इतिपूर्व अनेक प्रसंग में हो चुकी है। क्रम के कतिपय भेद है; जैसे अनुक्रम, उपक्रम, पराक्रम, अतिक्रम। किसी अभीष्ट लक्ष्य (end of Pursuit) के सम्बन्ध में हमारा (सृष्टपदार्थ का) क्रम अथवा क्रान्ति है अनुक्रम एवं उपक्रम। ये दोनों भूमियाँ अपना अधिकार करते हुये परिक्रम के अर्ध पर्यन्त जाती हैं। अर्थात् सार्धद्विपाद उसकी साधारण गति है। Tends, Approximates, Conditionally and partially applies or holds. यहाँ साधारण सृष्टक्रम की एक सेतुसन्धि है (इफीसियेन्सी बार है)। इसे पार किये बिना उत्तर सार्द्ध द्विपाद अधिकार में नहीं आता। साधना में पहला है कृति का स्थान, दूसरा है कृपा, भागवती शक्ति जागृति, आवेश, सञ्चार आदि रूप से। प्राण के क्षेत्र में Emergency, mutation प्रभृति। यहाँ वयःसन्धि भी विवेच्य है। अध्यात्मस्थल में विवेच्य है दीक्षा-मन्त्र-चैतन्य आदि। मध्य की इस सेतु सन्धि को कहो 'विक्रम' (विशेषेण क्रमः)। क्रिया के पूर्वार्द्ध में गतिस्थिति लक्ष्य में सर्वाङ्गीण रूप से व्याप्त नहीं हो पाती, उसे बाधा का सामना करना पड़ता है। अनुक्रम (Tending to) तथा उपक्रम (apdroximating to) होने पर भी बाधा के कारण परिक्रम (अथवा परिक्रमा) सर्वतोभाव से घटित नहीं हो रहा है। जैसे गायत्रीजप में विलय ओंकार नाद अपनी वैखरी वृत्ति

का तथा चित्त अपनी संकल्पवृत्ति का पूर्ण त्याग नहीं कर सका, अतः वाक् तथा मन का आहरण कर सकने और आत्मस्थ कर सकने में अकेले प्राण सफल नहीं हो सका और अर्धमात्रा सेतु का समाश्रय भी नहीं कर सका जो कि आवश्यक था। फल यह होता है कि जप परिक्रमा में व्याघात ! उदय ओंकारनाम में भी यह व्याघात संभव है। इस प्रकार की व्याघातापत्ति है वामता। अर्थात् ऐसा होने पर यह समझ लेना कि तुम्हारा साधन 'वाम' है।

जैसे पृथ्वी के एक स्थान से अन्य स्थान पर्यन्त Radiogram लगाओ। पृथ्वी के उर्ध्व परिमण्डल में जो Ionosphere स्तर रहता है, उसके द्वारा प्रतिफलन स्व छन्द में न रहने पर रेडियो परिक्रमा में व्यतिक्रम घटित होगा। सौरमण्डल के किसी प्रचण्ड विस्फारण अथवा Bomb Testing इत्यादि के फलस्वरूप यह व्यतिक्रम हो सकता है पृथ्वी के Electro Magnetic संस्कार में परिवर्त्तन कराने पर ! यह भी वामता का दृष्टान्त है। पूर्व विवृत्ति के अनुसार वाम हो जाता है वामन।

एतवानिति या व्याप्तिर्भूभेदव्यातिगारजात् ।
अमृतं दिवि निर्देशादतिव्याप्तिश्च विक्रमः ॥११८॥
कश्यपादितिपक्षाभ्यां सृष्टिकृद् यज्ञ इज्यते ।
कालोग्निश्च समिध् वस्तु हविश्छन्दो मनः स्वयम् ।
भूमिर्वेदीति जलपध्वमुरूक्रमत्तिविक्रमौ ॥११९॥
वामनो यः समासीनो मध्येऽध्वरेऽपि सर्वभृत् ।
द्विधा विक्रमणात्तस्य वामो हि वामनायते ॥१२०॥

अन्तिम श्लोक से आरम्भ करो। 'मध्ये वामनमासीनं' क्रमकान्ति (graded or gradual progression) का विश्लेषण करने पर उसमें अनुक्रमादि (Tending and Conforming) पञ्चपर्व प्राप्त होते हैं। यह भी देखा है कि इस क्रान्ति के सन्धिस्थल में (ढाई पाद में) विक्रमणी शक्ति सूक्ष्मतः (सम्भावनी रूपेण) रहती है। यही है वामन। क्रमक्रान्ति को अध्वर कहा गया है, क्योंकि 'अध्वनि' अर्थात् क्रमेण (In moving which trases a path) यह अग्नि को (र=रत्नधातम्, पुरोहित) अग्रे (आगे) उद्दीपित करता है। (a continued function that keeps the fire en-kindled, ever renewing and forging ahead)। यह है यज्ञ का एक विशेष नाम। क्यों है, यह विचार करो ? इसके आदिवर्ण 'अ' का भाव पूर्वोक्त अकार सूत्र में देखो।

'अ-आ' सूत्र में बलि का व्याख्यान भी है। बलि का यज्ञ अर्थात् सृष्टि का मूल यज्ञ—पुरुष सूक्त आदि में जिसका उल्लेख है। इस यज्ञ का अन्त नहीं होता, यह सर्वत्र चलता रहता है। अतः इस सार्वभूमिक यज्ञ के पूर्व में तथा पश्चात् में

सार्द्ध द्विपाद द्वय के मध्य में (सन्धि में) वामन विक्रमणरूपेण विद्यमान रहते हैं। विक्रमीवृत्ति Covering conquering and surpassing Power, के अभाव में कोई भी गतिस्थिति सर्वाङ्गीण नहीं होती। सर्वराट् (पराक्रम) नहीं हो पाती। वह सर्वातिग (अतिक्रम) भी नहीं होती। अतएव वामन मध्य में समासीन रहते हुये 'सर्वं' का त्रिधा भरण करते हैं। जैसे कोई नदी। उसे किनारे-किनारे जल-आप्लावित करने दो। उसे सकल वर्त्मबाधा को पराजित करते हुये चलने दो। अन्त में उसे नदीनाथ (सागर) से मिलित हो जाने दो। जपादि में भी इसी वामनविक्रम की भावना करो। वामन त्रिपात् (तीन पैर नाप की भूमि की) भिक्षा करते हैं। अणु तथा उप् को पहले रखकर मध्य से लेकर अध्वरपूर्णक्रत् यह वामनविक्रम प्रारम्भ होना आवश्यक है। अन्यथा सर्वकर्म की सन्धि में जिस भूयिष्ठ वामता को (Maximum Non-according factor) देखा जाता है, उसका अपगम (Resolution) तथा वामनायन (transformation as conquering and surpassing factor) देखा नहीं जा सकेगा।

यह विक्रम द्विधा है त्रिविक्रम तथा उपक्रम। इसे खण्ड के पूर्व दो सूत्रों में विवेचित किया जा चुका है। जब तक क्रम का अनुरोध है, तब तक त्रिविक्रम और अतिक्रम की स्थिति में उपक्रम। पुरुषसूक्तोक्त 'एतावानस्य महिमा' में भूमि की जो अव्याप्ति (Incomprehensiveness) है, उसका वारण हो रहा है। और 'अमृतं दिवि' द्वारा समस्त मेयता से अवच्छिन्न व्याप्ति से परे जो 'परम' हैं, उनका गायन किया गया है। इस अभीष्ट अतिव्याप्ति के लिये ही त्रिपात कहा गया है। यह त्रिपात इसलिये नहीं कहा गया है कि उसमें (अमृतदिवि) एक, दो, तीन प्रभृति कोई पाद तत्वतः है अथवा हो सकता है (तत् सामीप्य अथवा उपलक्षणा में, किंवा तटस्थ भावनानुसार विन्दु-नाद-कला रूपी तीन पाद वहाँ सावकाश होने पर), परन्तु इसलिये त्रिपात् कहा गया है कि इस अमृतं रूपी परम लक्ष्य में उपनीत होने के लिये परिक्रमादि त्रिपात् (अथवा सन्धि को लेकर सार्द्ध त्रिपात् साढ़े तीन) विक्रम ही उपाय रूप हैं। उपाय का धर्म उपेय में आरोपित हो जाता है। जैसे यदि नौलाख रुपया खर्च करके कोई मन्दिर निर्मित करे, तब कोई भी उसका नाम आरोपित कर सकता है नौलखा मन्दिर। पुरुष सूक्त में 'स भूमि······' इत्यादि द्वारा व्याप्ति एवं अतिव्याप्ति का उल्लेख किया गया है।

पुनश्च 'अमृतं दिवि' को परमार्थ में लेने पर जैसे उपलक्षणा में (तटस्थ भावना में) उसमें त्रिपात् पद का योजन किया, उसी प्रकार पुनः 'दिवि' (तथा उसके साथ अमृतं) पद को पद्यमानता में लेकर (in the sense of process) अर्थात् दोनों को ही क्रमधर्मी मानकर उसमें त्रिपात् भावना करना होगा। 'परम' में क्रम का विराम होने लगता है। इसीलिये उसमें पादमात्रा आदि संलग्न नहीं हैं।

उसमें तटस्थ भावना द्वारा अध्यारोपादि द्वारा पादमात्रादि योजित किया जाता है। जैसे 'परमं पदं' जहाँ साक्षात्‌रूपेण आयेगा, वहाँ 'दिवीवचक्षुराततं-रूपी वाक् को क्रमिक रूप से नहीं लिया जा सकता। अथच, परम साक्षात्कार के पूर्व भी एक क्रम रहता है "आत्मा अरे द्रष्टव्य:" इत्यादि द्वारा। 'दिवि' को क्रम में तथा अक्रम में समझने के लिये पूर्वोक्त द्यौ: सूत्रादि को स्मरण करो। क्रम को ग्रहण करने पर उसमें त्रिविक्रम का अधिकार और त्रिपात् विक्रमण प्रसज्यमान हो जायेगा। त्रिपात् सामान्यत: यह है "मैंने सब को व्याप्त कर लिया। मैंने सार्वभौमरूपेण सब कुछ अधिकृत किया। यह देखो सब को व्याप्त करके और सब पर विजय प्राप्त करके भी मैं उससे अतीत हो गया। सब से मुक्त हो गया।"

इस प्रकार से "त्रिधा निदधे पदं' न होने पर परमपद कैसे अधिगत होगा? वह तुरीय अथवा तुरीयातीत है। तुरीय = किसमें क्रम की सूक्ष्म (Implied) अपेक्षा है। तुरीयातीत अर्थात् निर्व्यूढ़ अनपेक्ष।

अच्छा! अब सृष्टिकृत् यज्ञ की भावना करके इस वामन सूत्र का समापन किया जाता है। वह है कारक तथा क्रिया। यहाँ क्रिया को शक्तिरूप से ग्रहण करो। कारक को ग्रहण करो शक्तिमान रूपेण। वस्तुत: शक्ति अखण्डा तथा अच्छेदनीय (अदिति) है। कारक उसका कलन करता है ईक्षण, काम, संकलपन तथा मन्थन रूप से। कारक शक्ति से कहता है "यह तुम्हें देखा। तुम्हें प्राप्त करने (भोग) की इच्छा करता हूँ। उसके लिये मैंने संकल्प किया। उसकी चरितार्थता के लिये तुम्हारा मन्थन किया"। सृष्टि में यही मूलपर्व चलता रहता है। जैसे सूर्य कश्यप है (कारक है)। सागर है अदिति (क्रियमाणा शक्तिसामग्री)। सूर्य समुद्र से कहते हैं "उदित होकर तुमको देखा। मैं वर्षणकृत् पर्जन्य होना चाहता हूं। अत: तुमको चाहता हूँ"। अन्तरीक्ष से कहता है "तुम हमारे संकल्प का रूप धारण करो। अर्थात् हमारे तेज: को रेडियेशन रूप से लक्ष्याभिमुखीन ग्रहण करो।" इससे समुद्र का मन्थन हुआ मेघ तथा वष्पाकृति में। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही होता है। जपयज्ञ के सम्बन्ध में भी इसे समझो।

गणितीय विश्लेषण में कोई अभीष्ट निरूपक संस्था (Co-ordinate System) इस अन्तरीक्ष की भूमिका ग्रहण करती है। कोई क्रियमाणा शक्ति (यह अथवा भू: रूपेण) इस सम्बन्ध में अदिति की भूमिका का वरण करती है। और कोई कारक अभीष्ट का (वह अथवा स्व:) मन्थन करने हेतु कश्यप हो जाता है।

इस सृष्टिकृत यज्ञ में काल ही अग्नि है। वस्तु है समिध। भूमि अथवा देश है वेदी, मनुच्छन्द: (वाक् के छन्द:) हैं उसमें हवि:। परिणाम है सोम किंवा अमृत। यहाँ अमृत के दो रूप हैं पर तथा अवर। पर रूप से अमृत है अक्षर। यह है उस

क्रमाधिकरण में। अवर रूप से अमृत में अक्षराक्षर-क्षराक्षर तथा क्षर रूपी भेदत्रय की भावना करो। प्रथम दो में जो 'अग्रे' है वह मुख्याधिकार में हैं। ये तीनों क्रमा-न्वय के पर्व में आ जाते हैं। योग-भोग तथा ज्ञान की भूमिकाओं में इस 'त्रेधा निदधे पदम्' को जान लो। वाक् की वैखरी प्रभृति चतुर्धा भूभि में क्षर-क्षराक्षर-अक्षरक्षर एव अक्षर को पहचानो। जब तक कला में (क्षर में) जप चलता है, तब तक वैखरी-मध्यमा-परा-पश्यन्ति का सेतुसन्धान नहीं मिलता। नाद का सन्धान मिलता है मध्यमा में। सेतु के यथार्थ तथा पूर्ण सन्धान में पश्यन्ति भी अपावृता हो जाती है। और इन सब के साथ पराव्यक्त विन्दुसन्धान से परा की प्राप्ति होती है। यहाँ तक है त्रिविक्रम का विक्रमण। परापारीण होने पर उरुक्रम।

इन सब के अतिक्रमण में वामता कहाँ सर्वाधिक भूयसी हो जाती है, और कहाँ पर उस त्रिविक्रम-उरुक्रम वामनावतार का सातिशय प्रयोजन यज्ञभरणार्थ है, यह भी कहा जा चुका। यज्ञ सामान्यतः है = Cosmic Metabolism (अग्निषोमीय अनुताप-छन्दोगत्व)

२९. दक्षिणया वाजम्

दक्षिणा द्वारा वाजं (घृत-अन्न-यज्ञ-जल आदि) आ जाते हैं॥

दक्षिणा तथा वामा के लक्षणों को पुनः याद करो। दक्षिण तथा वाम को २ अनुरूप (अनुकूल) तथा विरूप (प्रतिकूल) अर्थ में लिया जा सकता है। ऐसा पूर्व-पूर्व सूत्रों में किया भी गया है। वाम में अपकर्ष आ सकता है परन्तु वामा में अपकर्ष नहीं है। प्रत्युत वामा तो सब कुछ के 'मुख' को पलटकर उसे नाभि, विन्दु, मूल (पर एवं परम) की ओर ले जा सकती है। अतः वामा ही परम भजनीया है। दक्षिणा का भी तात्पर्यार्थ केवल दक्षिण किंवा दाक्षिण्य मात्र नहीं है। अन्त का यह 'आ' स्वर उसे अबाध, स्वच्छन्द परिसीमा में ले जाने की प्रतिश्रुति दे रहा है। कहता है "तुम अभी तो दक्षिण हो, किन्तु वाम होने में कितने क्षण लगेंगे? देखो, मैं तुम्हें एक ही ओर स्व छन्द में चालित करूँगा।" यह जो अभीष्टाभिमुखी एकतान वृत्तिमत्ता (one-directional Congruence) है, अथवा वहमानता है, वही है दक्षिणाधिकार। सब के मूल में जो भागवती शक्ति है, उसके दक्षिणा हुये बिना ऐसा नहीं हो सकता। श्रीगुरुशक्ति की दक्षिणामूर्त्ति, इष्टशक्ति की दक्षिणा-कालिका रूप से अर्चना करने का यही रहस्य है। अतः ऐसी साधना का साधारण नाम है दक्षिणाचार। जो सीधा पथ इष्टाभिमुखीन चल रहा है, वह इस प्रक्रिया द्वारा सहज प्राप्त हो जाता है। जो श्रेयः है, उसमें तो स्वच्छन्द अभ्युदय प्राप्त होता है इसी दक्षिणा की कृपा से। साधारणतः तंन्त्र, वेद, पुराण आदि में कर्म तथा उपा-सना हेतु यही दक्षिणामार्ग ही प्रदर्शित किया गया है। इसमें रजः-तमः के विक्षेप

तथा आवरण कारक (Factors); दोनों को ही अपेत (Remove or Reduce) करने के लिये विशेष जोर (बल) लगाना पड़ता है। अतः इसमें 'वाज' संज्ञा आ जाती है। सामान्यतः वाज = Desired accelerating moment or efficiency Factor. व = किसी शक्ति का केन्द्र जो घनरूप है (गुहा है)। आ = उसकी आतति अथवा विस्तार। ज = उसके द्वारा किसी फल विशेष का जात होना। उस फल के प्रसवार्थ क्रियाकारक शक्ति की जो एकाग्रता, एकमुखीनता रहती है, अतः 'वाजम्'।

वामा सूत्र में यह देखोगे कि उसमें यह 'अपेत' अपना मुख (रुख) घुमाते हुये 'उपते' हो रहा है। फलतः जो-जो Removed अथवा Reduced हो रहा था वह (रजः तमः) Reformed-Transormed होने लगा। 'विषमपि अमृतायते'। समस्त वृत्तियाँ उसकी नाभि में, विन्दु में, आत्मा में, लौट आती हैं–तभी ऐसा अघटन घटित होता है।

घृतं वारि च यज्ञश्च कारकश्च फलक्रिये।
त्रितयं वाजवाच्यं यद् दक्षिणया तदन्वयः॥ १२१॥
क्रियाकारकफलानां हि सर्वभूमिषु सर्वथा।
दक्षिणा नाम सोऽङ्गानां पारस्परिकतान्वयः॥ १२२॥
दक्षिणामूर्तिरित्याद्यौ दक्षिणाकालिकादिषु।
निरङ्कुशो हि दाक्षिण्यं धाराग्रन्थिसमन्वयः॥ १२३॥

यज्ञ-घृत-वारि, क्रिया-कारक-फल इत्यादि जो कुछ त्रितय वाजवाच्य होता है, क्या उसका उस रूप में होना आवश्यक है। 'दक्षिणा तदन्वयः' दक्षिणा नामक जो शक्ति है, वह उसकी गति, वेद तथा छन्द का अन्वय साधित कर देती है। विशेष विवेचना करने पर क्रियाकारकफल, इन तीनों का सर्वभूमि में सर्वप्रकार से सर्वअंगों का जो पारस्परिक अन्वय है, वह दक्षिणा संज्ञा प्राप्त करता है। क्रिया-कारक-फल एकभूमि में ही (Plane में) अवस्थान करें, ऐसा नहीं है और उनके नाना अंग एक रूप ही वृत्तिमान रहेंगे, ऐसा भी नहीं है। यज्ञादि (आन्तर यज्ञ अथवा बहिः यज्ञ) जिस किसी का भी तुम अनुष्ठान करोगे, उसमें भूमि, अवस्था तथा अङ्गसमूह का अन्वय अथवा संगति न रहने की ही सम्भावना अधिक रहती है। यह सम्भावना ही क्रिया-कारक-फल में व्याज-विघ्न संभावना, Action के uniform one directed, convergent न होने की सम्भावना रूप हो जाती है। जप क्रिया में यह सम्भावना यथेष्ठ रहती है और उसका अपनोदन (Resolve) करते हुए दक्षिणा अनुबन्ध द्वारा उसे प्राप्त करना पड़ता है। क्रिया की भूमि, अवस्थान तथा अंग का जैसे स्व-स्व (आपसी) विरोध नहीं होता, उसी प्रकार इनका भी पारस्परिक

विरोध नहीं रहता। इनमें Intrinsic तथा Inter relational congruity होना आवश्यक है।

यज्ञ में दक्षिणा ही इस प्रकार की आंगिक परिपूर्त्ति का प्रतीक है। यह सम्मति रूप (Sanction) भी है। क्रिया की एक भूमि में जो गठन हुआ, वह अन्य भूमि में भग्न हो गया। एक अवस्थान में जो पक्व हुआ, अन्य में वह कच्चा रह गया। एक में जो पुष्ट हुआ, अन्य में वह क्लिष्ट हो गया! ऐसी अवस्था में दक्षिणा-दाक्षिण्य नहीं होता। क्रिया में भी वाज संख्या नहीं आयी। भूयिष्ठ तथा साधिष्ठ फल हेतु वाज आवश्यक है। भूमि में सब कुछ व्यवस्थितत: अवस्थित है, स्वाङ्ग में सब कुछ सँस्थित है। इस दृष्टि से देखना होगा। मध्यमा विन्दु को पकड़कर उदय विलय में गायत्री जप चल रहा है। इसी दृष्टान्त से भूम्यादि त्रितय को समझ लो। दक्षिणा तथा वाज को प्राप्त करो। दोनों को मिलाओ।

किसी फल की ओर अभिमुखीन क्रिया की जो एकमुखी गति है, वेगवाही एकमुखीन गति है, वही है धारा। इस धारा में ग्रंथि सम्भावना लगी रहती है। चलते-चलते ग्रंथि पकने लगती है। इसकी त्रिविध आकृतियाँ हैं। इस धारागन्थि के समन्वय से जो धारा को (Progressing process को) अबाध संवेगवती कर दे, वह है दाक्षिण्य। दक्षिणा मूर्त्ति दक्षिणाकालिका में भी यही दक्षिणादाक्षिण्य का निमित्त बिशेषत: प्रपन्न हो रहा है।

३०. वामया वाज: ।।

वाम द्वारा वाज:, शब्द, वेग इत्यादि ।।

वैपरीत्येम धाराया ग्रन्थित्रयविमोचनात् ।
ग्रन्थिनिष्ठा हि या शक्ति: स्तब्धा स्वच्छन्दवेगभाक् ।। १२४ ।।
वामवृत्या गते बोधाद् गते: स्याद वीर्यरूपता ।
अनुलोमा हि या धारा राधायते विलोमा सा ।। १२५ ।।
वीर्ययोनि समुद्दिश्य वामं वीर: समाश्रयेत् ।
दक्षिणया च दाक्षिण्यमन्येंषामिति निश्चय: ।। ११६ ।।
मन्त्रयन्त्रसाधनानि सम्वेगं दद्यते यथा ।
सम्वेगात् परनैर्गुण्यं वामा वाजप्रसूर्हि सा ।। १२७ ।।

पूर्व सूत्र में गति का धारारूप और उसमें स्थित ग्रंथित्रय का वर्णन किया गया। दक्षिणा के द्वारा इन ग्रंथियों का मोचन करके उसे अभीष्ट लक्ष्य (फल) पर्यन्त पहुँचा दिया जाता है। मानो अनावृष्टि निवारणार्थ यज्ञ विशेष करना है। उसका अभीष्ट फल है वारिवर्षण। इसकी यज्ञ विशेष क्रिया होती है। मन्त्रों द्वारा घृताहुति होती है, वह है कारक। उससे वारिवर्षण तथा अन्न फलित होगा। यह

तभी होगा जब क्रियाङ्ग का सम्यक् समन्वय (cougrence) होगा। समन्वय में बाधक है ग्रंथि। यहाँ यह धारावाहिकता की जो शक्ति सामग्री है, वह अभीष्ट लक्ष्य प्राप्ति हेतु जब सम्यक् एवं स्व छन्दमयी होकर चलती है, तब समन्वय है। ग्रंथि तो धाराशक्ति का अवष्टम्भ है। इसके कारण धारा की शक्तिसामग्री में आबद्धता आती है और उसकी लक्ष्याभिमुखीन गति को बाधित कर देती है। वह अब कार्य का "कार्यभंग' करने लगती है। यही arrested and antagonised energy। जो साधक दक्षिणाचार के अमृताभिलाषी हैं, उनके दाक्षिण्य द्वारा यह विषग्रंथि (Morbid Complex) हट जाती है।

किन्तु 'हटा देना' का तात्पर्यार्थ सर्वदा 'हटा देना' ही नहीं होता। बैरी तो पुनः मौका देखकर हमला करेगा। वह मारने पर भी हत नहीं होता। जैसे रक्त बीज। उसकी शक्ति को आत्मलीन (Sublimated and allied) कर लो। Alien को Ally करो। जो ग्रंथिनिष्ठ शक्तिकूट है (The power Entangled) उससे कहो "तुम्हे मुक्ति दिया, तुम अब मेरा पक्ष ग्रहण करो।" इस प्रकार से विपक्षी शक्ति का जो वैपरीत्य साधन है, उसे उलटते-उलटते सीधा करना है। यही है वामा वृत्ति। अब धाराग्रंथि की शक्तिधारा को पुष्टि में मिलाने से यह धारा सातिशय वीर्यवती हो जाती है। उसका सम्वेग "वाजः" से विभूषित हो जाता है। "शब्द-वेगभाक्" जो सृष्टि की मूलीभूत क्रिया है (Causal Stress) उसका अपना जो वेग (Creative elan) है, वह वेग तुम्हारी धारा का अनुकरण करता है। The irresistible urge of Devine creation. शब्द के मूल भाव को पुनः विचार लो।

किन्तु धाराग्रंथि का यह परिवर्त्तन कैसे होता है? जो निखिल की मूलग्रथि है (नाभि है), वहाँ धारा को लौटा न सकने पर, ऐसा परिवर्त्तन सम्भावित नहीं हो सकेगा। इस नाभि में सब कुछ को उलट देने की सन्धि अवस्थित रहती है। "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च'। दक्षिणा में तुम्हारी गति थी अध्वलीन। वामा में वह हो गई आत्मनीन। ग्रंथि अपनी ग्रंथिपरम्परा का मोचन करने के लिए लक्ष्य की ओर सफल यात्रा कर रही है, दक्षिणा दाक्षिण्य में। इस यात्रा में ग्रंथिशक्ति समूह के द्वारा पुनः पुनः ग्रन्थिबन्धन की सम्भावना फिर भी रह जाती है। यही नहीं, नूतन ग्रन्थि समूह और भी दृढ़ होते जाते हैं। देवी माहात्म्य में वर्णित ग्रथित्रय का पुनः विचार करो। उन्हें अपने जीवन तथा साधना में भी देखो। जिस साफल्य से (सिद्धि से) तुम दक्षिणावृत्ति में आये, क्या वह साफल्य यह प्रतिश्रुति नहीं देता "यह तो मैं निर्व्यूढ़ हुआ।" an unconditional Attainment. अतः केवल अध्वनीन होने से ही परकुशलता नहीं हो जाती। आत्मनीय होना आवश्यक है। समस्त व्यापार को उसके मूल में (नाभि में) वापस लाना होगा। इसी हेतु जप में बारम्बार

बिन्दु विलय होता है। कुलकुण्डलिनी की जागृति (मूल में) एवं चक्रभेद पूर्वक हंसः वृत्ति को सोऽहम् करने का यही हेतु है। सृष्टि में सर्वत्र स्पन्दन, आकुंचन-प्रसारण, ऊर्मि आदि में गति को एकमुख से विपरीतमुखी करने की प्रवृत्ति निहित रहती है। अन्यथा अपने में पुनः वापस न आ सकने पर सृष्टि 'दिवालिया' जो हो जाती ! जैसे सुषुप्ति अथवा ध्यान में तो हम अपने आप में ही लौट आते हैं।

अतः कारिका में कहा गया है "वामावृत्या इत्यादि"। जो मूल गति है, यदि उसका मुख (रूख) मोड़कर वामा में ले आयें, तब (इस प्रकार से Turning Round से) वह गति समधिक वीर्यवती हो जाती है। किस ओर ? जिस विपरीत मुख में उसे घुमाया, उस ओर। रोधिका तथा वाम शक्ति मिलित होकर गति के शक्तिमान (अन्यमुख) को अत्यन्त वर्द्धित कर देती हैं। अर्थात् अब केवल "Sense बदलाना" ही नहीं रहता, वरन् Potency मान भी परिवर्तित होने लगता है। यही है वाजः। अतः जीवादि की अभ्यासादिरूप साधारण प्रवृत्ति का भी 'रूख' बदलना शक्ति साधना का मुख्य कर्म है। चाय पीना, सिगार का कश खींचना, अधिक बक बक करना, ये सब प्रवृत्तियाँ तुम्हारे प्रयत्न से केवल कम या बन्द ही नहीं हो जातीं, प्रत्युत वे तुम्हारे अन्दर पूर्वलक्षणानुसार "वाजः" की सृष्टि करने लगती हैं। वह (वाजः) तुम्हारे अव्यय शक्ति केन्द्र से तुमको युक्त कर देता है। आगे चलने के पथ पर तुम तो परवश हो, परन्तु वापसी के मार्ग पर तुम आत्मवश हो। 'रणमुखो सेपाही, घरमुखो "बाङ्गली" उसे कौन रोक सकेगा ?

यदि अनुलोमा धारा है, तब विलोमा में वह है राधा। गीता में प्रसिद्ध है कि "या निशा सर्वभूतानां"। इसका भी उपरोक्त सूत्र द्वारा विचार करो। कारिका में यह भी कहा गया है "वीर्ययोनि समुद्दिश्य" इत्यादि।

"वीर्ययोनि' शब्द को गम्भीरता से समझो। वामाचार की क्रिया विशेष ही इस सूत्र को कहने का ध्येय नहीं है। यह स्मरण रखना होगा कि यह सब क्रियाङ्ग (जैसे पञ्चमकार) केवल मात्र वाह्य भावना से भावित अनुष्ठान नहीं हैं। समस्त भावनाओं की प्राण स्वरूपा है सूक्ष्म अध्यात्म भावना। यहाँ सूत्रों मे विशेषतः तत्व भावना है। इस भावना के कारण वीर, वामा, वीर्य योनि प्रभृति शब्द की अर्थ भावना करना होगा। जो भूयिष्ठ वीर्य है, उस वीर्य की योनि (निधान एवं प्रभव) प्राप्त करने के लिए वीरसाधक पूर्वलक्षित वामा का आश्रय लेते हैं। वामाचार= वामा + आचार, यह अर्थ ग्रहण करना अधिक संगत है। वामा यहाँ है संज्ञा (a category or concept).

इस प्रकार के वीर के अतिरिक्त अन्य लोग दक्षिणा का समाश्रय लेकर दाक्षिण्य लाभ करते हैं। इस आम्नाय का सूत्र पहले कहा जा चुका है। वामा तथा दक्षिणा को कभी भी Lefteist-Rightist नहीं समझना ! जिसके द्वारा मन्त्र-

यंत्र आदि सम्यक् रूप से वेगवत्ता (Limit of Efficiency) प्राप्त करते हैं और जो गुणातीत तथा नैर्गुण्य को भी लाने में समर्थ है, वही है वाजप्रसु वामा !

किसी वस्तु की नाभि ग्रंथि उसी की मूलग्रंथि एवं गुणग्रंथि है। वस्तु विशेष की सत्ता, शक्ति, सम्बन्ध, आकृति भी उसकी गुणग्रंथि से ही ग्रथित रहते हैं। जब तक गुणग्रंथि का भेदन नहीं किया जाता, तब तक गुणों का बन्धन समाप्त नहीं होता। अतएव नैर्गुण्यसमापत्ति अघटित ही रह जाती है। वामा वाजप्रसुरूपेण समस्त बृत्तियों का, मूलगुणग्रंथि का, नैर्गुण्य में अवसान कर देने में समर्थ है। गायत्री आदि जप में दक्षिणा शक्ति के अनुग्रह का रहना आवश्यक है, जिससे उदय तथा परिक्रम में सौष्ठव हो सके। अन्त में विलोम में विन्दुविलय को अर्धमात्रा पर्यन्त ले जाने के लिए वामा की प्रसन्नता की आवश्यकता रहती है। उक्त गुणग्रंथि का नाना प्रकार से विश्लेषण किया जाता है। इसमे एक प्रकार से है स्थितिग्रंथि, गतिग्रंथि और लयग्रंथि। ग्रंथि का यहाँ यह अर्थ है कि जो ग्रंथन करता है। गूँथ कर रखता है। जैसे जप में माला। मान लो १०८ संख्या में तुलसी के दाने ग्रथित हैं। जहाँ मेरु (मूलग्रंथि) है, वहीं है इस संख्या की स्थिति। जप क्रिया की गति वहीं से है और लय भी वहीं ही है। मेरु में ग्रन्थित्रय सम्मिलित हैं। मेरु का लंघन न करने की सूक्ष्म युक्ति का आभास पहले दिया जा चुका है। यहाँ यह देखो कि लंघन में स्थित्यादि भावत्रय शुद्ध नहीं रहता और वह संकर (Coufused) में जा सकता है। अतः दक्षिणा-वामा रूपी दोनों शक्ति की सहायता आवश्यक है।

अर्थात् किसी गतिक्रिया में उसकी एकमुखता को बराबर स्थित रखने में उसके गतिमुख का संवेग अधिक से अधिक बाधा देता रहता है। वह एक प्रकार से Drag of Inertia बन जाता है। यह एक बंधन है। शुभ अनुष्ठान भी एकावृत्ति में बहुशः चलते-चलते बन्धपाश रूप हो जाता है। यदि उसे विलोम में ले जाकर मूल तक ले जाया जा सके, उस स्थिति में उसके बन्धपाश से हमे मुक्ति मिल जाती है। अब हम क्रिया अथवा गति के वश में नहीं रह गये। स्वराट् आत्मराट् हो गये। यही है वामा में वीर साधन। क्रिया मात्र को उलट कर (वामा) उसके एक शून्यपूर्ण स्थल तक (विन्दु) में स्थिति मिलना आवश्यक है। वहाँ पहुँच कर क्रिया कहती है "यह देखो, मैं शेष एवं पूर्ण हूँ।" केवल एक ओर एकमुख चलने से क्या वह मिलती है? चलने का शेष कहाँ है, उसकी सीमा कहाँ है? माला जप में (मन्त्र व्याहरणादि में) यह सूत्र याद रखते हुये मेरु लंघन कदापि नहीं करना चाहिये। एक ही ओर माला जपते-जपते मेरु तक पहुंचे। अब चूकि उससे आगे नहीं बढ़ना है दूसरी ओर माला फेर देना है; अतः वहाँ कोई मानों 'झोंका' देकर कहता है "उठो गति का वेग सम्भालो। वीर बनो। यह कहो कि तुम गति को चलाते हो, गति तुम्हें नहीं चला रही है।"

तृतीय अध्याय

१. ककारोऽभिव्यञ्जकः ॥

'क' को अभिव्यञ्जक समझो ॥

साक्षात् परमाव्यक्ते या व्यक्ताभिमुखीनता ।
प्रागिव वीचिविक्षोभात् सिन्धोरुच्छूनता वहिः ॥१२८॥

सुप्तिजागरयोः सन्धिरक्षराक्षरयोः पुनः ।
अभीद्धात्तपसश्चाविरित्यादिभिः श्रुता हि सा ॥१२९॥

इच्छासङ्कल्पकामादौ ककारो योऽपि गृह्यते ।
सुखं वा सलिलं वा स्याद् भूमाभिव्यञ्जको हि सः ॥१३०॥

शान्त सिन्धु है । उसमें वीचिविक्षोम नहीं है । सिन्धु वात प्रहत (वायु से आहत) होकर वीचिभंङ्ग से चन्चल हो उठा, किन्तु यह होने के ठीक पहले सिन्धु वक्ष पर एक उच्छूनता अथवा उच्छ्वास (heaving) सामान्य रूपेण उदित होता है । ऐसा ही होता है बीज से अंकुर निकलने के ठीक पहले । सुषुप्ति तथा जागरण की सन्धि में भी इसी का स्मरण करो । सुषुप्ति में निमग्न हमारी अहमादि सत्ता मानो जागरोन्मुख होकर प्रथमतः सामान्य रूप से 'झलकती' है, उद्भासित होती है । यह सन्धि है मग्न, 'मैं हूँ' के स्थान पर 'यह हूँ मैं' के आविष्कार की सन्धि । मात्र यही दृष्टान्त ही नहीं अक्षर वस्तु (Being at-Rest) का अवतरण जब क्षरभाव में होता है (गतिपरिणति में) तब इसी सन्धि के सम्मुखीन होना चाहिये । अर्थात् अभिव्यक्ति की एक विशेष विरहित (अनडिफरेन्शियेटेड) सामान्य भूमिका को ग्रहण करना पड़ता है । जैसे मनुष्यादि जातक के भ्रूण (Embryo) विवर्त्तन में इसे लक्ष्य करो । सामान्य अथवा परजाति ही आदिम अभिव्यक्ति है । विवर्त्तनवाद (Evolution Theory) का यह मूलस्वीकार्य (First premise) मत है ।

श्रुति में 'अभीद्धात्तपसोऽध्यजायत्' इत्यादि द्वारा ब्रह्म की आवीरूपता वर्णित है, उसमें भी इसी प्रकार की विषय विरहविशिष्ट सामान्य अभिव्यक्ति मात्रता है । यह तपसः तथा अभीद्धात्" रूपी पदद्वय से सूचित होता है । तन्त्र आदि में काम कला-द्वारा निखिल के उद्भव के तथ्य को स्पष्टतः वर्णित किया गया है । इसे भी नाना प्रकार से समझाया गया है । एक विन्दु है । विन्दु ही वृत्त-त्रिकोण-पैराबोला इत्यादि आकृति को प्राप्त करने से पहले क्षण अपनी जड़ समाधि (स्थिर भाव) से उठकर प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होता है । यह है विन्दु का व्युत्थान सामान्य । जो अग्नि विन्दुगर्भ में सोम के साथ समता ऐश्वर्य में था, वह अब 'उद्यत' रूप से निखिल

आकृति का आतंक हो जाता है। अग्नि का यह आद्य उद्यम ही तप: है। सोम भी मानों कहता है "बस ! मैं भी साथ रहकर सर्व आकृतियो का रंजक बनूंगा"। यह अंकक तथा रञ्जक होने का आदि एवं सामान्य सूचक है आदिम व्यंजन वर्ण 'क'। ब्रह्म के संकल्प, काम, ईक्षण से सृष्टि होती है। इन सब में 'क' व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से निहित है। इससे क्या प्रकट होता है ?

क=सुख, सलिल, इत्यादि तत्व की भावना करो, यह ध्रुव है कि यही भूमा का (सत्-चित्-आनन्द अथवा रस रूप ब्रह्म का जो अखण्डत्व तथा अनन्तत्व है) आदि अभिव्यंञ्जक भी है। अभि=आवि की ओर अभिमुख। 'अ' स्वर= अक्षर सामान्य। यही 'अ' ही क रूप से अभिव्यञ्जक सामान्य हो जाता है।

ब्रह्म ही भूमारूपेण परमाव्यक्त है। इस परमाव्यक्त का साक्षात् वागादि रूप में जो आविरूप है अथवा अभिव्यक्तिमुखीनता है, वह है 'क'। अ आदि स्वर 'सविता' का जो अक्षराधार है (सत्ता-शक्ति एवं छन्द में) वह व्यक्त हुआ। उसने 'क' से कहा "वागादिरूपेण तुम्हारी पटभूमिका प्रस्तुत है। अब तुम भी इस पट पर अंकक तथा रंजक की तूलिका ग्रहण कर लो" साथ ही यह भी कहा "धैर्य रक्खो ! जो जो अंकन करोगे उस तूलिका से, उसके सामान्य भाव को, अंकन, रंजन की प्रारम्भिक बातों का चिन्तन कर लो"। इस व्यापार को गम्भीरता से समझो। जैसे कोई महापुरुष का चित्र अंकित कर रहे हो। उससे पहले सामान्य मनुष्याकृति को अपने ध्यानमुकुर पर प्रतिफलित होने दो। 'क' है मुख्य प्राण समाश्रित। तृतीय सूत्र में यह कहा जायेगा कि 'ह' में मुख्यप्राण की महाप्राणता है। यह भी विचार करो कि मुख्य तथा महा में क्या भेद है। दोनों में पारस्परिक आकांक्षा भी है। इसलिये क च् ट् त् प् रूपी पंचवर्ग में ही महाप्राण कहीं कहीं (विशेषत: चतुर्थ में) अधिष्ठित है। मुख्य एवं महा ही कादि तथा हादि महा आम्नाय की भी मूल कथा है। कृष्ण नाम है ऋकारादि द्वारा सब कुछ को मुख्यपरिसीमा में करने वाला नाम। 'हरे' द्वारा महापरिसीमा में। 'क' है प्राईमरी पैटेन्सी। 'ह'=प्राईम पोटैन्सी।

२. कण्ठकोणाभ्यां कृत्स्नभावित्वात् ।।

(हेतु कहा जा रहा है) कण्ठ एवं कोण की सहायता से 'क' है यह कृत्स्नभावी—विशेष—विशेष समस्त अभिव्यक्ति को जन्म देता है। (क को सामान्य अभिव्यञ्जक कहा गया ।।

जिह्वामूलेन कण्ठेन मूलयन्त्रञ्च सूच्यते ।
व्यापारवान् यदाश्रित्य मूलस्पन्दः स्वकृत्तिषु ।।१३१।।

व्यापारवद्दिग्गयन्त्रं दिश आश्रयते यत: ।
कोणत्वेन हि तज्ज्ञेयं वृत्तवीच्यादिवेगवत् ।।१३२।।

समुद्रोऽर्णव इत्यादौ स्पन्द सामान्यविवृत्तिः ।
सूर्याचन्द्रमसौ चेति दिग्देशादिनिरूपणम् ॥१३३॥

कण्ठ (+जिह्वामूल) के प्रसंग में केवल शरीर स्थान अथवा यन्त्र विशेष (vocal organ) मानना उचित नहीं है। इसके द्वारा अभिव्यक्ति मात्र के मूल-यन्त्र (Basic apparatus) की लक्षणा होती है। जैसे बीज की अंकुरादिक्रम से अभिव्यक्ति होती है। यहाँ मूलयन्त्र क्या है? चित्त में कोई संकल्प क्रिया परम्परा में स्वयं को चरितार्थ करेगी, यहां क्या है? जप में विन्दु (अव्यक्त) से नाद (व्यक्त) उदित हो रहा है, यहाँ क्या है? मूलयन्त्र वह है जिसके द्वारा अथवा जिसके आश्रय से मूलस्पन्द अपने वृत्ति समूह में वृत्तिमान और व्यापारवान् होता है। मूलस्पन्द = Casual stress Basic Commotion यह भाव बहुधा भावित हुआ है। जो अव्यक्त है (जैसे बीज में) वह आविरूप प्राप्त करने के लिये कारण तथा करण को प्राप्त करता है। ये दोनों मिलकर क्या करते हैं? किसी शक्तिधारा अथवा स्पन्द को (स्) एक निर्दिष्ट तल (Level or plane) दिखलाकर कहते हैं "तुम इस तल को लक्ष्य करो। उसके पास स्वयं को ले जाओ (Canalize) करो।" ये दो 'त' एवं प वर्ण। अब स् से मिलकर हो जाता है 'तपस'।

देखो कि (उच्चारण करने पर) 'त' में है तलवृत्तिता। (उसमें अन्य तल तुलना को छोड़कर) दिग्धर्म (Directedness) सावकाश नहीं है। किसी तल में जो शक्तिस्पन्द रहता है, वह यहां भी दिक् अथवा मुख को प्राप्त नहीं कर सका। गणित की भाषा में Energy यहां है Scalar, प (ओष्ठ वर्ण) उसे Velocity, Momentum आदि में vector (Directed) करता है। (प का भी उच्चारण करके देखो।

यहाँ यह कहा गया है कि मूल यन्त्र में (जिसका आश्रय लेकर मूलस्पन्द अपनी वृत्ति से व्यापारवान् होता है) कण्ठ (+जिह्वामूल) निर्देश देता है 'अदिक्' रूप का और कोण निर्देश देता है दिक्रूप का : कण्ठ कहता है "यह तो शक्तिस्पन्द जागृत हुआ।" कोण का कहना है कि "इस ओर से इस पथ पर आओ।" तपस् में अदिक् तथा दिक्, दोनों ही मिलित हैं। एक बार जो पहले तपः था, जिससे ऋतञ्च सत्यञ्च इत्यादि क्रमानुसार सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है; वहाँ अवश्य अदिक् भाव मुख्य रहता है। तथापि उसे यह कहना पड़ता है कि "मैं रात्रि हुआ, "समुद्रोऽर्णवः" हुआ, इत्यादि।" लक्ष्य अथवा मुख उसमें इस प्रकार से सूक्ष्मतः अथवा Implicit रहने पर भी यह "समुद्रोऽर्णवः" (enfolded) रहता है। व्यास में (Differentiation में) नहीं रहता। अर्थात् दिक्काल अभी भी a frame of Co-ordination system रूप से स्पन्द अथवा गति को पुकार कर नहीं कहते कि "हममें तुम अपने लेख का अंकन करके वृत्तिमान हो जाओ"। जबतक पूर्व

लक्षण के अनुसार "कोणत्व" धर्म नहीं आ जाता तबतक यह रेखांकन कर्म सम्पन्न नहीं होता। अतः कहा गया है कि व्यापारवत् (activating) अदिग्यन्त्र (Scalar apparatus) जिससे दिगमान परिग्रह करता है और वृत्त-विचि-वेगादि वेगरूपता प्राप्त करता है, वही है कोण।

पूर्वोक्त आलोचित 'समुद्रोऽर्णवः' सूचना देता है 'सामान्य स्पन्दविवृत्तिः' की। सामान्यस्पन्द मे विशेषरूपता आती है दिक्-काल-कोण की त्रयी से। इन तीनों की विवृत्ति जब तक नहीं होती तब तक मूलस्पन्द का सामान्य आकार ही विवृत्ति सूचक रहता है। जैसे विन्दु से समुदित नाद अथवा विन्दु से विलयैकवृत्तिमान नाद। प्रथम में है समुद्र तथा द्वितीय में अर्णवः। विन्दु में ही ब्रह्मकाम 'अतप्यत' अपने आदिम तपः को करते हैं। परिणाम है अर्द्धमात्रा। यह अर्द्धमात्रा नाद का प्रेरण करती है कलावितान में। यह है 'ऋतञ्च'। बीजादि जप में ऋतध्वग होना पड़ता है। पुनश्च, कला सहित नाद का विलोम में, अपनी पूर्णता शून्यता में संवरण करते हैं। यह है सत्यञ्च। किसी गति अथवा क्रिया को उसके पूर्ण-शून्य (काष्ठद्वय) में प्राप्त किये बिना उसे सत्य रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता। 'तत्वमस्यादि' महावाक्य के शोधन में यही करना पड़ता है। अलसित रस को उल्लसित-विलसित के मध्य में लाकर उसके स्वलसित रूप समापन में भी यही करना पड़ता है। इसी प्रकार से 'रात्रि' का भी विचार करो। यह स्मरण रखना होगा कि किसी व्यक्ति अथवा अव्यक्त को (अनमैनीफिस्ट अथवा Potential को) आधार एवं भाण्डार रूप में रखना पड़ेगा। विचि इत्यादि रूप से निखिल जागतिक स्पन्दवितान को केवल मूल में ही नहीं, परन्तु उसके संसरण के प्रत्येक छान्दस पाद में; अव्यक्त कोटि में (अतः रात्रि में) वापस आना होगा। गायत्री इत्यादि व्याहरण में यह 'शेष' क्या है ? एक-एक पाद का लयस्पर्शस्थल। विन्दु विलय भी संस्पर्श का स्थल कहा गया है।

कारिका के अन्त में है "सूर्यचन्द्रमसौ" इत्यादि। दिग्देशादि विशिष्टरूपेण पदार्थ का जो निरूपण किया गया है, वह होता है सूर्य एवं चन्द्रमाः की अध्यक्षता में। इन दोनों को पहचाना है न ? ये यह सूर्य यह चन्द्र मात्र ही नहीं है।

३. उष्मा घोषवान् महाप्राणो हकारः ॥

'ह' कार उष्मवर्ण, घोषवान् तथा महाप्राण है ॥

उष्मेति वायुसत्ताको घोषवानिति चेरितः।
मुख्यत्वेन महाप्राणो हकारो हंस उच्यते ॥१३४॥

हौंसो ह्सौ ह्रीं मनुश्चेति हुमादावपि सर्वतः।
नादशक्ते र्घनीभाव आविन्दु येन लभ्यते ॥१३५॥

कलाभिः कलनाद् येन विन्दुर्नादायते पुनः ।
विश्वकुण्डलिनीनिद्रा येनापि च निवार्यते ।
वज्रसत्त्वो हकारः स सौषुम्नार्गलपाटनः ॥१३६॥

उच्चारण का यन्त्र है कण्ठ । तथापि 'ह' को निखिलशक्ति सामग्री के वाग् विग्रह रूप से उपलब्ध किया जाता है । 'स' तथा 'ह' का मिथुन (Polar) होने पर (जैसे ह्सौ में) 'ह' विशेष करके संचित शक्ति (Massed) है और स है सिंचित शक्ति (Radiated) । उच्चारण में कण्ठ जिस मूलयंत्र (बेसिक ऐपरेटस) का सूचक है, वह भी पहले सूत्र में कहा जा चुका है । क=व्यञ्जनमुख । ॰=इस व्यंजनमुख को विन्दुप्रतियोगी करने पर, अथवा उसे विन्दुघनता के समीप ले जाने पर The Basic Manifestating Elan tends to become condensed or nucleated so as to evolve. 'क' वर्ण में जो मुख्य नाद प्रतियोगिता है, वह अनुस्वार योग से नादविन्दु के मिथुन अथवा प्रतियोगिता में (प्रति+योग में) आई । इस मिथुन के बिना किसी व्यक्तकला (Evolved Aspect) का कलन नहीं होता । अन्त में कण्ठ में जो 'ठ' है वह ? वह चन्द्रबीज का वर्ण है । अतः यह 'ठ' कला का निर्देश देता है । कण्ठ शब्द के प्राण रसायन में क्या मिला ? A power beginning to manifest (क), Condenses itsslf as a source or centre (॰); so as to evolve into multiple lines and phases of manifestation (ठ) । यहाँ देखो कि यन्त्र सामान्य की मूल आकृति इन तीनों में प्राप्त होती है अथवा नहीं होती ?

हकार अपने उच्चारण में (इसे केवल vocal sound कहना उचित नहीं है) इसी मूलयंत्र का आश्रय लेता है । उत्+चारण=एक अभिव्यक्ति सीमा अथवा Target जिससे Top or celing reach हो । यही है उच्चारण । जैसे अर्जुन का लक्ष्यबेध । गान के उर्ध्वाधः में कोई key, अवधि गति । उच्चारण में जो (शक्ति धारा) उर्ध्व अथवा निम्न में लम्बरेखा में चलती है, व्याहरण में वह एक ध्रुव अक्ष के सहयोग से शंखावृत्ति (Spiraline movement) प्राप्त करती है । अतएव उसके द्वारा सृष्ट्यादि कल्प में शक्तिधारा एवं शक्तिपाटव की प्राप्ति हो जाती है । इसीलिये शंख में व्याहरण है सम्वादी । श्री भगवान् के हाथ में शंख ।

यद्यपि यहाँ 'स' के द्वन्द्व में स्थित रहकर 'ह' कार की संचित भूमिका का लय होता है, तथापि द्वंद्वातीतरूपेण 'ह' में निखिल शक्तिसामग्री सर्वथा विद्यमान रहती है । 'क' कहता है "मैं अभिव्यञ्जना का 'मुख' हुआ" । 'ह' कहता है "मैं हूँ तुम्हारा मुख्य अथवा पूर्ण हवन" । मुख्य=मुख के साथ वायुबीज 'य' का योग । वायु ? आदिम कारण में आदिम संचारी-प्रसारी शक्तिस्पन्द रूप । वितत् अथवा

आकाश के साथ इसका 'एक पर्व' भेद है। आकाश में Continum भाव प्रधान है (जैसे परावाक् में)। वायु में यह रेणुरूपता में भी (as corpuseles, quanta) आता है (पश्यन्ति प्रभृति की सूचना)। लक्ष्य करो कि 'ह' विशेषत: आकाश बीज का अक्षरपीठ है। अर्थात् आकाश = सत्ताशक्ति का सामान्य-समग्र एवं असीम भाव। 'ह' कार में भी ये तीनों भाव निष्ठित रहते हैं। 'निष्ठित = Inherently given। अर्थात् उक्त भावत्रय हकार के निजस्व हैं। वे अध्यस्त नहीं हैं। कहीं बाहर से नहीं आये हैं।

इस प्रकार का होने पर भी 'ह' को इस सूत्र में उष्मा, घोषवान्, महाप्राण कहा गया है। पहले के तीन सामान्य-समग्र तथा असीम और ये तीन = छ। शिव तथा शक्ति, दोनों ही 'ह' का अपने बीज रूप से वरण करते हैं और उससे षड़ाम्नाय, षट्कोण यंत्र, विश्वमौलिक षट्क का उन्मेष करते हैं।

अब "उष्मा वायुसत्ताक:" को समझो। आकाश का ईक्षण है वायु, यह है श्रुति वाक्य। आकाश का ईक्षण? ब्रह्म का ईक्षण! ठीक! तथापि उपलक्षण में तो आकाश का भी एक ईक्षण है। जड़ का? आकाश को जड़ किसने कहा? तब भी 'भूत' में तो है ही! भूतनाथ-भूतेश्वर ही बनते हैं भूत! अच्छा! यह सब छोड़ो। यह कहो कि आकाश का निजस्व ईक्षणादि क्या पदार्थ है? इस 'उष्मन्' में उसका संकेत है। उ + ष + मन् क्या व्यापार है? आकाशरूपता में सामान्य, समग्र तथा सर्वत: रूपी भावत्रय में निष्ठित है। शब्द (पर शब्द अर्थ में) आकाश का गुण है। अब शब्द के साथ स्पर्श (मूल अर्थ में Prime Stimulus Factor आदिम उत्तेजक) है। मूल स्पन्दन के साथ जब मूल स्पर्श युक्त है, तब है वायु। महासागर के वक्ष पर सामान्य-समग्र एवं सर्वतोभावेन कोई उच्छ्वास (heaving) होने पर सागर रेणु अथवा कण समष्टि रूप न होता, तब भी काम चलता ऐसा मन में विचार आता है, किन्तु तरंग प्रवाहादि रूप परस्पर स्पर्श धर्मी कोई संस्था आ जाने पर उसे कण समष्टि रूप मानना ही पड़ेगा। प्राण तथा चेतना के दृष्टान्त के द्वारा इस मूल शब्द एवं स्पर्श तत्व का चिन्तन करो। प्राण को as plenum (विभु) रूप से ग्रहण करने पर उसमें प्रथम (as causal stress) भाव रह सकता है। परन्तु द्वितीय (stimulate, exite, irritate) भाव प्राप्त करने के लिये प्राण सामग्री को नाना प्राण केन्द्र में भी प्राप्त करना होगा। चेतना (Feeling, Consciousness) में भी ऐसा ही होता है।

सामान्य समग्र पदार्थ में (आकाश-ईथर आदि में) स्पर्श धर्मानुरोध में इस प्रकार की विशेष व्यष्टिरूपता (कण-केन्द्र प्रभृति) जिसके द्वारा साधित होती है, उसकी संज्ञा है वायु (Prime differentiating factor)। आकाश अथवा पर

शब्द में जो Connotation समष्टि अथवा Integral Stgnificance था, वह वायु में अथवा परस्पर्श की भूमि में होने पर विशेष-विशेष Connotation and denotation हो जाता है। general and universal special and particular में अवतरण करने का सेतु (यह स्पर्श) प्राप्त हुआ। स्पर्श अर्थात् पारस्परिक आकांक्षा (affiinity)। वायु में ही मूल रजोरूपता है (जो रागद्वेष का बीज है)। इसलिये जपादि के द्वारा वायु को प्रथम सुषम, अन्त में स्थिर करना अर्थात् विरजा: करना ही महाव्योम तत्व में निष्ठित होने का साधन है।

जो इस प्रकार से आकाश को मूल रजोरूपता में लाता है, वह है उष्मधर्म। "उष्माण: शषसहा:"। उ = ओष्ठयवर्ण। उकार सूत्र में इसे वेधवृत्तिमुख्य उदित उर्जित स्वर कहा गया है। ह्रस्व में उदित, दीर्घ में उर्जित। आकाश अथवा मूल सामान्य स्पन्द मानों स्वयं का स्पर्श धर्मी आकृति में उदयन हेतु स्वयं का ही वेध करता है। वह अपने सामान्य सत्ताशक्ति स्पन्दन के अधिकरण में "यह यही विशेष" कह कर स्वयं को निरुपित करता है। निरुपित = Denote। (उ स्वर उच्चारण करके वायु को जिस प्रकार की शराकृति Canalize, piersing pattern दिया गया है, 'फूँ' करने में भी वही है) 'ष' (उष्मवर्ण) उस क्रिया को Topmost Patency में (मूर्धन्य में) लाता है। 'म' उसे अन्तिम स्पर्श (To the last Point of Touchability) तक ले जाता है। अर्थात् 'उ' का उदित-उर्जितत्व जैसे शेष काष्ठा तक है, उसकी स्पर्शशक्ति (affecting Factor) उसी प्रकार से चरम तक जाती है। किन्तु 'म' (अन्त्य स्पर्श वर्ण) की इस विन्दु में स्पर्श देकर रूक जाने अथवा स्तम्भित हो जाने की सम्भावना रहती है। जैसे ओम उच्चारण में। अन्त में 'न्' इसका निषेध कर देता है। केवल 'न्' में निषेध उसकी अन्यतमा वृत्ति अवश्य है, परन्तु मानो 'न्' कह रहा है :'तुम रुको नहीं। लक्ष्य में चलो"। पुनश्च 'म' की ओष्ठ्यवृत्ति तथा 'न्' की दन्त्यवृत्ति का समाहार (Composition) हुआ। दन्त्यवृत्ति = प्रिंसपल of cutting up and distribution. जैसे सम्मिलित सातरंग की सूर्यरश्मि। एक वृक्ष के पत्ते अथवा फूल में उसका अन्तिम स्पर्श (म) दिया। उसका पत्ता बोला "ना मैं सब्ज रंग नहीं लेता, मैं लाल लूँगा"। विश्वस्पन्द उसे शेष स्पर्श (Terminal Touch) देने आया। वह सब कुछ अपने आप के समान करके रखता है। यह है उसका मूल Reactive Index. 'ह' वायुसत्ताक उष्मा होकर उसकी सम्भावना घटित कर देता है। सम्भावना इसलिये कहा कि वायु विशेषत: संभाव्य है। समुत्थान संस्था (the Realm of Probability function and waves)। इसका सूत्र आगे अंकित होगा।

'म' है समस्त स्पन्दन विकिरण का शेष स्पर्श। किन्तु किसी आधार में (जैसे फल में) स्पर्श होकर (on Incidence) उसके वहाँ ग्रस्त (absorbed)

अथवा प्रतिफलित होने की सम्भावना रहती है। जब तक आधार एक विशेष आकृति युक्त (जैसे Convex) नहीं हो जाता, उसे केन्द्रीयता में सहजता से नहीं लाया जा सकता। वायु से जलीय वाष्प। जलविन्दुरूप में वह केन्द्रीयता में अवश्य आती है। शैत्य स्पर्श से ? केवल यही नहीं जल विन्दुओं का संघटन होने के लिये उसका कुछ (charged Particle) केन्द्र अथवा Nucleus होना आवश्यक भी होता है। नाना दृष्टान्तों द्वारा इस भेद की (वाह्य स्पर्श और केन्द्रीय भावानुभावित स्पर्श) भावना करो। 'म' की जगह उस अनुस्वार (विन्दु प्रतियोगी) को लाओ। अनुनासिक 'म' तुम्हारी विन्दु नाद वीणा में 'स्पर्श' दे गया। अनुस्वार ने वीणा में उसके तार को बोध भी दिया। प्रथम को कहो अनुवादी और द्वितीय को वादी। किन्तु कला में, तान में—मूर्च्छना, लय में, आलापन में ? अर्थात् स्वर ब्रह्म की विन्दु-नाद- कला रूपी पूर्ण आकृति को दिखलाने के लिये वह नाद-विन्दु समाहार रूपा अर्द्धमात्राप्रतिरूपा चन्द्रविन्दु (ँ) कला आवश्यक है। अतः चन्द्र विन्दु को संवादी कहते हैं। उष्माण में जो 'म' है उसके प्रसंग में यह भेदसमूह विभावनीय हैं।

पुनश्च, इस प्रसंग में उष्मा एवं उष्ण शब्द का परीक्षण करो। पहले का तेज एवं अग्नि अभी भी प्रच्छंन्न (Latent) है। द्वितीय की अग्नि प्रकट है। जैसे भीतर-भीतर राग है। किन्तु भीतर तथा बाहर राग का कोई भी स्पष्ट लक्षण नहीं है। A latent Commotion tending to generate heat यह उष्मा संज्ञा वायु के अधिकरण में आ रही है। 'राग' होने पर तेजः अथवा अग्नि के अधिकार में है। यह है उष्ण। इसमें जो अन्त में 'ण' है उसमें 'र' रूपी अग्निबीज का उच्चारण व्यक्त हो जाता है।

तत्पश्चात् घोषवान्। इससे क्या ध्वनित होता है ? 'ह' कार ईरयिता तथा ईरित (The Prime Impulsion Agent and patient) रूपी भावद्वय से समग्र सर्वाधार के मूल में रहता है। 'ह' के अतिरिक्त भीतर अथवा बाहर कोई Basic urge Impulse इत्यादि नहीं है। Aspiration (आस्पृहा) में 'ह' की मूल ईरणा है। गायत्री के धीमहि में 'ह' ईरित है। 'धियोयोनः' में 'ह' के व्यक्त न होने पर भी वह ईरयिता रूप से वृत्तिमान है। उष्मा में है स्पर्शवृत्ति मुख्यता। यहाँ घोष की मुख्यता है। क वर्ग का महाप्राण घोषवत् चतुर्थ वर्ण (घ), उसके साथ हमारा पूर्वाभावित 'उष्' युक्त होकर घुष अथवा घोष हो गया।

'घ' के बिना गर्दन पकड़ कर चलाने वाला और कौन है। घटना भी मानो गर्दन पर हाथ देकर आगे बढ़ाती है। घटक (शादी का मेल जोड़ने वाले) भी एक प्रकार से पहले गर्दन पकड़कर फदा लगाकर शादी कराते थे। और कोई एक (उसे किसी ने आज तक पहचाना नहीं है 'शिनाख्त' नहीं किया है) सब की गर्दन

पकड़ कर 'घाट पर लाता है। इन तीनों को 'घ' की त्रिविधा वृत्ति कहा जाता है। घटना कहती है कि चलना होगा, चलो। घटक का कहना है कि मिलना होगा मिलो और घाट कहता है कि रूकना होगा, रूको। घटना ढ़केल कर ले जाती है। घटक दो को जोड़ देता है। घाट बनी वस्तु को भंग कर देता है। एक मूल Impulse की यह तीन मौलिक वृत्ति है To push, or pull; to disjoin and part. 'क' वर्ग का जो तीसरा वर्ण 'ग' (गतिरूप) है, हकार गर्भ में (घ) जाकर इन त्रिविध मौलिक वृत्तियों का प्रदर्शन करता है। वाह्य विश्व में घोषवान भास्वान मूर्त्त विग्रह सूर्य का रहस्य नाम 'घृणि' है। इनके बीज ॐ ह्रीं को स्मरण करो।

ततदनन्तर 'ह' मुख्यत: महाप्राण है। अर्थात् सब कुछ (वर्ण) 'ह' कार गर्भित होकर 'ह' के अनुग्रह से महाप्राण हो रहा है। जैसे 'अग्निगर्भा शमी'। महा-प्राण का मूल महाजन है 'ह'। महा — शक्ति (प्राण) का महद् (अव्यक्त तथा व्यक्त) रूप। The plenum and unlimited Reserve of Power. अर्थात् अन्य स्थल में प्राण का कथन है "देखो! मैं इतना सा हो गया।" किन्तु 'ह' कहता है "देखो! मैं उसके बाहर समग्ररूपेण, अव्यय भण्डार रूप से हूँ"। इसलिये 'ह' कार की विशेष संख्या है "हंस"। अर्थात् संकुचत् (ं) एवं प्रसरत (:)। शक्तिविपेक्ष (स) मात्र को ही 'ह' अपने आधार तथा भण्डार में संरक्षित रखता है। इस लक्षण को हंस: (अजपा) अथवा हंस (सूर्य) रूपी स्थलद्वय में तुलना द्वारा देखो। दोनों का आयुष्काल है। अजपा में आयु: किसपर निर्भरशील है? यह जो 'स' कार का (श्वास, हृत्स्पन्द, Vital Metabolism आदि का) पक्षद्वय है (अनुस्वार एवं विसर्ग, Intake and output) उनकी वृत्ति (functioning) इस मूल महाजन (ह) से कार्यंत: कितनी मंजूरी (credit) प्राप्त कर सकी है? 'ह' समाप्त होने वाला नहीं है, फिर तुमने उसे कारोबार में 'खटाने' का कितना credit प्राप्त किया है? जैसे पावर हाउस (आजकल का Atomic Power House) में तो शक्ति महा-प्रचुर है। किन्तु तुम मीटर आदि के द्वारा अपने गृह में अथवा फैक्टरी में उसके कितने अंश को संस्थित करते हो? किम्बहुना यह संस्था (unit) पूर्णत: स्थिर नहीं है। 'ह' को तुष्ट कर सकने पर तुम्हारा credit बढ़ाया भी जा सकता है। जो योग 'ह' की तुष्टि तथा 'स' के पक्षद्वय की पुष्टि करता है, वह सामान्यत: 'हंसयोग' ही है। सूर्य के दृष्टान्त में 'ह' तथा 'स' की अनुरूप भावेन भावना करो। समस्त सौर तेज: = ह कार। इसका कुछ व्यक्त है। अधिकांश तो आणवी शक्ति के रूप में पिण्डीकृत् (Massed) है। सूर्य का तेज: तो कोटि-कोटि वर्षो से अपने प्रचण्ड विकीरण द्वारा व्ययित होता जा रहा है, तब भी सूर्य की आयु: समाप्त क्यों नहीं होती? इसके आभ्यन्तरीण आणव महाभाण्डार में प्रचुर व्यवस्था है। अर्थात् 'ह' कार के तोषण की व्यवस्था होने के कारण सूर्य का 'स' कार पोषण होता

रहता है। विश्व की प्रत्येक 'ह्सौ' आकृति में ही यही समस्या है। अर्थात् समस्त Intake-out put Rotio से ही यह Exchange Position है।

नाद-विन्दु-कला प्रसंग में 'ह' को इस प्रकार से दिखलाया गया है। नाद शक्ति (Power as perfect potency) जिसके द्वारा बिन्दु अवधि (आविन्दु) घनीभाव से (Power as perfect potency) आ रही है, पुनश्च विन्दु भी जिसके द्वारा कला समूह में आकलित होकर नादभाव को प्राप्त करता है (नादायते), विश्वकुण्डलिनी (Cosmic Power potential) की निद्रा जिसके द्वारा निवारित और जाग्रत होती है, जिसके द्वारा पूर्व-पूर्व में आलोचित "सौषुम्नार्गल" का पाटन घटित होता है, वह क्या है? वह है (वर्तमान सूत्र का) वज्रसत्त्व 'ह'। 'हंस:' आकृति में इसकी परीक्षा पहले की जा चुकी है। "हौंस:" 'ह्रीं' आदि में भी पहले की जा चुकी है।

लक्ष्य करो कि सूत्र में 'ह' को सप्त विशेषणों से विशेषित किया गया है। उमा, घोषवान्, महाप्राण, वज्रसत्त्व, विश्वकुण्डली, जागृत कल्प में सुषुम्नार्गलपाटन; निष्कल अथवा सकल नाद भाव में ला सकने में दक्ष। इन सभी सप्त विशेषणों की विवेचना की जा चुकी है। वज्रसत्त्व से क्या विदित होता है? जिसका सत्व अन्य कुछ से वेधयोग्य नहीं है, परन्तु मन्त्रादि आयु रूपेण प्रवृत्त होकर समस्त अपर का वेधन कर सकने में समर्थ है। विश्वभूत मात्र ही तो वेध्य (Penetrable) है। पहले स्थूल Matter (Atom) को Impenetrable माना जा रहा था। वर्त्तमान में ऐसा नहीं है। तब भी प्रश्न उत्थित होता है "वस्तु की क्या कोई ऐसी नाभि (hard core) भी है, जो अभेद्य हो? यह है तभी वज्रसत्त्व है। 'ह' उसी वज्रसत्व का स्वाभाविक वाक् है। प्राण तथा अन्त:करण के दृष्टिकोण से इस वज्रनाभि तथा वज्रसत्त्व का सन्धान चलेगा। यह देखो कि क्या श्रुति आदि में मुख्यप्राण को (जो कि असुरविद्ध नहीं होता) इस वज्रसत्त्व संज्ञा में लाया गया है? 'वज्रहस्ता कल्याणशोभना' से प्राणरक्षा की प्रार्थना भी की गयी है। 'हस्ता' — वह शक्ति जो किसी कुछ को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर रख देती है। जो भंगुर, भेद्य स्थल है, उसे अभंगुर (Imperishable)- अभेद्य (Impergnable) स्थल में रख सकने में सक्षम शक्ति का नाम है वज्रहस्ता। वज्रहस्ता कहती है "ऐसी जगह पर तुम्हें उठाकर रख दिया, जहाँ और भेदन भंगुरता की 'मार' नहीं पड़ेगी।" यह है अमृतकल्याणशोभना संस्था। जैसे जप में नाद-कला-विन्दु, इन तीनों के समानाधिकरण-सामरस्य का स्थल!

चित्त में साधारणत: (अहं नहीं परन्तु) 'धी' ही करती है वज्रसत्त्व की भूमिका का वरण। तथापि धी को भी स्थितधी प्रभृति होने के लिए युञ्जान इत्यादि

होना पड़ता है। युक्त-युक्ततम-युक्ततर होने पर ही है सम्यक् वज्रसत्त्व। 'अहङ्कार मनो बुद्धि रक्षेन् में धर्मधारिणी''। जो धर्म निखिल को धारण करता रहता है, वे उस धर्म को भी धारण किये रहती हैं, (The ultimate principle of cohesion Etc.) वे हैं धर्मधारिणी ! ये ही हैं वज्रसत्त्वा—वज्रसत्वा, वज्रेश्वरी, महावज्रा प्रभृति अनेक नाम से तथा भाव से यही वज्रशक्ति आख्याता तथा भाविता होती रहती हैं। यह परिलक्षित होता है कि निखिलसत्ता उनकी नाभि में (core में) उनके शक्तिसामग्री भाण्डार को वज्रशक्ति के समान पकड़े रहती है। फलतः वह भी अभेद्य एवं दुर्भेद्य हो जाती है। यदि किसी असामान्य उपाय से उसकी शक्ति-सामग्री मुक्त तथा विकीर्ण हो जाती है (जैसे फिशन तथा फ्यूजन बम्ब में) तब वह है वज्र के समान सर्वपाटनक्षम। कहा जा चुका है कि 'ह' वही शक्ति सामग्री है। यह स्तब्ध-उद्यत उभयरूपेण शक्तिसामग्री कही गयी है। अतः वह शक्तिसाधना है ह्रीं हूँ आदि बीजों की साधना। हवन में 'स्वाहा' में 'ह' कार है मर्यादा एवं अभिविधि। वह इन दोनों की सीमा में प्रतिज्ञाबद्ध हो जाता है।

साधारणतः ध्वनि स्थूलग्रामादि में जात, वितत तथा निवृत्त होना चाहती है। अर्थात् पूर्वव्याख्यात सचराचर अवमपर्व ही उसकी लीला (क्रिया) को समेट लेता है। उसकी मर्यादा एवं अभिविधि (Limit of Amplitude) अवम में ही आबद्ध रह जाती है। 'ह' के अभाव में यह उत्तम (सुपर सानिक) एवं परम (Transcendental) में जाने की अनुमति पा ही नहीं सकती। यही है 'ह' कार को प्राणेश किंवा महाप्राणवर कहने का तात्पर्य। जो क्रिया कारक शक्ति संकीर्ण पाद में, स्वल्पमान में बंधी पड़ी है, उसे महीयसी, भूयसी रूप से उत्तम तथा परम काष्ठा में ले जाने वाला यही महाप्राणवर है।

४. अण्कहैरभिव्यक्तिपञ्चकम् ॥

अ ई उण्, ये तीन आद्यस्वर हैं और क-ह, इन दो आद्यन्त व्यञ्जन द्वारा पंचधा अभिव्यक्ति होती है ॥

प्राणस्य प्राणनं ज्ञेयं पञ्चधा मूलवृत्तिभिः।
आद्यैः स्वरैस्त्रिभिस्त्रित्वं कहाभ्यां द्वित्वमेव च ॥ १३७ ॥
पञ्चप्राणनमूलत्वात् समस्तव्यस्तकल्पितम्।
वाङ्मयाद्यखिलं विश्वं पञ्चत्वेन प्रपञ्चितम् ॥ १३८ ॥

'ह' है प्राणेश। यह नाभि तथा धूः रुपेण निखिल विश्वचक्र के आवर्त्तन का भरण विधारण करता रहता है। यह मानों आद्यस्वर 'अ' से कहता है "आओ, तुम-मैं दो प्रान्त रूप से अथवा काष्ठारूप से विश्वचक्रावृत्ति के अक्ष की कल्पना करें"।

तन्त्र में 'क्ष' को अंतिम व्यंजन माना गया है। इस स्थिति में 'ह' स्वयं को युग्म (Being Polarised) करते हुये एक ओर अक्षर सामान्य 'अ' और दूसरी ओर अक्षर समुद्वर्ग क्ष' वर्ण को विवर्त्तित (Evolved) करता है। 'क्ष' को (क्+ष) मानने पर क=कण्ठ, मूल। ष=मूर्धा। अतएव क+ष द्वारा मूल से मूर्द्धा (Top Limit) पर्यन्त शक्ति की वृत्तिमत्ता सूचित होती है। अत: क्ष=अक्षर समूर्द्धग। अब अक्षर शब्द में अ तथा र के मध्य में क्ष स्थित है। इसका तात्पर्य क्या है? यदि कहें कि 'क्ष' मध्य में रहकर विश्वचक्र के प्रत्येक आ से कहता है "तुम मूल में रहकर काष्ठा तक जाओ। सूत्रना से लेकर समाप्ति पर्यन्त तुम्हारी गति हो" यह कहने पर "वाक् की बाजीगरी" तो नहीं मानोगे? सत्य है कि वाक् ही बाजीगर है! विश्वबाजीगर!

'क्ष' को छोड़ दो। अ-ह युगल में विश्वचक्रावृत्ति का अथवा विश्वशक्ति सामग्री मन्थन का अक्ष हुआ। किन्तु अक्ष अभी भी किसी दिङ्मान को नहीं ले रहा है। किस ओर (धन अथवा ऋण की ओर) चलायें किंवा मन्थन करें, यह प्रश्न अभी भी नहीं उठा। यह है अक्ष का दिङ् निरपेक्ष भाव। दिक् कहने पर लक्षणा में छन्द:, पाद-मात्रा तथा आकृति भी आती है। इस 'अ ह' अक्ष को विन्दु मुख में लाओ तब है अहं। नाद मुख में लाओ तब है अहः। दोनों की दो सीमा पकड़ो। मध्य में है अशेष कला के पाद में मात्रा छन्द में कलन। इस कलन का आदिम अभिव्यञ्जक है 'क'। और आवर्त्तन अथवा मन्थन क्रिया के अपर दो मौलिक मुख (Sense) हैं। ये है इ तथा उ। अत: ५ हुये अ इ उ क ह।

वृक्ष से बीज, उससे फल, वह फल पुन: बीज। बीज लक्षण के अनुसार है 'ह' किन्तु अव्यक्त (Potency or potential) बीज से अभिव्यक्ति की सूचना अर्थात् अंकुरोद्गम। यह है 'अ'। यह अंकुर लम्बवृत्ति में बढ़ता है (इ स्वर)। वेधवृत्ति मे, काण्ड-शाखादि में त्वक्-शिरा-मज्जा रूपी अवयव संघात को ग्रहण करता है। रस-ताप-आलोकादि का अपने सूक्ष्म-निगूढ़ प्राणकोष में शोषण करता है, आदि। यह है 'उ' स्वर। काण्ड-शाखा- पल्लव-पुष्प फलादि अवयव का कलन करता है 'क' वर्ण। अन्त में फल अथवा पुष्प में पुन: बीज='ह'। यहाँ 'ह' समग्र-व्यक्तिमापन्न होकर अव्यक्त हुआ। समग्र Patency Cycle घूमकर पुन: Potency में लौट आई। इस समग्र व्यापार मे 'अ' के आगे जो 'ह' है, वह नेपथ्य मे नीरव मूक है। वह अभी भी कुछ नहीं बोल रहा है। अन्त में 'ह' वह सब कह सुनकर मानो पुन: नेपथ्य की यवनिका हटा कर बोला 'यह देखो मैं क्षान्त हुआ'। माटी में गड़े बीज को और फल फूल के मध्य में लगे बीज को, इन दोनों स्थितियों का चिन्तन करो। माटी में गड़ा बीज कहता है "मैं किसका बीज हूं खोद कर देखो। फल फूल के मध्य का बीज कहता है "यह देखो तो मैं किसका बीज हूँ।" यह भेद

देखने के लिये अ इ उ क ह रूपी मूल पंचक के अन्त में 'ह' आया। जो मूल मे है, वही है फल में, शीर्ष में। मूल में जिसे नहीं पहचाना है, उसे शीर्ष पर पहचानों। पहचाना ? अब पुन मूल में चलो।

जैसे गायत्री जप। अर्द्धमात्रा के उदय सेतु में 'ह' अव्यक्त से व्यक्तिमापन्न होगा। किन्तु उदयोपक्रम में उसे मानों नहीं पहचानता। अन्त में, विलय सेतु में 'ह' को पहचानना वास्तविक कार्य है। वहीं स्थूल वाक् तथा संकल्पी-विकल्पी मन को त्याग कर प्राण अपने प्राणेश (ह) के पास चल दिया ! अन्यथा वास्तविक विलय नहीं होता। अब तक प्राण स्थूल के भार का वहन करते-करते (वाक् तथा संकल्प का वहन) अयस्कान्त मणिहारा लौहखण्ड के समान चलता जा रहा था। जब तक भार है तक तक टूटने का डर है। जब भार चला गया तब तो डर भी चला गया ! तब लोहा चुम्बक की अपनी Field में आ गया। 'स' का साथ जब तक है, तब तक घूर्णन हो रहा है। जो 'हृदिस्थित' हैं, उसमें स्थिति नहीं हो रही है। जप विलय से इस 'कथानक' की तुलना करो।

अब देखो गायत्री प्रभृति में उदितनाद ही आकृति है अ + इ। विलयनाद है अ + उ। गायत्री में 'इ' स्वर 'वरेणियम्' में शीर्ष पर आता है। 'धीमहि' मे 'तराई' मे, समतल में, आना चाहता है। तत्पश्चात 'उ' में ३ गुण (तथा स्वर) मे जाकर (as a triad of converging Waves) धी-प्राण-एवं वाक् रूपी त्रितय का व्याहरण करते हुये प्राणेश 'ह' में समावृत्त हो जाता है। कला सहित जप में कला = क। कला रहित व्यक्तनाद में = का। आ = इसका एवं समस्त का अनुक्रम। अनुक्रम = जो सूचना में सामान्याधिकरणरूप से रहता है और क्रमशः अन्वयरूप से चालित होता है। उदित ॐ मे वाह्यतः 'इ' स्वर नहीं है ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु स्मरण रक्खो कि इ = समस्त वृत्ति की इद्ध एवं अभीद्ध आकृति (going up, leaping up) आदि। मैं बाहर होऊंगा, चलूंगा और भी चलूंगा, यही है 'इ' स्वर मे। उ कहता है "मैं चलने वाले छन्द को ऐसा कर लूंगा कि जिससे प्रस्फुरित-फलित हो सकूं और पुनः मूल में वापस आ सकूं"। जबतक गति किसी सन्धिमेरु मे नहीं आ जाती, तब तक उसका इस प्रकार से प्रस्फुरित होना, फलित होना और मूल में वापस लौट आना संभव ही नहीं हो सकता। प्रणव में 'उ' क्या करता है, इसका और भी चिन्तन कर लो। इसी प्रकार ऐं अथवा ह्रीं में वाह्यतः 'उ' नहीं है, किन्तु उसकी जो मूलावृत्ति (Basic functioning) है, उसमें अवश्य है।

'अ इ उ क ह' इन पांच को प्रपंचित विश्व के समस्त व्यस्त-समस्त में कहीं भी मौलिक भावना में लाकर देखो। वस्तुतः ये हैं प्राणब्रह्म की मूलवृत्ति में पंचधा 'प्राणन'। इस पंचधा-प्राणन का त्रित्व (रूपत्रय) है क तथा ह के द्वारा। अर्थात् ब्रह्म का जो मूलप्राणन है, वह स्वर के दृष्टिकोण से है त्रिपर्वा और व्यञ्जन के दृष्टि

कोण से है द्विपर्वा। अथवा इसे त्रिकोटिक-द्विकोटिक भी कहते हैं। यह कहा जा चुका है कि स्वर विशेषत: स्व: व्याहृति की संज्ञा में परिगणित होते हैं। स्वर है सविता। व्यंजन आते हैं भू: व्याहृति में। जिसके द्वारा स्वर-व्यञ्जन का योग-वियोग होता है, वह है भुव:। अब देखो स्वर अथवा स्वर अधिकार में जो कुछ आता है, उनमें तीन पर्व आदि रहते हैं। स्वर में स+व+र् रूपी अक्षरत्रय इस तथ्य का निर्देश देते हैं। स्=प्राणशक्ति का सिंचित (Radiated), विनियुक्त (Canalised) रूप। व= (इसमें हसन्त नहीं है) आबद्ध, एकत्रित (Massed and concentrated) रूप। र=अग्नि (तेज के विविध रूप)। अर्थात् ताड़ित तापादि रूप में विवर्त्तित व्यक्तरूप जड़ क्षेत्र में। प्राण एवं मन के क्षेत्र में भी इन तीन मूल प्राणन् को सहज में ही पहचान लिया जा सकता है। मूल शक्ति सर्वत्र ही संचित रहती है (is being Radiated) दिग्देशादि मान स्वीकार कर लेने पर वह विनियुक्त हो रही है (is being directed), वह एकत्र हो रही है (जैसे अणुकेन्द्र में, कायकेन्द्र में, अहम् में) और वह नाना आकार में व्यक्त विवर्त्तित भी हो रही है (is being transformed, Transmuted)। बाहर होना, भीतर जाना और विभिन्न प्रकार की अनुगूंज को बदलना, क्या सर्वत्र ये तीन प्रणाली परिवर्त्तन मूलत: दृष्टिगोचर नहीं होते ? क्या ऐसा जपक्रिया में भी नहीं है ?

वहाँ बिन्दु 'व' बनकर नादक्रिया से कहता है "तुम मुझसे बाहर हो जाओ। फिर मुझमें आकर प्रवेश करो"। नाद तथा कला मिलकर यहाँ स् तथा र् की भूमिका ग्रहण करते हैं। अर्थात् बहिर्गत होते हैं, विनियुक्त होते हैं ओर विवर्त्तित हो जाते हैं। इसमें उदय में (अनुलोम) विनियोग (ओंकारादि का) विवर्त्तन एक प्रकार का है और विलय में अन्य प्रकार का। यन्त्रमात्र में इस त्रिधा प्राणन की व्यवस्था आवश्यक है। विलय मे Transfarmer, commutator आदि का रहना अपेक्षित है। Dynamo, Locomotive इत्यादि का भी परीक्षण करो। जो चन्द्रबिन्दु बीजमन्त्रों के शीर्ष पर रहता है, वह मुख्यत: यही कार्य करता है (Sonic को Supersonic में ले जाने का तथा redirect and converge आदि का कार्य।

प्राणन का यही एक प्रकार का विभाजन है। यह है क्रियामुख्य (Functional)। स्वर में यही क्रियामुख्यता रहती है। क्रियामुख्यता=Functional predominance. व्यंजन में रहती हैं कारकाधिकृत फलमुख्यता (Predominance of Effect subject to Agency factors. दोनों का संयोग होने पर है छन्द: सम्बन्ध मुख्यता (Predominance of Link or Relation factors)। यहाँ देखो 'कहाम्यां' (क+ह) इन दोनों के द्वारा प्राणन् की मूल द्विरूपता (Basic Double Patternedness) कैसे घटित होती है ? 'क' (आदि व्यंजन) प्राणन को

कलित-फलित कर देता है। 'ह' तो प्राणन के इस कलन-फलन का मूलकारक (Prime Motor Power) होकर रहेगा ही। यदि फलता है तब अन्त में स्वयं को व्यक्त कर देता है। 'ह' सब के भूयिष्ट शक्तिमान (Superchargeability) का कारक (Factor) है। साथ ही लिंग तथा फलरूप भी है।

यह पंचधा प्राणन कथित हुआ। यह वांगमय, प्राणमय; मनोमय आदि अखिल विश्व के (जो व्यस्त एवं समस्तभावेन कल्पित है) मूल में स्थित रहता हुआ, उसे पंच-पंच आकृति-पर्व आदि में प्रपंचित करता है। व्यस्त-समस्त अर्थात् व्यास-समास। क्या वह प्रसंग याद है ?

अच्छा क्या यह पंचधा मूल प्राणन ही प्राणायाम आदि वायुपंचक और आद्यन्त दो व्यंजन में द्विविध रूपी पंचधा भेद है ? यह विभाजन में तो विभाजन सूत्र में कथित प्राणपंचक के विभाजन से कथंचित स्वतन्त्र है। यहाँ प्राणन के (Creative evolution के) सम्पर्क में ५ मूल प्रश्न उत्थित होते हैं।

(1) किस सामान्य अधिकरण में यह होगा ?
'अ' इसका उत्तर देता है कि अक्षर सामान्य रूप में।

(2) कैसे किसके द्वारा यह होगा ? (अपादान एवं कर्त्ता)
इसका उत्तर है 'ह' द्वारा होगा। अर्थात् 'ह' है मूल भण्डारी।

(3) क्या-क्या एवं किसके लिए यह होगा ? (कर्म एवं सम्प्रदान) उत्तर है 'क' के द्वारा 'क' के लिये।

(4) किस दिशा में, मान में तथा निमित्त में होगा ? (करण में) उत्तर है इ तथा ऊ में। करण को यहाँ दिक् तथा मान (sense and measure) सहकृत निखिल (हेतु) कहा गया।

जैसे जनिकोष से (germcell से) किसी प्राणी का उद्भव हुआ। यहाँ इस कोष की प्राणधातु (Protoplasm) है 'अ'। इसमें जो प्राणकेन्द्र (Nucleus) है, वह है 'ह'। केन्द्र से जो शिरा बहिर्मुख (outgoing) है, वह है 'इ'। जो सब केन्द्रमुखी (ingoing) है, वह है 'उ'। जो आकृतिकला, शशिकला आदि इसमें अभिव्यक्त हो रही है, वह सब है 'क'। इन पाँचों के अतिरिक्त विश्व में कहीं भी (यहाँ तक कि जड़ में भी) कोई प्राणन व्यापार निर्वाहित नहीं हो सकता।

जैसे किसी वृत्त का अंकन किया। जिस तल में अंकन करोगे, वह है 'ह'। जिस केन्द्र को पकड़कर अंकन करोगे, वह है 'ह'। जिस व्यास अथवा व्यासर्द्ध में अंकन होगा, वह नेमिमुख्या होने के कारण है 'इ'। केन्द्रविन्दु होने पर है 'उ'। नेमि-समेत अंकित वृत्त अथवा वृत्त के अंकन में प्रयुक्त कला = क। 'इ' विशेष करके नेमि

तथा परिधि को ग्रहण करता है। 'उ' कामना करता है केन्द्र की। इ = इसके वितान में 'झोंक' है। उ = धनन में 'झोंक' है।

जप में नादस्वर है अ। गान में यह है 'आ'। विन्दु = 'ह'। नाद का उदय एवं वितान (जैसे गायत्री में धीमहि) = इ। नाद का विलय = उ। विन्दुसंश्रय में पुनश्च 'ह'।

षट्कोणादि कोई यन्त्र अंकित करोगे ? किसी आधार अथवा अधिकरण की भावना करो। यह है 'अ'। उसमें एक मूलविन्दु की भावना करो। यह है 'ह'। उससे नाना मुख में बहिर्गति (going out) की भावना करो। यह है 'इ'। समस्त गति को त्रिभुज, वृत्तादिरूपेण इस मूलकेन्द्र में अन्वित सूत्रित करो। यह है 'उ'। और यत्किंचित् अभिव्यक्त होते ही उसकी साधारण संज्ञा है 'क'। जैसे अधिकरण की सामान्य संज्ञा = अ। उसी प्रकार अंकित की कलित की साधारण संज्ञा = क। सुषुम्ना शब्द में दो उ की तथा इड़ा-पिंगला में 2 'इ' की विवेचना करो।

५. अयोगवाहाभ्यां सप्तकम् ॥

अयोगवाह अथवा आश्रय स्थानभागी अनुस्वार को और विसर्ग को लेकर सप्तक होता है।

अयोगेन स्वरैर्योगो योगाभावश्च बुध्यताम् ।
आद्यस्य मातृका माता मातृकाणां स्वयं परे ॥१३९॥
अनुस्वारविसर्गौ यौ विन्दुनादविजृम्भितौ ।
तभ्यां सर्वप्रपञ्चस्य सप्तपर्वत्वमूर्ज्जितम् ॥१४०॥

अयोग शब्द को दो प्रकार से समझना होगा। अ+योग से 'अ' अथवा स्वर सामान्य से योग तथा योग का अभाव दोनों अर्थ ध्वनित होता है। अनुस्वार एवं विसर्ग ये दोनों क्रमशः विन्दु तथा नाद के प्रतियोगी (पूर्व व्याख्यात अर्थ में) हैं। यहां उन्हें 'विन्दु विजृम्भित' कहा गया। अनुसासिक वर्ण विन्दु को पास खीचते हैं। इनका स्पर्श है विन्दु की बहिःकोटि (outer Ring) का स्पर्श। अनुस्वार अन्त कोटि का स्पर्श देता है। अर्थात् अनुस्वार विन्दु के प्रति युंजान है। किन्तु वह स्वयं युक्त नहीं है। जो विन्दु का लय अपनी सत्ताशक्ति में करता है एवं उसे संश्रित करता है, वही है युक्त। यह है चन्द्रविन्दु। देखा गया है कि अर्द्धमात्रा के बिना यह अंतरंग योग सम्भव नहीं हो सकता। अतः अर्धमात्रा ही यथार्थतः योगवाहिनी है। विन्दु नाद कला अथवा कलानादविन्दु जबतक पुरा प्रकृति के प्रत्यय में नहीं आ जाते तब तक वाक्—प्राण—चित्त का कोई भी योग सम्पूर्ण तथा निव्यूंढ़ रूप से योगवाह नहीं होता।

वाह्य दृष्टान्त के अनुस्वार अनुनासिक तो मानों किसी एक बीज को दिखला देता है, अनुस्वार उस बीज के त्वक् आवरण के अन्दर का भी कुछ प्रदर्शित करता

है। उसके नाभि केन्द्र का भी किंचित आभास प्रदान करता हैं। किन्तु जो उस बीज की सत्ताशक्ति के मूल विन्दु से उसके उन्मेष-विकास-आवृत्ति की पूर्ण आकृति को प्रदर्शित करता है, वही है यथार्थतः योगवाह एवं योगवाही। व्याकरणादि इसकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि यह मूल के समाचार को रखता है। यह मूल का क्या समाचार प्राप्त करता है? अनुस्वार तथा विसर्ग (अ, आ, क वर्ग एवं 'ह' जिनका उच्चारण कण्ठ से होता है), मूल के प्रति युंजान होने पर भी युक्त नहीं है। अतः वे ऊपर अंकित लक्षणानुसार अयोगवाह हैं। अथच, पुनः अकारादि स्वर के योग से ये योगवाहन में साधक भी सिद्ध होने लगते हैं। योगवाहन = In linking up with Root principles)। अर्थात् यद्यपि पूर्ण योगवाहक नहीं है, तथापि योग्य स्वर योग में ऐसा भी हो जाता है। अनुस्वार-विसर्ग का यह तटस्थ एवं मध्यय भाव लक्ष्य में रक्खो। "ठीक वैसे भले ही न हो सकें, फिर भी उपाय विशेष हो ही जाते हैं।"। अतः इनके प्रयोग एवं उच्चारण में सविशेष सतर्क भी रहना पड़ता है।

जैसे लं तथा लः। यदि प्रथम (लं) इस प्रकार से प्रयुक्त एवं उच्चारित होता हैं. तब उसमें विन्दु के पास एक "झोंक" (Stress) स्पष्टतः परिलक्षित होता है। और उच्चारण में अभिघात वृत्ति (Impact factar) मुख्य न होकर संघात वृत्ति (Impulse Factor Tending to Coverage) मुख्य हो जाते हैं। तब क्या हुआ? 'लं' पृथ्वी की बीजरूपता में जाने लगा। इससे पहले यदि वह चन्द्रविन्दु शीर्ष युक्त ऊँ को आधार रूप में प्राप्त कर लेता है, तब तो वह यथार्थतः ही होगा। पुनश्च, लः किस भाव को ग्रहण करता है? अभिघात, मानो जोर करके स्वर को फेंक दिया जाय ऐसा! तब क्या हुआ? यदि ऐसा होता तब विन्दु के समान नाद भी उसमें unwilling ही रहता। ये दोनों नित्य, अनाहत हैं; अतः ये आघात एवं दौरात्म्य को पसन्द नहीं करते। जिस मन्त्र के अन्त में नमः लगा है, उसमें सतर्क हो जाओ। हकार नाद का ही अखण्ड रूप है। नमः में लगे विसर्ग का उच्चारण नादानुग, नाद युंजान रूप से ही करना होगा। यह है प्राण के आक्षेप और चित्त के विक्षेप को खंडित करने हेतु। स्मरण रक्खो कि जपादि में Impact प्रभृति को क्रम में जड़ित accumulated नहीं होने देना चाहिये। गति को हठपूर्वक रोध नहीं करना चाहिये। दोनों स्थिति में ही यह Resistance बलवत्तर होने लगता है। फल होता है बाह्य एवं आन्तरिक सन्ताप आदि। जैसे इन्जन में Cooling ठंडा करने के यंत्र का अभाव। अनुस्वार में शलाका से 'खोंचा मारना' उचित नहीं है। विसर्ग में भी झटके से उच्चारण करने का भाव नहीं रखना चाहिये। ऐसा करने से अभिचार होता है, स्वस्त्यायन नहीं होता।

किसी राजकन्या ने (महाविदुषी ने) मौन विचार सभा में अपने (पूर्ण मूर्ख भावी वर को एक उँगली दिखलाया। उसने सोचा यह कन्या उसके एक नेत्र को फोड़ देगी। वर ने दिखलाया दो उँगलियाँ। एक उँगली=विन्दु अनुस्वार, दो उंगली विसर्ग। यह है प्रारम्भिक बात। १ अकेला नहीं रहा। उसे दो, चार इत्यादि होना पड़ा। इस प्रकार होने से आँख (मूल दृष्टि एवं तत्व दृष्टि) मूँदने से नहीं चलेगा। अयथा व्यवहार का भय होने की आशंका हो जाती है। जो अनुस्वार विन्दु नाद विजृम्भित है वह अ इ उ क ह द्वारा प्रपंचित विश्व को सप्तपर्व करता है। अर्थात् मूल ५ 'अ इ उ क ह' को सात कर देता है। पंचक को करता है सप्तक। सप्तस्वर केवल स्वर का ही विभाजन नहीं है। वर्णाली, आणव गोष्ठी (Family of Elements) इत्यादि में भी सप्तक का सन्धान मिलता है। पाँच जिससे प्रपंचित हुआ, मानो वह तब तक अलग है, जब तक और दो (अनुस्वार एवं विसर्ग) सम्यक् मुखीनता में (Pointedness) में नहीं लाते। वे स्वयं अयोगवाह होने पर भी विन्दु तथा नाद स्वरादि सब को मुखीन एवं युंजान-युक्त भी कर लेते हैं। विन्दु और नाद स्वभाव में हैं स्वः। कलित स्वरादि=भूः। अनुस्वार-विसर्ग इसमें भुवः की भूमिका ग्रहण करता है। अतः ये हैं ('ना यह-ना वह') अयोगवाह। अनुस्वार-विसर्ग द्वारा स्वरादि उर्जित होते हैं। अन्यथा वे सब मरे सर्प के समान फन उठाने में समर्थ ही नहीं हैं।

सात-संख्या के मौलिक होने के हेतु को इस प्रकार से विचारो। एक से प्रारंभ १ से दो। दो होने पर किसी ने इस २ को आपस में जोड़ रक्खा (जैसे दृग-दृश्य ज्ञातृ-ज्ञेय, विन्दु-नाद)। यह योजक हुई ३ संख्या। योजना भी अन्वय, सम्बन्ध (Li-King-Relating प्रभृति विविध आकृति (Forms) लेने लगी। तथापि मूल में, आदि में वह एक कहता है "मैं सब कुछ के अन्त में भी रहूँगा"। बीज से पौधा, उससे पुनः बीज। अतः अन्त में भी एक। All divergences and differences in becoming tend to convergence and oneness। इससे क्या मिला $1+2+3+1=7$।

जैसे कागज के उपर एक वृत्तांकन किया। कागज कहता है "मैं एक नम्बर"। कागज पर जो विन्दु बैठाया, वह २ नम्बर। उससे जो व्यासार्द्ध रेखा खींचा, वह तीन। वह रेखा कहती है "मुझे स्थान दो अर्थात् कितना पैर बढ़ाना है बोलो'। यह पाद हुआ ४। अब उसे कोण में घुमाना तो है ? यह हुआ पांच। उसकी एक मात्रा तो होगी ? यह मात्रा हुई घ। अन्त में परिधि तथा नेमि हुई सात। यह देखो पुनः सात वापस आ गया !

बीजादि जपमात्र में यह 7 है, देखो

(१) उदय सेतु (अव्यक्त निःसृत)।

(२) व्यक्ताव्यक्त उदित नाद।

(३) व्यक्त नाद

(४) कला

(५) विलय मुख में व्यक्त नाद

(६) अव्यक्ताव्यक्त नाद

(७) विलय सेतु (अव्यक्त प्रान्तगा)।

२ तथा ६ का भेद विभावनीय है। मुख किधर है? व्यक्त की ओर अथवा अव्यक्त की ओर? जैसे निद्रा से जागना पुनः जागने से निद्रा में पुनरागमन। अनुस्वार तथा विसर्ग (सूक्ष्म वृत्तिता में) इन्हीं मुखद्वय का निर्देश देते हैं। गायत्री व्याहृति पाद में विसर्गवृत्तिता प्रकटित है।

केवल दृष्टान्तों से इन सात का सन्धान करने से कार्य नहीं होगा। सृष्टि सर्वत्र सप्तपर्वा रूप से उर्जिता है। लक्ष्य करो कि १-२-३ होकर भी सब कुछ एक में ही आना चाहता है, अतः विश्वमौलिक सप्तपर्वत्व है। अथवा १-२ अथवा मिथुन होने पर मिथुन मे से प्रत्येक पुनः मिथुन होता है। अथच, पहले का वह १ 'नस्यात्' नहीं हुआ। किसी प्रकार से (Continiuty of the germplasm इत्यादि में) स्थित रह गया। इसमें भी $1 + 2 + 4 = 7$ उपलब्ध होता है। मिथुन भाव को दो बार लिखने का तात्पर्य यह है कि मिथुनी भाव के आभास का निर्देश देना। सृष्टि की धारा में जो सब जर्मप्लाज्म सिरीज परिलक्षित हो रही है, उनके मूल चेहरे की उपलब्धि होती है इस सप्तक में। इस प्रकार विभिन्न मननाधार में पंच, सप्त प्रभृति मौलिक संख्या भावित की जा सकती है। वर्त्तमान सूत्र से, अनुस्वार-विसर्ग द्वारा (अ—इउ—क—ह) प्रपंचित विश्व सप्त पर्वरूपेण उर्जित हो रहा है, यह तथ्य प्रकट किया गया है।

अब मातृका के साथ अनुस्वार-विसर्ग सम्बन्ध को कहा जा रहा है। मातृका मात्र के पंचमान होते है :—

(१) आद्याकलनी अथवा कलन मान

(२) विन्दु मान

(३) नादमान

(४) विशेष कलन मान

(५) कलितमान

जैसे 'क'। परमाक्षर वस्तु का 'काम' हुआ 'कलन करूँगा'। यह आदिम कलनमान वाक्य में व्यक्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि यहीं परम मौन से Absolute unutterable, से परावाक् का आविर्भाव होता है। तब कहने के लिये

तो इसी प्रकार से कहना पड़ेगा—आद्या तथा अविशेष कलनी = विन्दु एवं नाद। इन तीन मूल आधार का कलन करने के पश्चात् विशेष कलन की बारी आती है। अर्थात् मानो कलनी (कला) यह कहती है "अच्छा अब बोलो कि अब विशेष वर्ण रूपादि का कलन करूँगा"। यह विशेषाख्या कलनी वृत्ति चतुर्थी है। अब कलित हुआ 'क' इत्यादि। जो आद्या कलनी (बौद्ध परिणाम में In the Context of Transcendental Logic) इन सब का प्रसव करती है, वह कला अथवा कलनी है मातृरूपा। मानो यहाँ यही मातृ 'क' का कलन करके कहती है "देखो ! क ! तुम दूर मत जाओ। मेरे संग ही रहो।" 'क' कहता है "अच्छा ! मैं तो रहूँगा, परन्तु तुम भी मत जाना"। मातृ कहती हैं "पागल ! तुमको छोड़कर कहाँ जाऊँगी ? तुम मेरे स्वभाव में अनुभावित होकर रहो। अर्थात् पार्श्व में 'क' पहले का "मातृ" हुआ मातृका। मा अपने आकार में उसे घेर कर रखती भी है और आकलित करती है। क्या यह सब गल्प है ? गम्भीरता से विचारो।

यह जो मातृका मात्र का पंचमान है, उसे 'अ इ अ क ह रूपी मूल वृत्ति से मिला लो। जिसमें जिसमें हूँ, जो जो लिये हुये हूँ, वह सब जब तक 'एक' में मिला सकनें में सफल नहीं हो जाता तबतक Disparity आगे रहेगी। कला-नाद विन्दु को समानाधिकरण में, सामरस्य में लाना ही होगा। साथ ही वाक्-प्राण-मन को भी !

अब यह लक्ष्य करो कि इस अक्षर पंचक के आदि अन्त में जो २ (अ-ह) हैं, वे क्या करते हैं ? ये स्थापन करते है मातृका पंचमान के आद्यमान (सामान्याधाररूपता और भूयिष्ठ महाप्राणता Basic Back-ground and Basic Fund of Power) को। मानो यह कहते हैं "यह तो तुम्हें भूमि भी दिया। अस्फुरन्त मूलधन (सामर्थ्य) भी दिया। अब जो बनाना गढ़ना है वह बनाओ, गढ़ो।" 'उ' ने दिया विन्दुमान; 'ई' ने दिया नादमान और 'क' ने दिया कलित, कलायमान मान !

अनुस्वार तथा विसर्ग ? पुनः 'अयोग' की भावना करो। देखा जाता है कि अर्धमात्रा ही सेतुरूपा होकर योगवाहिनी है। चन्द्रविन्दु शक्ति यहाँ है अन्तरंगा। अनुस्वार-विसर्ग बहिरंग न होकर तटस्थ हैं। अन्य सब जो अर्धमात्रा के प्रान्तमात्र का स्पर्श करके लौट आते हैं, वे हैं बहिरंग। देवता के कोई दर्शनाभिलाषी मन्दिर का प्रान्तमात्र ही स्पर्श करके आ गये। किसी ने देवता को मन्दिर के खुले दरवाजे से दूर से देखा। और कथंचित् कोई रत्नपीठ के पास जाकर वहाँ अपना शिर भूलुण्ठित करता है, प्रदक्षिणा करता है। यही स्थिति है लक्ष्य एवं काम्य। और अब बदरीनाथ मार्ग पर लछमन झूला को याद करो। इन सब को सेतु सन्धिरूपा जानो

इष्टपरिक्रमा का। सेतु (लछमनझूला पुल) के नीचे जो अस्फुटनादरूपा गंगा प्रवह-
मान हैं, वे हैं ओंकार रूपिणी। वे इस झूला पुल को दिखला कर कह रही हैं "तुम
यदि विन्दुकलानाद रूप से मुझ त्रिपथगा को प्राप्त करना चाहते हो तब इस सेतु
अर्धमात्रा का समाश्रय सावधानी से करो।" यह होने पर ओंकार रूपा गंगा हो जाती
हैं यथार्थ अन्तरँगा एवं योगवहा।

इस पुल पर ऊपर एक रज्जु है और एक नीचे है। उपर की रज्जु को कसकर
पकड़कर नीचे वाली पर पैर बढ़ाना पड़ता है। नीचे वाली 'पाद' उपर वाली
मात्रा, जो पाद के छन्द-ताल को ठीक रखती है। पाद है नादगोत्र, अतः विसर्ग
स्थानीय। मात्रा है विन्दुगोत्रा, अतएव अनुस्वार रूपा। इसी पादमात्रा में अनुस्वार
विसर्ग में सन्तुलन रखकर उस पुल का उत्तरण होता है।

अब देखो। इस झूला से पार जाने वाला यात्री कौन है? तुम्हारा शरीर?
नहीं! वह नहीं है। तुम्हारा मन वाक्-प्राण? हो सकता है, तब भी उसे संक्षेप में
कहते है वाक्! ये एक ही तीन है। जैसे ओंकार में अ ऊ म। इन तीनों में 'अ'
पाद को ठीक रखना चाहिये। (अर्थात् अखण्डनाद को। क्योंकि रस्सी हाँथ से
छूटते ही गंगा में गिरे!)। उ को मात्रा में रखना चाहिये। (अर्थात् उदय-विलय
में विन्दु प्रशासन।) म है, अ तथा उ की संहति (Co-ordination)। यह संहति
या युक्ति केवल मुख्यतः (स्थूला) बाक् की है? वाक् की युक्ति के साथ (अर्थात्
म) मन तथा प्राण की युक्ति चाहिये। तीनों युक्ति अथवा त्रिग्रंथि। जैसे यज्ञोप-
वीत।

मन की युक्ति अनुस्वार में योजना करना चाहती है। योजना=युंजान।
अनुस्वार=विन्दु प्रतियोगी। संयम अथवा Concentration ही मानसयुक्ति का
मूल है। प्राण की युक्ति कौन देता है? महाप्राण 'ह' का आत्मज विसर्ग। नमः
मन्त्र में जैसे विशेषतः है। जब मन स्व छन्द में है तब है धीर। प्राण स्व छन्द में
=वीर। अनुस्वार तथा विसर्ग में इस धीरतायुक्ति से तथा वीरतायुक्ति से युंजान
(Prove) हुआ जा सकता है एवं होना भी उचित है। वाक् की युक्ति से क्या
होना उचित है? स्थिर। अ उ म उच्चारण में वाक् यदि पराक्वृत्ति का त्याग नहीं
करती, अस्थिर ही रह जाती है; तब एकदम वृथा है। उच्चारण करते-करते हो
जायेगा। तब प्रारम्भ से ही स्थिर शान्त होने की ओर प्रयास रहना चाहिये। एक
प्रकार से जड़वत हो जाना तामस है। यह वर्जनीय है। जपादि वाक् के विश्राम
स्थल में यह हो जाता है प्रसन्न उज्वल। वह अब उस ज्योतिः प्रसाद और रसाधार
से हटने की इच्छा नहीं रखता। मानो अब मधुप ने आलोक पुलक युक्त मधु कोष
भाग्य से पा लिया! यह अचानक नहीं होता। तब भी "लगा रहो भाई। बनप-बनत

बन जाई" मधुप की माधुकरी परिक्रमा के समान तुम्हारी जप व्याहरण परिक्रमा, अनुस्मरण परिक्रमा चलती रहे। यह मत भूलना !

त्रियुक्त न होने पर यथार्थ योगवाह कुछ भी नहीं होता। इस त्रियुक्ति में प्राणयुक्ति की बात को और भी विचार कर देखो। प्राण के व्यानरूप को और भी विशेषरूप से ध्यान में रक्खो। व्यानवृत्ति व्यापिनी तथा सन्धिनी है। इसमें विसर्ग के द्वारा ('ह' कार से अनुगृहीत) व्यापिनी की योजना तथा युक्ति होती है। किन्तु सन्धिनी की योजना में चन्द्रविन्दु आवश्यक सा हो जाता है। अर्थात् चन्द्रविन्दु के बिना नाद एवं कला विन्दुरूपी त्रितय की मूलभावना (समानाधिकरण सामरस्य) साधित नहीं होती। अतः ॐ कार का ॐ रूप से ही लिखित तथा उच्चारित होना आवश्यक है। अन्यथा त्रियुक्त में भी सन्धियोजना नहीं होगी। अर्धमात्रा सेतु तैयार नहीं हो सकेगा।

अच्छा ! अब मातृका में वापस लौट आओ। वाक् तथा निखिल प्रपंच में जो आद्य मातृमान को (Prime Matrix Measure principle को) अभिव्यञ्जन मुख (First Manifiest principle या Evolute) 'क' के साथ स्वार्थ में (in consignificance) में योजित करता है, वही है मातृ + का। जैसे पुनः वह बीज मातृमान का प्रतिभू। इसमें अंकुरायण हो जाने पर 'क'। यहाँ इन दोनों को जो स्वार्थ में (In community of end and function) युक्त करती है, अन्वित करती है, वही मातृका है। यहाँ बीज से अंकुर प्ररोहादि उद्गम में नाद प्रतियोगिता (Emphasis) स्पष्ट है। अतः विसर्ग (विसृष्टि) का अनुबन्धाधिकार है। तब उस पेड़ में किसी फूल फल की प्रत्याशा नहीं करना चाहिये। कैसे बड़ा होगा, यह विचार नहीं करना। किन्तु बड़े पौधों में यदि फूल फल नहीं हो रहा है, तब ? वहाँ हम उसे और बढ़ते नहीं देखना चाहते। अर्थात् वहाँ पर गति विन्दु अथवा बीज प्रतियोगी होना चाहिये। अतः अनुस्वार। पहले बीजं, उससे अंकुरः अन्त में फलम् पुष्पम्। इसलिये आश्रय स्थानभागी रूप से अनुस्वार विसर्ग मातृका के पंचमान में विन्दुमान तथा नादमान की माता होकर (Index and Measure) वह विद्यमान रहती है। अर्थात् किसी मातृका में अनुस्वार लगाने पर उसका मुख विन्दु के पास हो जाता है। उसमें विसर्ग देने पर उसका मुख नाद के पास हो जाता है।

जैसे कं, कः। प्रथम है कर्म, दूसरा है कर्त्ता।

कर्त्ता कर्म सम्पर्क में नादप्रतियोगित्व, स्वप्रसारणी वृत्ति है और कर्म के कर्त्ता सम्पर्क में विन्दु प्रतियोगित्व स्वसंकोचनी वृत्ति है। इसका विचार करो। एक है Agent अन्य है Patient एक व्याप्त करता है, अधिकार करता है। दूसरा (अन्य)

व्याप्त तथा अधिकृत हो जाता है। जो माली वृक्ष के बीज बोकर मिट्टी बराबर करता है, वह है कर्त्ता, जो फूल फल उगे वह है कर्म।

इन दोनों अनुस्वार विसर्ग की स्वनिष्ठा वृत्ति Intrinsic directives है। अर्थात् उसमें ही दी हुई वृत्ति है। अन्य कुछ के योग से इसे प्राप्त नहीं किया गया है। प्रत्येक पदार्थ की कतिपय वृत्ति स्वभावगा होती है। अन्य कई वृत्तियाँ अन्य-भवीया होती हैं। कतिपय हैं Innate, अन्य है Induced.

अनुस्वार विसर्ग की स्वतन्त्रवृत्ति (Nature of the directives considered by itself) कही गयी। क्या कहा गया? अनुस्वार मातृका को विन्दुमुखी (directed) करता है। विसर्ग उसे नादमुखी करते हुये उसके मान की माता As Index and Measure हो जाता है। जैसे किसी संख्या के ऊपर वर्णादि का चिह्न रखने पर वह प्रसार की ओर और वर्गमूल आदि का चिह्न देने पर वह संकोच की ओर जायेगी। प्रथम है servics का divergence और दूसरा है Convergence.

इसके अतिरिक्त अनुस्वार विसर्ग की पराधीना वृत्ति भी है। 'आद्यस्य मातृका माता' यह कारिका में कहा गया है। यहाँ उन दोनों का पूर्वकथित जो विन्दु-नाद प्रतियोगित्व (Directiveness) है वह 'न स्यात्' नहीं हुआ। स्वभाव कभी भी उच्छिन्न नहीं होता। फिर भी मानो यह कहा "हां! तुम इस विन्दुनाद की ओर उंगली दिखलाओ। किन्तु चलो अन्य के कन्धों पर चढ़कर। उसकी मर्जी के माफिक चलो।" अर्थात् तुम्हें वाह या वाहन पर ही निर्भरशील होना होगा। you depend on carrier conditions. व्यवहारतः प्रायः सभी क्षेत्र में इस प्रकार से निर्भर न रहे बिना कोई उपाय ही नहीं है। अच्छा। यहाँ 'वाह' क्या है? मातृकास्वर एवं विशेषतः स्वरवर्ण संयुक्त मातृका। जैसे 'क' एक यौगिक शब्द है। (Phonetic Element)। इसमें अ आ इ ई उ ऊ ऋ प्रभृति के योग से सस्वर मातृका हुई। अथवा व्यञ्जनवर्ण न लेकर अ इ उ प्रभृति ह्रस्व दीर्घ स्वरों का ही प्रयोग किया गया।

यह जो दो प्रकार की मातृका Matris है (अररूपा-सस्वरा) इसमें अनुस्वार-विसर्ग क्या मान दान अथवा आधान करता है? यहाँ मान को प्रकारद्वय से जानना होगा। प्रथम संकेतमान symble-Index, दूसरा मेयमान Measure। जैसे किसी प्रकार का शक्ति चालित यन्त्र चल रहा है। उसमें मीटर लगा है। मीटर कहता है "कितना शक्तिमान कार्यतः लग रहा है"। पुनः यह भी कहता है "शक्ति का कार्य किस ओर (मुख में कम या अधिक) हो रहा है?" संकेतमान पहले की भाषा में उंगली दिखलाता है और कहता है "किस मुख की ओर शक्तिमान का परिणाम घटित हो रहा है।" यह निसंदिग्ध है कि यह एक अति आवश्यक विज्ञप्ति है, तब भी

कार्यकारी शक्तिमान के ऊपर इस विज्ञप्ति (Indicator) की साक्षात् रूप से अध्यक्षता नहीं है। वह अध्यक्षता है रेगुलेटर अथवा उसी के प्रकार के कन्ट्रोलर की। विज्ञप्ति के ही समान इसे एक और नाम दिया जा सकता है प्रभुक्ति। (भुज धातु को अवम अथवा पालन, शासन, के अर्थ में लिया गया)।

अब विचार करो स्वर योग में मातृका, उसके सम्पर्क से अनुस्वार विसर्गरूपी मानद्वय यहाँ कौन सा दान अथवा आदान करते हैं ? उत्तर—ये संकेतमान का विशेषतः दान-आदान करते हैं। यह है उनका दान और स्वर के (केवल अथवा व्यंजनयुक्त) पास से वे मेयमान का आदान करते हैं। पुनः मीटर या इनडिकेटर के दृष्टांत से इस आदान को समझ लो। करेन्ट अथवा पावर बन्द होते ही, वे बंद हो जाते हैं कि अब और क्या दिखाया जाये। अतएव जो आता है स्वर का आश्रयभागी होकर, वह स्वरमातृका को देता है उसका मेयमान और अपने पास रखता है संकेतमान।

जैसे ह्रीं एक शक्तिमातृका यन्त्र है। ह् तथा र् ये हैं उसकी कार्यकारी शक्ति। ई है इस शक्ति का परिचालक। कन्डटर तथा रेगुलेटर (ईश्वर के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, ऋजुसुषम इत्यादि मात्राकृति में लेने पर)। जैसे ह्रीः अथवा ह्रीं। इसमें वह इन्डिकेटर बैठा। अनुस्वार कहता है शक्तिमान है संकोच या घनीभाव के (Cendensation के) मुख में। यदि विसर्ग रहता है तो वह है प्रसार-व्याप्ति की ओर। एक अंगुली दिखलाता है क्वैन्टम की ओर, दूसरी दिखलाता है wave की ओर। अच्छा ! अब लगाओ वही सोमार्द्ध-चन्द्रविन्दु। आकृति की ओर क्या हुआ ? (ं) ने उसके अंगुल को समेट लिया (अंगुल = ँ जिस पर विन्दु रखने से चन्द्रविन्दु होता है ँ) और कहा "अब अंगुली दिखाओगे क्या। विन्दु मिल गया। संश्रित हो जाओ"। विसर्ग (:) भी उसके छन्द (क्रिया प्रतिक्रिया रूप विरोध opposition) को छोड़ देता है। विसर्ग के उपरी विन्दु ने निचले विन्दु से मानो कहा "तुम्हारी दोहाई ! मैं यहाँ से जो साधूँगा उसे तुम तल में (नीचे) रह कर (Drag, संस्कारादि रूपेण) बाँध लेना ताकि वह और अधिक न हो जाये। वरन् उसे एक जुट क्यों न कर लिया जाये। मै ऊपर का ध्रुव विन्दु होकर रहूँ और तुम इस आकृति में नीचे सुषम रूप से दोलायमान रहो। क्यो। राजी हो ?" विसर्ग ने ही विन्दु को द्वन्द्वभाक् करने के लिए अध्रुव तथा क्षर कर लिया है। ऐसा निखिल विसर्ग अथवा विश्वसृष्टि में हुआ है। किन्तु नाद को सोमार्द्ध कला में ले आकर क्षर तथा अध्रुव का अक्षर एवं ध्रुव में समन्वय किया गया है। यही है चन्द्रविन्दु। ह्रीं है महामनु। जपादि समस्त साधनाओं में अनुस्वार विसर्ग का यही ऊर्ध्व सामरस्य साधन साधित करना होगा। Sublimation करना होगा।

जो मन्त्र देवता की प्राणप्रतिष्ठा में लगता है; उसके स्वर-मातृका समूह में अनुस्वार-विसर्ग को इस छन्द आकृति में ग्रहण किया गया है, जिससे वाक्-काय मन की औध्र्य भावनी संसाधित होती है। वाक् = स्वर। काय = विसर्ग। मन = अनुस्वार। जब तक ये तीनों उक्त औध्र्व-भावनी में नहीं आ जाते तब तक प्राण को अमृतौजा: रूप प्राप्त नहीं होता। प्राण के प्रतिष्ठित हो जाने पर जो दिव्य अनुभूति होती है, वह है 'अपाम सोभमृता अभूम। अगन्म ज्योतिर विदाम देवान्।' इत्यादि।

पंचम सूत्र में अनेक तथ्य कहे गये। अब है षष्टम सूत्र:—

६. आवृत्तिपरिवृतिपरावृत्तिभि: कोणस्य ॥

(प्राणन वृत्ति से प्रसज्वमान) जो कोण है, उस कोण की आवृत्ति (पूर्व व्याख्या) परिवृत्ति एवं परावृत्ति रूपी त्रिविधा-वृत्ति होने के कारण केवल पूर्वकथित अनुस्वार, विसर्ग, चन्द्रविन्दु ही नहीं, प्रत्युत जाग्रदादि सब कुछ मूल त्रैविध्यरूप प्राप्त करते हैं॥

बहुधा वृत्तिमापन्नं प्राणनं कोणताश्रयात्।
आवृत्यादित्रिधारूपं भजते भुवनान्वयम्॥ १४१॥

कौणिकत्व अंगीकार करने पर प्राण का जो व्यापार है, वह इस विश्व वितान में अनन्त वैचित्र्यभाव का हो जाता है। जो प्राणन् तथा प्राणव्यापार का मूल रूप है वह यदि स्पन्दाकृति है, तब वह मूलस्पन्द अशेष-विशेष कोण में या कौणिक सम्बन्ध में आ जाता है। अर्थात् कोई कहता है "प्रसज्यमान अथवा विवेच्य स्पन्द अथवा स्पन्दगुच्छ किस आकृति का है (of what nature and pattern.)"। जैसे एक प्राणन् वृत्ति। अत: जप में प्रश्न है किस कोण में (ऋजु, सम, सुषम, विषम) जप चल रहा है। कोण प्रसंग में इन विचारणीय विभेदों का प्रदर्शन किया गया है। यह भी कहा गया है कि प्राण स्पन्दन का यह कौणिकत्व वाक् तथा मानस में प्रतिफलित (Reproduoed) होता है। प्राण ही है मूल व्यापारी। लक्ष्य करो कि जप की उदय-विलय सन्धि में कोण का ऋजु होना आवश्यक है। अर्थात् उदय-विलय में सम। कलावितान में सुषम। इस विशेष के अतिरिक्त ऋजु प्रभृति की व्यापक रूप से विवेचना की जा चुकी है। जप गति में अभिविधि छन्द: और मर्यादा छन्द सहज (ऋजु) है तो, इसी प्रकार (according) हैं तो (सम)? यह सब भी ऋजु-सम की व्यापक व्यंजना में अवश्य आता है।

वर्त्तमान सूत्र में कोण की आक्रृति, परिवृत्ति एवं परावृत्ति रूपी मूल वृत्ति का भी निरूपणकरके निखिल भुवनान्वय में उसकी योजवा की गई है। पहले आवृत्ति (अभिविधि एवं मर्यादा) एकरूप भाव में भावित हो चुकी है। यह है

आवृत्ति की सामान्य (generic) आकृति । अतः वर्त्तमान सूत्र में परिवृत्ति-परावृत्ति का भी अन्तर्भाव (Inclusion) हुआ है। किन्तु विश्लेषण के सूत्र तथा आधार को अलग करने पर इन तीनों को पृथकतः ही देखना होगा। जैसे आवृत्ति का भाव अथवा वृत्ति संकोच करते हुए कहा गया कि जहाँ दोलक, उर्मि, गोलक इत्यादि भंगिमा में छन्दसा दोलन रहेगा, वहीं है आवृत्ति। दोलन में भी 'इतना यहाँ तक' (amplitude) का प्रश्न रहेगा, यह निःसंदिग्ध है।

जैसे गायत्री आदि जप में कोई कला, कला समष्टि (Phase packet) का सम्बन्ध रहता है। किम्बहुना "इतना यहाँ तक' कहने पर दिग्देश-काल-वेगाख्य शक्ति (Momentum) तथा छन्दः रूपी चतुष्ठय की विवक्षा होती है । यहाँ ये चार निरूपक (Co-ordinates) लेकर एक आधार की स्थापना किया। इन चारो के परामर्श एवं अनुबन्ध में दो काष्ठा विन्दु लिया और कहा "ओ गतिवृत्ति ! तुम इन विन्दुद्वय का स्पर्श करके पुनः पुनः होती रहो। जैसे दोलक में है।" पुनः कहा कि गायत्री आदि जप में नाद मेरु और विन्दु मेरु, किसी कलोर्मि में उसका चूड़ा विन्दु (शीर्ष विन्दु) एवं सानु विन्दु। इन दोनों में से प्रथम में परिक्रमा पूर्ण हो जाती है। पूरा ही घूम कर लौटा जाता है, यदि नाद अथवा विन्दु के किसी मेरु से प्रारम्भ करके उसी में वापस आ जाओ।" अतः इसे कहते हैं परिवृत्ति (परितः वृत्ति)। यही इसकी वर्त्तमान सूत्र में संज्ञा है। जो दोलन या स्पन्दन-दो निरूपित काष्ठा का स्पर्श करके पुनः पुनः छन्दसा हो जाता है, उसे ही इन विशेषाधिकरण में आवृत्ति कहा गया है।

जपादि साधना तथा समस्त छान्दसी क्रिया में ही केवल साकल्य संवाद (Review in Sum total) को लेकर ही सफलता नहीं मिलती, अपितु कला-विशेष को भी उसका कुशल संवाद सुनना पड़ता है। केवल यह कहने से नहीं होगा कि on the whole सब कुछ ठीक ही चल रहा है! जो पक्की इमारत बनाई जा रही है, उसका Arch वगैरह कमजोर होने पर रक्षा कैसे होगी? अतः यही कारण है कि आवृत्ति की तुलना मे परिवृत्ति को मानो अलग करके ही यहाँ दिखलाया जा रहा है। Analysis पक्की (पोख्ता) न होने पर Syntheis भी सम्यकतः नही हो सकेगी।

छन्दोभिर्दोलनञ्चैव चक्रायणं समग्रतः ।
दिग्देशकालवेगानामन्यथात्वञ्च छन्दसाम् ॥ १४२ ॥
प्रत्येकं तिसृणां पञ्च तथा सप्त भवेत् पुनः ।
मनोवाग्वस्तु वैचित्र्यं प्राणनाद्धि प्रणीयते ॥ १४३ ॥

छन्दोभिः अथवा छन्द के सहयोग से जो दोलन (दो निरूपित assigned काष्ठा में) है, उसे यदि वर्त्तमान अनुबन्ध में आवृत्ति कहें, तब जो समग्र भाव

(Completely) से जो चक्रायण (evolution) है, उसे परिवृत्ति (अथवा परिक्रम) कहना चाहिए। यहाँ पर आवृत्ति तथा परिवृत्ति रूपी स्थलद्वय में देखना चाहिये कि दिग्देश, काल, वेग (शक्ति) तथा छन्दः सहगचतुष्ठय में रहें। अर्थात् कहीं किसी 'मुख' हो रहे हैं, कुछ क्षण कहीं मुख घुमा रहे हैं, कभी कुछ वेग धारण कर रहे हैं, एवं किसी वीचि में जा रहे हैं, ये 'प्रश्न' रह जाते हैं। इनका, इन चतुः सहगो (factors) के किसी कोण में अथवा सभीं कोणों में यदि अन्यथात्व, change over from one frame or system to another घटित होता है, तब क्या हुआ ? परावृत्ति ! यह मत भूलना कि इस विशेषाधिकरण में शब्दों को विशेष विशेष शक्यतासम्बन्ध में लिया गया है। जैसे जप में उदयकला तथा विलयकला की तुलना करके समझो। यह वृत्ति धन में है, वह वृत्ति ऋण में हैं, इस लक्षण के अनुसार परावृत्ति होती है। उदयमुख में प्राण अकेले उदित होता है, तदनन्तर मन एवं वाक् के साथ युक्त हो जाता है। विलय के आरंभ में प्राण प्रथमतः वाक् (वैखरी) से वियुक्त होता है तदनन्तर मन (संकल्प) से वियुक्त हो जाता है। सर्वान्त में अकेले सेतु का आश्रय ग्रहण करता है।

अब गायत्री जप में वेगाख्य शक्ति का जो रूप 'धीमहि' पर्यन्त है, वह है प्रयास। तदनन्तर वह अन्यथा होकर प्रपत्ति हो पाता है। पुनश्च, 'वरेण्य' तक उसकी गति का लक्ष्य है नादशीर्ष। 'धीमहि' पर्यन्त ताटस्थ्य। मानो उच्च शीर्ष से उतर कर अपने देश में (सानुदेश में) ध्यानवेदी पर उसी 'वरेण्य' के ध्यान में आ बैठा। तत्पश्चात् प्रपत्तियोग में विन्दु विलय। यह है जड़ समाधि। यदि इसमें भी पुनश्च उदय-विलय विकल्पबीज निहित रहता है; तब जपसमुत्थान एवं जपव्युत्थान। अब जप चला आवृत्ति-परिवृत्ति में। अब यदि परावृत्ति से परा का मुख सविकल्प से फिरकर निर्विकल्प की ओर हो जाना है, तब परावारीण परम में अभिनिष्पन्नता हो गई। इस प्रकार जपवृत्ति के वैखरी से मध्यमा भूमि पर पहुँचते ही परावृत्ति आ जाती है। परा उपसर्ग में अतीत्यवृत्तिता Transecendence in being, function, plane आदि आते हैं, यह स्मरण रखना होगा। फिर भी यह जिज्ञास्य है कि पराकाष्ठा में गये अथवा नहीं गये।

अन्त में है उपसंहार। मन-वाक् एवं वस्तु का जितना भी वैचित्र्य है, वह सब प्राणन के आवृत्यादि त्रिधा कौणिक सम्बन्ध द्वारा प्रणीत होता है। एक साधारण दृष्टान्त। जैसे एक वृत्त का अंकन किया। किसी स्थिर विन्दु से एक व्यासार्ध लेकर यदि उसे किसी दोलक के समान ३० अथवा अन्य डिग्री में एक बार इधर उधर हिलाओ, तब आवृत्ति के कारण एक वृत्तकला बन जाती है। पुनः ३६० डिग्री में हिलाने पर परिवृत्ति होती है, परिणाम है सम्पूर्ण वृत्त परिवृत्ति में परिधि अथवा मर्यादा पूर्ण है। अर्थात् काष्ठा में है।

जैसे व्यास का संकोच अथवा प्रसार करना होगा। जैसे जप की द्रुतलय अथवा विलम्बितलय। अथवा अन्य-अन्य सम्बन्धाधार (अभिविधि में) में वृत्त को वृत्ताभास (Ellipse) अथवा पैराबोला आदि बनाना होगा। इस स्थिति में जो कर्म किया जाता है, वही है परावृत्ति। इसके बिना किसी भी प्रारब्ध का पापमोचन नहीं होता। संचित की गांठ नहीं खुलती Mutation, emergence, transformation, Sublimation साधित नहीं होता। यह सभी तन्त्र-यन्त्र से कहता है "क्यों ? तुम्हारा मन्त्र ठीक है तो ? क्या जो बेठीक है उसे पलट कर ठीक नहीं करोगे ? तब सावधान ! परावृत्ति स्वयं परा तथा परमा के पास हो मुख को रखती है। अपरा की ओर झुकना ही अपराध है"।

७. आभिर्जाग्रत् स्वप्नसुषुप्त्यादयः ॥

(वाक्-मन एवं वस्तु में प्राण-प्रणयन कर्म का दृष्टान्त लेकर कहा जा रहा है) आवृत्ति में प्रवृत्ति के कारण जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति प्रभृति घटित होने लगते हैं॥

समस्तव्यस्तभेदेन जागरादिविभागभाक्।
वाङ्मनोवस्तुसङ्घात आवृत्यादिभिरन्वितः ॥१४४॥

समास किंवा व्यास में जागरादि विभाग विशिष्ट वाङ्मन वस्तुसंघात मात्र ही आवृत्ति प्रभृति तीनों की अनुवृत्ति अथवा अन्वय है। कोई वस्तु मन पर किस प्रकार से प्रतिक्रिया करती है और वाक् में किस प्रकार से व्यक्त (Express) होती है ? प्रकारान्तर से यह संघात है शब्द (वाक्), अर्थ (वस्तु) तथा प्रत्यय (मन)। इन तीनों में पूर्वविचारित आवृत्ति, परावृत्ति एवं परिवृत्ति अन्वित है। यह भी लक्ष्य करो कि यहाँ परा को मध्य में रखकर इस 'परि' को शेष कर दिया। 'परि' अर्थात् पूरा (सर्वतोभावेन)। इस पूरा की उपलब्धि दो प्रकार से होती है, आकृति (as graph or picture) में पूरा और प्रकृति (In nature, being, Function) में पूरा। प्रथम में (आकृति में पूरा में) पूर्ण का भास है, 'प्रकृति में पूरा' में सम्पूर्ण का मान है। यह दूसरी स्थिति ही काष्ठा एवं लक्ष्य कही जाती है। जपादि साधना में केवल व्याहरण की आकृति (ग्राफ) को ठीक से अंकित करना ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत मूल सत्ताशक्तिछन्द की प्रकृति का उसमें समन्वय होना चाहिये। यही है अनुस्मरण। परावृत्ति सर्वत्र ही Commutator और Transformer का कार्य करती रहती है। एकरूप संस्था से अन्यरूप संस्था में जाना होगा क्या ? "अच्छा, मैं हूँ" यह परावृत्ति का कथन है। यह है भुवः स्थानीया। जैसे गायन में 'वाट' बदला, 'ठाठ' बदला, छन्द बदला, इत्यादि। जैसे रागयमन से यमन कल्याण में जाना परावृत्ति का उदाहरण है। ध्रुपद गायन में अस्थायी आदि एक-एक पाद में सुर तथा छन्द की आवृत्ति (अभिविधि एवं मर्यादा के साथ की वृत्ति) होती है।

यह आवृत्ति का उदाहरण है। अन्तरादि पादान्तर में गति की परावृत्ति होती है ! इन चारों पाद का पूर्ण समन्वय है परिवृत्ति।

अब विराट्, हिरण्यगर्भादि समष्टि-व्यष्टि तत्व पर दृष्टि दो।

विश्वे विराजि चावृत्तिर्हिरण्ये तैजसे परा।
प्राज्ञेश्वरप्रकोष्ठे च परिवृत्तिः प्रकल्प्यताम् ॥१४५॥

वेदान्तशास्त्र परिभाषा में व्यष्टिचेतना जागृति,स्वप्न, सुषुप्ति में यथा क्रमेण विश्व-तैजस तथा प्राज्ञ हैं। समष्टि चेतना मे वे विराट्-हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर हैं। यह यह कहा जा रहा है कि विश्व तथा विराट में आवृत्तिधर्म मुख्यता रहती है। तैजस तथा हिरण्यगर्भ में परावृत्ति की और प्राज्ञेश्वर (प्राज्ञ + ईश्वर) में परिवृत्ति की मुख्यता है। लक्ष्य करो कि विश्व-विराट में भूः, तैजस-हिरण्यगर्भ में भुवः तथा प्राज्ञ ईश्वर में स्वः, ये व्याहृतित्रय यथाक्रमेण भावव्यञ्जना में संलग्न हैं। ये तीन युग्म का, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण भूमि का निर्देश करती हैं। सूक्ष्म ही समस्त वृत्ति तथा व्यापारवत्ता की सेतुसन्धि का स्थल है। बीज (बाह्यतः) स्थूल है, अंकुर भी स्थूल है, किन्तु बीज से अंकुर कहां से-किस रूप से आया ? यह जो Transition, switch over, orientation है, यह अत्यन्त सूक्ष्म व्यापार है। अन्तः, बाह्य समस्त का विचार करो। व्यष्टि चेतना में स्वप्न (वैज्ञानिक अर्थ में) और समष्टि चेतना में महाप्राण (एवं महामानस का आधार) 'कोण' को पलटने की भूमियां हैं। अतः ये परावृत्ति लक्षण में आती हैं। स्वप्न में अव्यक्त संस्कारव्यूह सक्रिय होकर कहते है "तुम्हारी व्यावहारिक चेतना किस आकृति, शक्ति, छन्दादि की ओर मुख फिरा रही है।"

केवल Psycho-Analysis में ही नहीं, साधन भजन में भी स्वप्नविवेक अत्यावश्यक है। स्वप्न में यदि गुरु, इष्ट, नाम परिलक्षित होते हैं, तब तुम मध्यमा की मध्यम भूमि को सम्प्राप्त हो। विराट में हिरण्यगर्भ के आधार एवं अध्यक्षता के बिना प्राण तथा मानस के क्षेत्र में कोई कोण बदलना 'Turning Round a corner इत्यादि न हो जाये। जैसे गायत्री के 'धियोयोनः प्रचोदयात्" में। तत्पश्चात् हैं प्राज्ञ एवं ईश्वर, जो निखिल वृत्तियों को कारण से उदित करके कारण में ही विलीन कर देते हैं। इनसे कार्यकारण की समग्र व्यस्त आकृति समास में आकर एक साथ ही शून्य (व्यस्त सम्पर्क में) तथा पूर्ण (समास में) हो जाती है। यह समस्त व्यापार परिवृत्ति लक्षण में आता है।

जब तक सब कुछ ही व्यस्त (differentiated) है, तब तक उनकी आवृत्ति (दो निरूपित मेरु के मध्य में बारम्बार गतिस्थिति) होती रहती है। इसका कोण बदल जाने पर है परावृत्ति। यही जब समास सम्पूर्णता में आती है, तब परिवृत्ति है। यहाँ तीनों स्थल पर व्यस्त, न्यस्त, समस्त रूपी शब्दत्रय की

योजना की जा सकती है। लक्ष्य करो कि सुषुप्ति में तुम्हारी-समस्त व्यस्त चेतना की आवृत्ति परावृत्ति का संवेग शेष तो हो जाता है, किन्तु वह निःशेष नहीं होता। नहीं होता, क्योंकि तुम व्यष्टि उपाधि से मुक्त नहीं हो। व्यष्टित्व मात्र ही एक Stress and strain centre है, अतः जो न्यस्त-न्यस्त वस्तु समस्त होती है, वह समाप्त तथा निरस्त नहीं होती। जैसे किसी एक असीम 'चाप' से इतने बड़े वृक्ष के फल में छोटा सा बीज बनता है। जो व्यष्टि अथवा व्यक्ति रसाश्रय द्वारा भगवान् के लीला प्रतियोगी होते हैं, वे हैं शुद्ध-अमायिक-अप्राकृत। वही हो। किन्तु लक्ष्य करो कि सुषुप्ति की भूमि में व्यावहारिक 'व्यष्टिबन्ध' से मुक्ति देकर उसे समाधि एवं महाभाव में ले जा सकने में पारग वे ही एक ईश्वर हैं जो निखिल कार्य-कारण की परिवृत्ति अथवा समस्यमानता का समापन कर देते हैं। निःशेष भी कर देते हैं। अतः "मां शरणमन्विच्छ"। व्यष्टि को भोग-माया में रक्खो अथवा योगमाया के हाथ में सौंप दो, जो योगेश्वर हैं उनको छोड़कर और कोई परामुक्ति देने वाला भी नहीं है। पराभक्तिदायक भी अन्य कोई नहीं है।

अब देखो :—

सर्वकलासु चावृत्तिर्विन्दुमाश्रित्य या परा।
स्वयं विन्दौ च नादे च परिवृत्तिरसंशया ॥१४६॥

जपादि की सकल में जो वृत्तिमत्ता (Functioning) है, वही है आवृत्ति। धन अथवा ऋण में (अनुलोम-विलोम में) विन्दु का आश्रय (लक्ष्य) करते हुये जो वृत्ति है उसे परावृत्ति कहा गया है। स्वयं विन्दु-नाद के समानाधिकरण सामरस्य से अभिसम्पन्न होने पर है परिवृत्ति, the Dyanamic cycle is complete without any Lacunae, अन्त में यह भी लक्ष्य करो कि केवल मन्त्र-तन्त्र में ही नहीं, परन्तु यन्त्रमात्र में आवृत्यादि को तीन यथायोग्य अन्वय में प्राप्त करना ही होगा। किसी समर्थमन्त्र में Oscillator, Rotator तथा Commutator या Transformer ही मुख्य क्रियाकारक 'अंग' हैं। इन्जन के पिस्टन का जो Oscillatory Movement है वह किस प्रकार Rotator में परिवर्तित होता है? यह सब स्थूल दृष्टान्त भी—वर्तमान सूत्र की व्याप्ति में आयेगा। गणित व्यवहार में भी व्याप्ति को लक्ष्य करो।

यदि यह कहो कि अप्रासंगिक स्थूल में जपसूत्रोक्त व्याप्ति को खींचने से क्या लाभ? इसका उत्तर है कि किसी व्याप्ति को केवल व्याप्त में (As Contained) में देखने का प्रयत्न करने पर तो वह परिलक्षित नहीं होगी। व्यापार को (as Container) भी देखना चाहिये। नहीं तो किसी की भी ग्रंथि मुक्ति तो होगी ही नहीं बल्कि भूयिष्ठ आप्ति भी नहीं हो सकेगी। केवल कुशा आदि से जल को माथे पर

…छिटका, किन्तु "आपो वै नारायणः, "सर्ववेदमयी" जो आप: है ? और यह भी सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि किसी विशेष संकीर्ण कारण से किसी विषय अथवा सम्बन्ध में अप्रासंगिक अथवा अवान्तर आ रहा है अनुबन्धानुरोध के कारण, अन्यथा अखण्ड अन्तराधार में समस्त विषम सम्बन्ध मानो ऐसा हैं कि उन्हे चाहे जहाँ से क्यों न खींचों, पूरा खिचकर पास आ जाता है ! उच्च गणित की आलोचना में विशेषत: विषय सम्बन्ध सूत्र समूह में अन्योन्यापेक्षा भाव लक्ष्य करता हूँ। Compartmental, segmental, Cross-scetional treatment आवश्यक है, परन्तु वह वास्तवावगाही कदापि नहीं है।

कोण के त्रैविध्य का उपसंहार करते हुये अब तललम्बादि त्रैविध्य का प्रसंग कहा जाता है

८. तललम्बवेधाकृतिवृत्तित्वमभिव्यक्तस्य ॥

अभिव्यक्त (Manifested) मात्र में तल, लम्ब, तथा वेध रूपी तीन आकृतियों की वृत्तिमत्ता रहती है ॥

तल-लम्ब-वेध को केवल मात्र रेखा विज्ञान के पदार्थ ही नहीं मान लेना। जैसे 'अ' में तलवृत्तिता सामान्य है, 'इ' में लम्बवृत्तिता सामान्य है और 'उ' में वेध वृत्तिता सामान्य है। अर्थात् ये वृत्तिसमूह केवल अथवा मुख्यत: दैशिक नहीं है। (दैशिक = Spatial)। तवर्ग के 'त' में यह तल सामान्य विशेषाधिकरण है, यह भी लक्ष्य करो। 'अ' में अक्षरपदार्थ को निखिल वर्णो की अभिव्यक्ति के सामान्याधार (तल) रूप में दिखलाया गया। 'त' वर्ण ने उसे 'विशेष' (Reference to given plane or frame) में लिया।

ऋतंसत्यं देशकालावभिव्यक्तं चतुर्विधम्।
सर्वस्य त्रिपुटीभावस्तलादिभि: प्रसज्यते ॥१४७॥
विश्लेषणे तलादीनां धनर्णकोणतान्वयम्।
मुख्यत्वञ्चातथात्वञ्च जागरादिषु पश्यते ॥१४८॥

अभिव्यक्ति (what is manifested) मात्र को ऋतं, सत्यं, देश एवं काल रूपी मूलपर्व में कहा जाता है। पहले बहुश: व्याख्यात्, ऋतञ्च-सत्यञ्च' को पुन: याद करो। प्रथम मे ऋ' अर्थात् गति, द्वितीय में सत् अर्थात् अस्तिता का भाव है। गति = गतिच्छन्द:, अस्ति = स्थित रहना या स्थिति धर्म की भावना का केन्द्र। अवश्यमेव यह है कि 'होना' और 'रहना' इन दोनों की एक निर्व्यूढ़ (unconditional) काष्ठा भी रहती है। वह काष्ठा है दो ध्रुव। यह काष्ठाद्वय है ऋतञ्च-सत्यञ्च। काष्ठा के नीचे इनका प्रतिभू (प्रतिरूप-अनुकल्पादि) है। अभिव्यक्ति कहने पर इन सब को ही स्वीकार करना होगा। ग्रहण करना होगा। इस प्रकार की व्यापक—

(Elastic) वृत्ति द्वारा ऋतं को संक्षेप में छन्द: और सत्यं को वस्तु कहा जायेगा।

इस स्थिति में अभिव्यक्त की चतुर्विधा क्या-क्या होती है ? वह होती है वस्तु-छन्द:-देश-तथा काल। देश-काल को एक साथ करने पर यह है त्रिविध। देश काल क्या वस्तु और छन्द का वाह्य है ? इस विचार में यहाँ पड़ना व्यर्थ है। यह तत्व विभाजन करना हमारा उद्येश्य नहीं है। मुख्य प्रयोजन है प्रयोग व्यवहार का निर्वहन।

इस प्रयोजन में देश-काल को एक स्वतंत्र पर्व में ही रखना उचित है। यहाँ विचार कर देखो कि केवल देश (Space अर्थ में) का ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ काल-छन्द एवं वस्तु का भी) का त्रिपुटी भाव (Three foldedness, tri-polarity) घटित होता है तल-लम्ब तथा वेध की संहति के कारण। इस प्रकार होने का हेतु यह है कि सब कुछ के मूल में ऊँकार है और सब कुछ ही ॐ कार का ही रूप भी है। जो ऊँकार का 'अ' है, वह समस्त अभिव्यक्ति को तल सामान्य में कर देता है। 'उ' (पूर्वोक्त विश्लेषणानुसार) लम्ब-वेध को सामान्यभाव में करता है और 'म' इन तीनों की संहति (Congruence) है। तीनों = तल-लम्ब-वेध। 'म' में ही ऊँ शेष नहीं है, अत: इससे भी अतीत (Transcendental) जो है, वह भी ऊँ मे है। अर्थात् केवल Three dimensional pattern ही नहीं, उसमें Higher Dimension भी है। तभी ऊँकार = तारक अथवा तार।

प्रकारान्तरेण ब्रह्म का जो आदिम तप: (तपसोऽध्य जायत) है वह समस्त आवीरूप के लिये तल प्रदान करता है। ईक्षण देता है लम्ब। काम देता है वेध। और संकल्प से इन तीनों की संहति (कोआर्डिनेशन) होती है। सर्वतंत्र में है लम्ब वृत्ति की मुख्यता, जो सम्भाव्य (पोटैन्शियल) मात्र को वास्तव (Kinetic-actual) में ले आती है। यह तल (Plane) मात्र को उर्ध्वाध: रूपेण बदलती है। सर्व यन्त्र में तलवृत्ति (ground-frame, Plane principle) मुख्यत: रहता है और समस्त मन्त्र में है वेध एवं संहति वृत्ति मुख्यता। जो नमूना साधारण बीज में देखा जाता है कि शक्ति ने गम्भीरता से गाढ़ तथा धन होकर अभिव्यक्ति अथवा बिकास की समस्त कला को निबिड़ संहत (In Compact Colescence and Co-inheren-ce) रक्खा है।

तलवृत्ति में सब कुछ जात एवं स्थित होता है। लम्बवृत्ति में चलित, सिंचित विकीर्ण हो जाता है। वेधवृत्ति में आवृत-संचित-धनीभूत होता है। तल है सब कुछ का भू:। लम्ब है भुव: और वेध है सुव:। जप में वैखरी—मध्यमादि भूमि में तल वृत्तिता, नाद के उदय तथा कलावितान में लम्ब वृत्तिता है। विन्दुमुखीनता तथा विन्दुविलय में है वेध वृत्तिता। पुनश्च, निखिल अभिव्यक्ति में जो सेतु Transition

principle है उसकी बहिः अथवा अवर सन्धि में लम्ब मुख्यता (Kineticity); सेतु में तल (Plane principle), एवं अन्तः अथवा वर सन्धि में वेधमुख्यता (Predominance of Potentiality) है। सर्व क्षेत्र में इसे देखो। जैसे स्थूल जप मध्यमा में चल रहा है। भावना ध्यान में गभीर हो रही है। भाव तो आवेश अथवा मग्नता में है। साधन के प्रारंभ में चाहिये प्रयासवीर्य (लम्बवृत्ति) मध्य में आधार स्थैर्य (तल) और अन्त में प्रपत्ति-सम्पन्नता (वेध)।

रेखा विज्ञान के एक त्रिभुज अथवा वृत्तांकन के दृष्टान्त से लेकर अध्यात्म-विज्ञान की विभिन्न भूमियों में इस तललम्बादि को पहचान लो। कागज पर एक वृत्त का अंकन करो। कागज है तल। इसमें एक स्थिर विन्दु में कम्पास का एक भुज लम्बरूप धारण कर रहा है। दूसरी भुजा को किसी कोण में रखकर उसका आवर्त्तन किया (यह है वेध)। अब 'अहं ब्रह्मास्मि' रूपी महावाक्य, यहां ब्रह्म स्वयं तल अथवा अधिष्ठान है। 'अस्मि' हूँ—यह है लम्ब। अहं है वेध योग्य। वेध में अहं भी उपाधि से मुक्त अथवा शुद्ध हो गया। शुद्ध-निरुपाधि ब्रह्म वेधयोग्य नहीं है। 'ब्रह्म तल्लक्षमुच्यते' श्रुति ने आत्मा को शर (प्रणवो धनुः) एवं ब्रह्म को लक्ष्य कहा है। और भी यह कहा है कि "अप्रमत्तेनवेद्धव्यः" किन्तु इस वाक्य मे आत्मा तथा ब्रह्म में से कोई भी 'शुद्ध' सीमा में लक्षित नहीं है। शुद्धिसाधन अथवा शोधन का (तत्वमसि) उपाय-उपेय सम्बन्ध प्रदर्शित हो चुका है। भाग-त्याग लक्षणा में उपाधि का वेध एवं बाध घटित होता है।

यह कहा जा चुका है कि विश्लेषणी दृष्टि से तलादि को ऋण तथा धन रूपी 'मुखीनता' के अन्वय में भी लक्षित करो। मुख्य-अमुख्य ये दो हैं। जहां २ या उससे अधिक भाव एक साथ हैं, वहां यह प्रश्न तथा प्रसंग तो आता ही है कि कौन मुख है और कौन नहीं है। मन में यह निश्चय करना होगा कि एक ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी एक नहीं है। सब कुछ ही अन्योन्य सम्बन्ध से ही स्थित है। अतएव तल-लम्ब तथा वेध भी इसी अन्योन्य सम्बन्ध में हैं। केवल अकेला तल-लम्ब अथवा वेध जैसा कुछ भी नहीं है। केवल यही नहीं। किसी भूमि अथवा संस्था में जो तल है, वह अन्य में लम्ब या वेध भी हो सकता है। इस प्रकार की व्यावहारिक अदली बदली के मूल में किवा काष्ठा में उनका क्या रूप एवं भाव है, इसका भी संधान करना ही होगा। जैसे काष्ठा के संधान में तल मूलाधार है, यहां तक कि वह अधिष्ठान भी हो सकता है। मां काली के पदतल में सदाशिव हैं। मा स्वयं शक्ति की अभीद्ध एवं उर्जित पराकाष्ठा प्रदर्शित कर रही हैं। अर्थात् लम्बगा एवं वेधगा दोनों को। किन्तु यह दो होने पर भी मां कैवल्यदायिनी-हमारी हैं। उन्होंने वेध की ओर ही अधिक भार दिया है। अर्थात् लय की ओर निखिल प्रपंच को

समेटने की ओर। इस वेधगा की परिसीमा क्या है? शिव-शक्ति का समानाधिकरण-सामारस्य। इसका संकेत है वराभयमुद्रा। समानाधिकरण = Co-extention.।

मानो दो वृत्त एक दूसरे की काटाकाटी किये बिना ही मिलित हो गये। शिव-शक्ति का, तल-लम्ब-वेध वृध वृत्ति का पार्थक्य नहीं रहा। जैसे जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, भूर्भुवःस्वः। जहाँ तादात्म्य समीकरण एक ही हो जाता है! भागवत के प्रथम तीन श्लोकों में निगमकल्पतरु फल एवं 'गलितंरसं' जैसे हैं। रसवत् एवं सरस कहने से क्या होता है? फल एवं रस का जो तादात्म्य है, वह नहीं आ रहा है। फल में तो रस के अतिरिक्त भी गुठली, छिलका रेशे इत्यादि हेय अंश भी तो रहते हैं। अतः फल को ही रस हो जाना चाहिये। क्योंकि जो फल का आस्वादन करते है, वे एक साथ रसिक-भावुक (रसविशेषविवेक चतुर) हैं। वे गवांर की तरह फल के हेय अंश को भी चबाने के लिये उत्सुक नहीं है।

अच्छा! इस श्लोक के 'भुवि' (इहलोक) को यदि तल कहें, उस स्थिति में निगमकल्पतरू हुआ लम्ब। यह फल को उर्ध्वधाम में स्थापित रखता है। फल तो तरुवर का ही परमोपादेय रसघनीभाव है। अतएव बेध संज्ञान्तर्गत है। यह फल जब 'शुकमुखात्' भूतल पर पतित (गलित) होता है, तब पूर्वोक्त लम्ब की अयोगा अथवा अनुलोमा वृत्ति है। इसे कहते है 'धन'। सत्य यह है कि फल परम धन है। इसका विपरीत है ऋण। भुवि अथवा भुवन के पास ऋण भी है। इस ऋण परिशोधनार्थ ही शुक मुख के माध्यम से उसे आर्त्त धरा पर अवतीर्ण होना पड़ता है। वह धरा पर आकर कहता है:—

"तुम्हारे उधार का शोधन करने आया हूं।

प्रश्न "मेरा उधार"

उत्तर "हां! तुम तो अपने आप से वंचित हो।

तुम्हे रसिक भावुक बनाने आया हूं।

इसीलिये तो मेरी यह आकुल प्रतीक्षा है।

संसारसर्पद्रष्ट परीक्षित को देखो। भावुक की पुनः वेध व्यञ्जना। Poignant intensity of aesthetic enjoyment.

क्या केवल श्रीमती के ऋण शोधनार्थ ही गौरसुन्दर आये थे? क्या हमारे भी ऋण के शोधनार्थ 'नाम' लेकर नहीं आये? यह जो ऋण की चर्चा चल रही है; वह कृष्ण नाम के मध्य में ही है। मध्य में 'ष'। दोनो ओर ऋ तथा ण। मध्य में यह 'ष' रूपी परम कहता है "यह ऋण मैंने मूर्द्धा पर धारण किया है। जो मुझे चाहता है, उसका ऋण। Lovers eternal pledge to that lover and beloved.

अब पुनः अरसिक अभावुक के 'प्लेन' में उतरते हुये देखो कि 'धन' तथा 'ऋण' इन दोनों को नीरस वैज्ञानिक आधार में में कैसे ग्रहण किया जाता है। ये दो शब्द बहुधा प्रचलित एवं वर्णरसायन में भी विश्लेषित हैं। अनुलोम विलोमादि रूप से भी इन्हें देखा जा चुका है। विन्दु तथा नाद स्वरूपतः कोई दिङ्मान नहीं है। कलाकलन के निमित्त दिङ्मान (Sense or direction) को अंगीकार कर लेने पर तब आती है धन-ऋण की प्रसज्यता !

जाग्रत आदि अवस्था के परीक्षण में यह देखो कि वाक् चित्तादि की कलायें जाग्रत में आकलित होकर संकलन में जाना चाहती हैं। वे सब Presented होती हैं। वे सब unified aud appriciated होने को चलती हैं, अथच सम्यक् नहीं हो पातीं। जाग्रत में अनुभव (Feeling) तलवृत्ति में रहता है, संकल्पी मन रहता है लम्बवृत्तिता में और अध्यवसाय या बुद्धि रहती है वेधवृत्तिता में (The end and Meaning factor.

स्वप्न के समय ? अनुभव तब भी तलरूप में रहता है, किन्तु मन का दिङ्मान परिवर्त्तित हो जाता है। मन का मनन तथा संकल्प का गौणत्व और चित्त (अव्यक्त संस्कार) वृत्तिसमूह (Subconscious mind) का मुख्यत्व हो जाता है। मन की बहिस्तलापेक्षवृत्तिता के स्थान पर अब मुख्यतः हो जाती है अन्तस्तलापेक्षवृत्तिता।

इसे कहा जाता है विकलन। 'वि' को केवल व्याज अर्थ में ही नहीं लेना चाहिये। इसका अर्थ 'विशिष्ट' यहाँ तक कि अभीष्ट भी हो सकता है। जैसे स्वप्न जाग्रत आदि में। और बुद्धि अथवा वेधवृत्ति ? यह अहं अथवा व्यष्टिसम्बन्धाबद्ध (Bound to Egocentrie factor or conditions) जैसी नहीं रहती। यह महद्-बुद्धि के अधिकार में चली जाती है। A greater, Immenser Reason shapes, controls and guides. इसीलिये स्वप्नविवेकार्थं स्वप्नविज्ञान का आधार लेना अत्यावश्यक हो जाता हे। जैसे पशुपक्षी कीटादि के चित्त को हम सामान्य ही मानते हैं, किन्तु उपयुक्त विज्ञान द्वारा उसे जाना जा सकता है। सुषुप्ति के अनुभव का भी तल होता है क्योंकि अनुभव ही साक्षादपरोक्ष रूप ब्रह्म है। ब्रह्म को Reject नहीं किया जा सकता। जिसे Cancel,Reject किया जा सकता है, वह ब्रह्म नहीं है। अच्छा तब लम्ब एवं वेध का क्या होता है ? उस स्थिति में दोनों ही तल को प्राप्त कर लेते हैं। लम्ब=मन। वेध=बुद्धि। तब तुम भी तल को प्राप्त कर लेते हो। इसके परिणाम स्वरूप एक अव्यक्त सुखानुकृति ही अवशिष्ट रह जाती है। इसे कहते हैं अकलन। यह निष्कलन तथा नैष्कल्य से अलग है।

अकलन में कलासमूह के कौणिक सम्बन्ध एवं अनुपात आदि द्वारा सूक्ष्म रूप से एक ऐसे ही मेरु की प्राप्ति होती है। (मेरु=cutical point)। यहाँ कला की

Kineticity (लम्बवृत्ति) कहती है "अब मैं बीज अथवा कारणरूपता में (as potency) स्वयं को जड़ित करूँगा। क्रिया तथा कारण के मध्य जो लम्बवृत्ति Interval इत्यादि है, उसे अब नहीं रक्खूँगा।" जब बीज अंकुरित होने के समान हो जाता है, तब यह लम्ब The Infinitesimal, steppingout of Interval attitude and attribute. प्रतीत होने लगता है।

तल तथा वेध मिलकर एक होना चाहते हैं। इन दोनों के मध्य की दूरी का कारण है लम्ब। वह दूरी अलगाव बनाये रखता है कला के आकलन-संकलन तथा विकलन के लिये। जैसे द्यौ: एवं पृथ्वी के मध्य है अन्तरीक्ष। जैसे प्रयास एवं प्रपूर्त्ति के मध्य में साधन है। कुछ देखा, कुछ सुना। कुछ पाया। यह है तल। वेध कहता है "इसके पुरा 'मान' में Significance 'तत्व' क्या है ?" लम्ब उत्तर देता है "मैं जावता हूँ, फिर भी होगा क्रमश:"। तल देता है perception, लम्ब देता है Process of understanding. वेध = understanding Itself. गीतोक्त "ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं" का प्रणिधान करो। द्रष्टुं अर्थात् Process or way of seeing.

वाच्यं वा वाचकं वापि यदभिव्यक्तिमृच्छति।
पादमात्रात्मकत्वेन तस्य तलादिसंस्थितिः ॥१४९॥

वाच्यरूपेण अथवा वाचकरूपेण यतकिंचित् जो अभिव्यक्ति होती है (ऋच्छति) वह पाद तथा मात्रारूप (Plane and measure) धर्मद्वय प्राप्त करती है। अतः इसके साथ तललम्बवृत्तिता है। इस सम्बन्ध में तीन जिज्ञासायें होती है :—

(१) कहाँ तक, किस सीमा तक ?
(२) कितना, किस ओर किस प्रकार ?
(३) क्यों अथवा किस लक्ष्य में ?

अर्थात् प्रत्येक वाच्य-वाचक के (स्थिति) आधार, उदय (गति, काष्ठा-परिणति) लय को जानना ही होगा। ऐसा ही जपक्रिया में भी। जप में साधारणतः यही क्रम है कलाकलित जप, उसकी वेध वृत्ति से Intensification नाद होता है। जैसे नाद की वेधवृत्ति से एक ओर विन्दु है, उसी प्रकार ज्योतिः है। ज्योतिः की वेध वृत्ति में है रस एवं अणुमानस आदि।

९. त्रयस्त्वं बाहुल्येऽपि पादमात्रयोः ॥

यद्यपि निखिल अभिव्यक्ति में पादमात्रा का बाहुल्य परिदृष्ट होता है, तथापि (जैसे पूर्वोक्त मननानुरोध से) पादमात्रा को त्रय भाव में देखना पड़ता है॥

पादमात्रानुसंख्यानां बाहुल्यं यद्यपि स्थितम्।
तथाप्योङ्कारमात्राभिस्त्रिधा निरूप्यमाणता ॥१५०॥

ऊँकार की तीन मात्रा (जो माण्डूक्यादि श्रुति प्रसिद्ध है) के द्वारा पाद एवं मात्रा भी निखिल अभिव्यक्त में त्रय रूपेण निरुपण योग्य हो जाती हैं। "त्रिपादस्यामृतंदिवि" वेद के इस प्रसिद्ध सूत्र को स्मरण करो। 'अमृतं दिवि' वस्तु को यदि ऊँकार कहें, तब क्या वह तत्वभावना संलग्ना होगी अथवा नहीं यह विचार करो। जो यह वाच्यवाचकात्मक विश्वभूतजात है, वह है इसी अक्षरामृत पुरुष का एक पाद और यह है क्षरण मरणधर्मी। उसका अमृताक्षर पाद ऊँकार के मात्रात्रय के अन्वय में त्रिपात् है। यह त्रिपात् 'दिवि' (द्यौः सूत्रादि का स्मरण करो) स्थित होकर भी 'भुवि' रूप से हमारे प्रतीति के लोक में अपने प्रशासन की रक्षा करती है। इस विश्व में जो अतिग' है, वह इस विश्व में अनुग हुआ है 'The transcedent Implicating itself as Immanent in the univrse of Experience द्युलोक के उर्ध्वधाम की प्रशासन वाणी इस मृत्युलोक के प्रति "तुम सब 'तीन-तीन' होकर 'संगच्छध्वं' 'संवदध्वं' संहति संवाद में मिलित हो जाओ। केवल एकल अथवा केवल होकर नहीं, प्रत्युत् युग्म एवं द्वन्द्वभाक् होकर ! अतः युगलानुगत यूथ हो जाओ।" इस अन्तिम युगलानुगत को तीन होना चाहिये। यह केवल भावरसिक की बात नहीं है। जड़, प्राण-मन, जहाँ कहीं भी यह यूथान्वय है, वहाँ यही तथ्य है।

तल कहता है—"हमें लम्ब दो, वेध (लक्ष्य) दो, नहीं तो मैं अतल में चला जाऊँगा।"

लम्ब कहता है—"मुझे तल तथा वेध दो, नहीं तो मैं निराधार-निरालम्ब रहूँगा"। (तल = आधार + वेध = आलम्ब)।

वाक् कहती है—"हमें अर्थ अथवा भाव दो।"

अर्थ कहता है—"हमें अन्वय एवं प्रत्यय (लम्ब) दो।"

उदितनाद भी स्वयं को आधाररूप बनाकर कहता है—"तुम कौन हो ? तुम इसी आधार में क्रीड़ा करो कर्लोमि।"

कर्लोमि = लम्बवृत्ति। यह पहले कहा जा चुका है कि विन्दु है वेधकाष्ठा।

अब यह भी स्मरण रक्खो कि "सहस्त्रपात् पुरुषः"। पुरुष का पाद (एवं मात्रा) सहस्त्र अथवा असंख्य है। असंख्येय को किसी संस्थान में ले जाने पर उससे असंख्यान कहता है "मैं किसी संख्यान को उधार नहीं लूँगा"। प्रसंख्यान का कथन है "मैं पूर्वसंख्यान हूँ, मैं तुम्हारे व्यवहार के लिये 'खटूँगा' नहीं" अतः न खटने से तो कारोबार होगा नहीं। अतएव असंख्यान-प्रसंख्यान की आत्मबलि है परिसंख्यान प्रतिसंख्यान, उपसंख्यान आदि।

परिसंख्यान = Converging or governing formula

प्रतिसंख्यान = Homologous or 'similar' formula

उपसंख्यान = formula of approximation

अब देखो ! सहस्त्रपात् कहने से एक ही साथ असंख्यान तथा प्रसंख्यान विवक्षित होता है। पूर्वोक्त 'अत्यतिष्ठत्' पद में असंख्यान के विषय में व्यञ्जना भी है।

प्रसंख्यान के प्रशासन में संख्यान का जो त्रैविध्य प्रदर्शित हुआ, वह त्रैविध्य भी ॐ के अनुशासन में है। साधारणत: अ उ म प्रणव की मात्रा त्रय है। यह प्रकारान्तर से पादत्रय है। पादमात्रा के समाहार से यह तीन हो जाती है नाद-कला-विन्दु अथवा कला-नाद-विन्दु। (यदि कला के उदय के पहले ही नाद आधाररूपेण उदित हो जाता है तब नादकलाविन्दु, अन्यथा कला के विलय से नाद एवं नाद विलय से विन्दु की स्थिति अत: कलानादविन्दु ! यहाँ यह लक्ष्य करो कि कला में प्रसंख्यानरूपी जो परावाक् (अव्यया) है, उसका उपसंख्यान मात्र होता है। उदित एवं व्यक्त नाद में प्रतिसंख्यान। कला के साथ नाद की विन्दुलीनता से परिसंख्यान। अर्थात् यहाँ पर आकर सर्व वाच्यवाचक की "धू:" रूपा मध्यमा के मर्म केन्द्र का संस्पर्श प्राप्त हुआ। फलत: पराव्यक्त एवं परम् के द्वारा ही अपावरण की सम्भावना घटित हो जाती है। अब वाक्-मन एवं प्राण अपने 'आलय' में लौट आते हैं। यदि ॐ की अ उ म रूपी मात्रा को लें तब अ = अनुसंख्यान (अनुक्रम), ॐ = उपसंख्यान (उपक्रम), म = समुपसंख्यान (संक्रम—संक्रमण) कहा जा सकता है। इस स्थिति में और भी दो प्रकार के संख्यान कहे जा सकते हैं Converging formula and Connecting or Communing formula, सब मिलाकर पाँच। यदि असंख्यान प्रसंख्यान को मिलायें तब सात।

पाद-मात्रा विश्लेषण में विभक्त होने पर भी शिव-शक्ति आविनाभावेन स्थित रहती है। पुनश्च, काली रूप का ध्यान करो। पाद = शिवाद्वैताधिष्ठान। मात्रा = माता या मा स्वयं। कला (कलितादि अर्थ में) एवं काष्ठा, ये दो अनुष्वंङ्ग में (By Logical Implication) में आते हैं। कैसे ? कहाँ तक ? काष्ठा तक ? यदि कला एवं काष्ठा को जड़ित करके कहो अयन (परायण), तब पाद मात्रा ये दो + अयन = ३। कला कहने पर पूर्व सूत्रित अमा एवं समा रूपी काष्ठाद्वय प्रसज्यमान होती है। अर्थात् यह प्रश्न है कि कला किस काष्ठा की ओर अभिमुख होकर चल रही है। ॐकार आदि जप में इन दोनों अयनों को जानना एवं प्राप्त करना होगा : (पूर्वालोचित उत्तर-दक्षिण अयन का स्मरण करो)। यदि ॐ का 'अ' पाद है, 'उ' मात्रा है, तब 'म' है इन दोनों अयन (उत्तर-दक्षिण) की सेतु सन्धि।

जैसे उदित ॐकार में 'म' की वृत्ति एक प्रकार की है (समाभिमुखीना); और विलय में है अन्य प्रकार की (अमाभिमुखीना)। इस सेतु की भी वर-अवर

रूपी दो सन्धियाँ हैं। उदय के समय 'म' की अवरसन्धि से तनु रूप से नाद आवि-
र्भूत होकर रस सन्धि में उररूप उद्गाय को उद्गान रूप से प्राप्त करता है। इस
उद्गान रूपता की काष्ठा है नादमेरु। तदनन्तर व्याहरण—अनुस्मरण की आवृत्ति-
परिवृत्ति के समापनार्थ अयन का मुख घूम जाता है अमाभिमुखीनता में। इस 'घूम
जाने' में भी सेतु सन्धि (अवर-वर की स्थित रहती है। काष्ठा = विन्दुमेरु। इन
अयनद्वय का समञ्जस-समाहार ही है ॐ आदि का पुनर्जप। भाव के दृष्टिकोण से
नादमेरु में ज्योतिर्विशाल रूप है और विन्दुमेरु में है निबिड़रसघन रूप। यहाँ ज्योति
रस का तादात्म्य सम्बन्ध में सामानाधिकरण्य है। यह है भक्त का भाव। इसमें
'पारीण' होने पर है परमज्योति रसभिन्न सुदुर्लभ 'महाभाव'।

अब मूर्त्त-अमूर्त्त का प्रसंग :—

मूर्त्तानाँ देशकालाभ्यां चतुर्मानतया स्थितिः।
अमूर्त्ताना त्रिवृत्तत्वं पूरकाधारलिङ्गकैः।
मानानां लाघवन्मूर्त्तममूर्त्तं गौरवान्मतम् ॥१५१॥

मूर्त्त कहने से क्या विदित होता है? पूर्वोक्त पाद-मात्रा-अयन निखिल वस्तु
जात के त्रैविध्य को व्यवस्थापित कर रहे हैं, यह ज्ञात होता है। अन्तर्बहि सर्वत्र।
यहाँ यदि इन पादादि तीन मान के साथ देश-काल रूपी चतुर्थ मान योजित होता
है, उस स्थिति में पदार्थ की जो रूप एवं आकृति उपस्थित होती है, उसे मूर्त्त कहते
हैं। अर्थात् जो पाद-मात्रा-अयन सर्वव्यापी हैं, वे देश-काल (Space-Time) रूपी
अन्य एक पाद को अंगीकृत करके चतुष्पात् होते हुये मूर्त्त हो जाते हैं। अतः भग-
वत्ता जब देश-काल आदि को अंगीकृत करके विग्रहवती हो जाती है, तब वह है
भगवन् मूर्त्ति। उसका अवतरण है मूर्त्त। किन्तु इस मूर्त्ति अथवा मूर्त्त में सामान्य
विशेष भी है। क्योंकि भगवत्ता की स्वाभाविकी ज्ञान-बल तथा क्रिया की स्थिति
इस मूर्त्ति में भी कुण्ठित नहीं होती। यह 'कीला' हेतु मूर्त्तता नहीं है, परन्तु
लीला निमित्त है। मूर्त्त का जो लक्षण है, वह मुख्यतः जड़ीय अथा प्राकृत
(Physical and Natural plane) स्थिति में आबद्ध नहीं है। स्थूल पर्व
के अतिरिक्त सूक्ष्म-कारण पर्वद्वय की अवधि एवं व्याप्ति उसमें रहती है। जिस
भूमि में देश-काल (Extension and Duration) समाप्त हो जाते हैं, उस बौद्ध
अथवा बुद्धि प्रत्ययैकसार (Pure Logical) भूमि को प्राप्त करके वे अमूर्त्त हो
जाते है। अतः मन के भाव, ध्यान, कल्पना आदि भी देश-काल सम्बन्ध से अवि-
च्छिन्न होकर 'मूर्त्त' संज्ञा को प्राप्त होते हैं। यह भी सत्य है कि ऐसे पदार्थ हैं अथवा
रह सकते हैं, जो दोनों मूर्त्त-अमूर्त्त से तटस्थ हैं अथवा मूर्त्तामूर्त्त हैं। विन्दु बिलय
में नाद अमूर्त्त है। विन्दु है अमूर्त्त मूला। इसे Alogical तथा logical की सन्धि
भी कहा जा सकता है।

इसी अमूर्त में (विन्दु तत्व के मूल आधार एवं संश्रय में जो स्थित है एवं पादमात्रा में जो नादरूपेण प्रवर्तित होता है) ही "त्रिवृत्तत्व" प्रदर्शित होता है। अर्थात् त्रिवृत्तत्व = आधार (Base), पूरक (Coefficient), तथा लिंगक (Index)। वर्तमान सूत्र में अमूर्त का तात्पर्य मात्र निरंजन, निर्विशेष ही नहीं है। the formless and attributeless Absobute. दिग्देश (Perceptual or Conceptual), काल तथा उक्त त्रितय द्वारा अवच्छिन्न (Conditioned) जो सम्बन्ध (Relation) है, जो व्यवहार उक्त चतुः द्वारा सीमित (लिमिटेड) एवं बाध्य (डिटरमिन्ड) नहीं है, वही अमूर्त। यद्यपि इष्टविग्रह तथा अवतार आदि को मूर्त संज्ञा में परिगणित किया जाता है, फिर भी यह स्मरण रखना होगा कि लोक व्यवहार तथा प्रत्यय में 'भास' होने पर भी ये सब समग्र भान में अमूर्त पर्व में ही आते हैं। भान रूपेण सृष्टि की एक भी रेणु मूर्त मात्र नहीं है। विज्ञान ने अणुतम के अन्वेषण में पूर्णभान के अपिधान को क्रमशः उन्मोचित भी किया है, तथापि साधारण मूर्त पदार्थ के साथ विग्रहावतारादि मूर्त का विपुल विशेष (Immense difference) है, जैसे विज्ञान व्यवहार में एक साधारण रेणु और एक Radio Active रेणु में Immence Difference.

विग्रह-अवतार-नाम-मन्त्रादि के समय जो सीमितता एवं बन्धबाह्यता है, वह है स्वतस्त्वेन। वह परतस्वेन नहीं है। लीला निमित्त है, कीला निमित्त कदापि नहीं हैं। अर्थात् अमूर्त की सत्ताशक्ति कारण विशेष के अनुरोध से मानो स्वयं को मूर्त करके लोक व्यवहार में आती है। यह है स्वतस्त्व एवं लीलानिमित्तार्थ। इसमें अमूर्त के महत्व-अव्ययत्व तथा पूर्णत्व का प्रतिषेध नहीं होता। साधारण मूर्तपर्व में यह प्रतिषेध (निगेशन) व्यवहारतः घटित होता रहता है। विग्रह-मन्त्र नाम आदि में भगवत्तादि 'आरोपित' नहीं है। वह स्वयं अधिकृत हैं। यद्यपि भूतभौतिक व्यवहारार्थ वह सीमित गुण्ठितादिवत् हो जाता है। जो त्रिविक्रम उरुक्रम हैं, वे बलि के यज्ञस्थल में वामन होकर आते हैं!

यह कहा जा चुका है कि अमूर्त त्रिपात् है और मूर्त है चतुष्पात्। मूर्त को विश्लेषण के द्वारा समझने के लिये कम से कम चार अवस्थाननिरूपक अथवा Coordinates की आवश्यकता होती है। अमूर्त में मात्र तीन की आवश्यकता रहती है। इन तीनों का नाम है आधार, पूरक, लिंगक। यहाँ आधार को स्थापक भी कहा जा सकता है।

१. वह किस सत्ता के स्वरूप में स्थापित रहेगा?

२. किन गुण-धर्मादि के द्वारा वह पूरित होगा?

३. किस लिंग अथवा लक्षणादि के द्वारा विशेषित होगा? लक्षित होगा?

प्रथम में यह है वस्तु की सत्ता (Substratum of beingness है), द्वितीय में यह है सत्तानिष्ठ एवं सत्ताभिन्न शक्ति (Power of being becoming) तृतीय में इस सत्ताशक्ति का सम्बन्ध-छन्द: तथा आकृति है। जैसे परब्रह्म की आद्याकलनी या कला। विन्दु तथा नाद के रूप में यही आद्यकला—पारस्परिक रूप से आधार एवं पूरक है। यह कलित कला रूप से लिंगक है। जैसे ऊँकार, वैखरीरूप से जो मूत्त नहीं है। नित्यस्फोटरूप ऊँकार का'अ' आधार है, 'उ' पूरक है और 'म' लिंगक है। अर्थात् 'म' में आकर ही 'ऊँ' उदय-विलय भेद और सेतु सन्धिनी वृत्ति (अथवा तदन्यथा के लिंग का) का परिचय मिलता है।

जैसे भगवत्ता। उसमें सच्चिदानन्द रूपत्व = आधार, सर्वव्यापित्वादि शक्ति = पूरक, निखिल ऐश्वर्यादि अनुभाव विस्तार = लिंगक। भगवत्ता का वाह्य किसी भी धारा से पूरण नहीं होता। वह नित्यपूर्ण ही है। अत: स्वयं पूरक है। उससे न्यून जो अमूर्त्त है, उसमें वाह्यापेक्षा रहती है। अत: वह पूरक रहता है = Coefficient। परन्तु भगवत्ता है Selfefficient.

साधारणत: गणितविज्ञानादि व्यवहार में भी Base, coefficient तथा Index को यथा योग्य प्राप्त करो। जैसे ऐसा वृत्तत्व (Idea of a circle) जो किसी विशेष देशकाल सम्बन्ध में नहीं है, जिसका अंकन नहीं हुआ है। जिस सामान्य सूत्राधार में (जैसे General Equation of the Second degree) जो वृत्तसजातीय लेख प्रभृति स्थापित है, उसे वृत्तमान सम्बन्ध में आधार कहते हैं। वृत्त का निजस्व सूत्र (Equation of a circle) है पूरक। वृत्तमात्रा का जो धर्म तथा गुणाबलि Properties है, वह हुआ लिंगक। यह समस्त ढ़ाचा ही Conceptual तथा Logical है। यदि जप मात्र में नाद को आधार कहें, उस स्थिति में विन्दु है स्वयं पूरक। यहाँ उदित-अनुदित कला समूह है लिंगक। यदि ज्योति तथा प्रकाश को आधार कहा जाये (रस को भी आधार कहा जा सकता है), तब रस है उसका सम्पूरक। सात्विकादि हैं उसके लिंगक। इस प्रकार विभिन्न प्रकार से विचार करो।

अब एक काम करो ! पूरक (धर्म-गुणादि) को करो शून्य। गणित व्यवहार में सब शून्य हो जाता है। यदि आधार सद्रूप (अस्तिता) है, तब उसको अन्यथात्व नहीं होगा। प्रपंचोपशम शुद्ध अधिष्ठान मात्र हो जाते हैं आधार। साथ ही लिंगक भी शून्य हो जाता है। फल होता है चरम। इसे कोई परम भी कहते हैं। अब यदि पूरक को शून्य न करके लिङ्ग को शून्य करे, अर्थात् यदि यह कहा जाये कि इस बार तो लिंग अथवा परिचय भी नहीं है, जिसके द्वारा उसे किसी इतर सम्बन्ध में लाया जा सके, तब इस गणित व्यवहार दृष्टान्त से प्राप्त होता है 'एकान्त' अमूर्त्त, 'एकमेंव'। केवलाद्वैत। Index को Zero कर देने पर संख्या होती है एक।

'एकोऽहं बहुस्याम्' । इस प्रकार से अलिंग की लिंगतापत्ति हो जाती है । संख्या आदि की परिभाषा में यदि प्रधान (अलिंग) को आधार कहें, तब गुण की क्षोभमानता होने पर उस सम्बन्ध में वह पूरक हो गया । एवं महदादि तत्व का उदय-विलय = लिंगक

मूर्त्तामूर्त्त प्रसंग में इन सब पाद अथवा पद्यमानता को समक्ष रक्खा गया है । इस बार मान के दृष्टिकोणानुसार भेद को देखो । मान के सम्बन्ध में कारिका में लाघव तथा गौरव शब्दद्वय प्रयुक्त हैं । यहाँ उनका मान ?

अमूर्त्त की अपेक्षा मूर्त्त में व्यावहारिक आपेक्षिक दृष्टिकोणानुसार पादगौरव (चतुष्पात् में) परिलक्षित होता है, परन्तु स्मरण रक्खो कि यह दृष्टि सीमित व्यवहार सापेक्ष है । समग्र एवं तत्व दृष्टिकोणानुसार, भानाधिकरण के अनुसार भी अमूर्त्त में ही पादगौरव है । जैसे 'सहस्त्रपात् सहस्त्रशीर्षा (of Infinite dimension) पुरुष अमूर्त्त होने पर भी द्विपात्, त्रिपात्, चतुष्पात् इत्यादि रूप से हमारे व्यवहार में अवतरण करते हैं । अमूर्त्त कूर्मभगवान के मात्र कतिपय पाद ही व्यवहार्य व्यक्तता में आ पाते हैं । सम्भाव्यतारूप से जो अनन्त है, सम्भूतरूपेण वही सान्त परिमित हुआ । Limitation of Infinite possibility to restricted realms of cognisable actuality. जैसे पूर्ण शून्यैक बिन्दु ही उदय-विलय नाद तथा कला में आ जाता है ।

पाद के अवसर पर मूर्त्तामूर्त्त के इस सम्बन्ध में वैपरीत्याभास (apparent inverse relation) दृष्ट होने पर भी मान में यथातथ भाव सम्यक्रूपेण ही रहता है । अर्थात् मानदृष्टि में मूर्त्त की अपेक्षा अमूर्त्त में मानगौरव आभासिक न होकर यथार्थ है । मान अर्थात् सत्तामान, शक्तिमान, छन्दोमान, आकृतिमान । इन चारों में ही अमूर्त्त का गौरव मूर्त्त की तुलना में अधिक ही रहता है । अमूर्त्त में मर्यादा-अभिविधि का आतिशय्य है । मूर्त्त में है इसका संकोच ।

गुरु, इष्टमूर्त्ति, नाम आदि में अमूर्त्त का मूर्त्ति रूप से जो संकोच है, वह है स्वानुभावाविभावादि के विशेष-विशेष कारण से ही । गणित व्यवहार, विज्ञान व्यवहार आदि में इनका अनुकल्पन (sketching according to the same model) है, यह लक्ष्य करो । जैसे वर्त्तमान विज्ञान में जो Mathematical and stastical universe है, वह Logical होने पर भी Picturable अथवा Imaginable रूप से Conceptul नहीं है । विश्व का मानगौरव वर्द्धित हो रहा है, किन्तु साथ ही साथ मूर्त्तिलाघव भी होता जा रहा है । विगत शती में एटम को "इतना सा ऐसा" करके पहचाना गया था । वर्त्तमान में इलेक्ट्रान आदि को गुणमान में जितना ही पहचानते जा रहे हैं, रूपादि की प्रतिमा तथा उपमा को उसी परिमाण में खोते जा रहे हैं ।

विराट के अवसर पर भी ऐसा ही हो रहा है, जैसा अणु के अवसर पर। इसी को समझने के लिये यह सूत्र है :—

१०. सम्भाव्यवृत्तितया सर्वस्य ॥

सम्भाव्य रूप से वृत्ति रहना या होना, इस धर्म की व्याप्ति सब कुछ में है ॥

"होने पर हो सकता है", 'हो रहा है', तथा 'हुआ' इन तीनों भावों को अलग-अलग समझना होगा। पहला है सम्भाव्य (Possible and probable), उसी व्याहृति की परिभाषा के अनुसार यथाक्रमेण स्वः, भुवः एवं भूः।

सर्ग के समस्त मूल से स्वः कहता है :—"तुम हो सकते हो, फिर भी तुम उदार हो"।

भुवः कहता है "बस, तब आओ, हम तुम मिलकर एक गतिलेख अंकित करें।"

भूः कहता है "इस प्रकार। यह तुम हो गये।"

इन तीनों के परामर्श से यह हुआ कि सर्ग का सब कुछ 'इस प्रकार से' घटित हो जाने पर भी उसके मूल में जो स्वाधिकार एवं स्वैरभाव (freedom to choose) था, वह खो नहीं गया। वह यथावत् है। स्थूल दृष्टि से एवं "गढ़पढ़ता" के अनुसार वह तो "इतना" सा होकर केवल बद्ध ही हुआ है। जो स्वः छन्द की उर्मिश्रेणी है उसके मध्य में इस "भुवः" को माध्यम Medium बनाकर उर्मि• गुच्छ (wave Packat) करना होगा। और वह भी व्यवहार संकोच में हो जाता है रेणु (Electron) इत्यादि।

यह सम्भाव्यता की उर्मि जो पहले स्व छन्द में एवं उदार थी, उसे भुवः से कंचुक प्राप्त हुआ और वह Condensed (घनीभूत) आदि आकार में क्षोभप्राप्त Stressed and strained हो गयी। फलस्वरूप गुच्छ, संघात, रेणु का रूप परि-लक्षित होने लगता है। 'स्व' के मुक्त उदार अधिकार से काट कर देखने पर (अलग करके देखनें पर) वह है भूत किंवा सम्भूत। (इस द्वितीय में पहले के स्वर्भाव अथवा स्वर्धाम की ओर मुख-द्वार तब भी खुला रहता है)। भूति-सम्भूति में 'इ' के योग से स्वर्धाम की मुक्त उदार सत्ताशक्ति छन्द में अन्वित होती है। भूत तथा भौतिक में मानों स्विच (Switch) को आफ करना। Swich को on (चालू) करने के लिये मूल (स्वः की ओर) की ओर लौटना होता है। अर्थात् भूति-सम्भूति की आकृति एवं छन्द में आना होगा।

विस्तार में विवेचना नहीं हुई, फिर भी इस सूत्र के प्रकाश में विज्ञान के Probability Function, statistical universe प्रभृति का मूल देख लो।

सम्भाव्यवृत्तितानन्ता परमामूर्त्तवस्तुनि ।
सम्भूयमान भूतत्वमानन्त्यस्य विकुञ्चनात् ॥१५२॥
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तमेव च ।
अमूर्त्तस्य हि नादस्य बिन्दुना मूलमूर्त्तता ॥१५३॥

पश्चात् वाले श्लोक की विवेचना पहले । श्रुति ने ब्रह्म के मूर्त्त तथा अमूर्त्त दोनों रूपों की कथा कही है । पूर्वसूत्रालोचना में मूर्त्त एवं अमूर्त्त को जैसे लक्षित किया गया है, उसमें दोनों की एक-एक क्रमोन्नता धारा अथवा श्रेणी (ascending Seriality) रहती है, यह सहज में अनुमेय है । इस प्रकार से होने से ही काष्ठा प्रसंग आता है, जैसे परममूर्त्त तथा परम अमूर्त्त । जो शुद्ध एवं निरंजन चिन्मात्र अधिष्ठान है, वह परम अमूर्त्त है । नाद को परम पर्याय में ले आकर उसे नाद कहा जाता है । 'कला' शब्द को निखिल कलनीशक्ति तथा निखिल कलित भावद्वय में ग्रहण करने पर भगवत्ता अथवा महामाया परमाकलारूपेण परममूर्त्त है । और विन्दु ? इसे कहते हैं मूलमूर्त्त (Primordial In farming of the Formless) । अर्थात् विन्दु रूप विश्वबीज से ही निखिल मूर्त्त तथा अमूर्त्त का उपगम तथा अपगम होता है । विन्दु परम मूर्त्त तथा अमूर्त्त की सन्धि मे है अतः उसे परममूर्त्तामूर्त्त भी कहा जा सकता है । अमूर्त्त (चरम में, Alogical), मूर्त्त (चरम में, Perfect Logical), इन दोनों का चिन्तन भावना में करते रहो ।

अब प्रथम श्लोक (१५२) की विवेचना :—

परम है अमूर्त्त अधिष्ठान । किन्तु उस अधिष्ठान को 'वस्तु' रूप होने के लिये इस परमामूर्त्तमूर्त्त विन्दु के माध्यम से (By the absolule and Inscrutable Link Principle) परममूर्त्त के साथ एक अनित्य, अनिर्वचनीय साहित्य में आना पड़ेगा । क्या नहीं ? इसे अचिन्त्य शक्ति, अनिर्वचनीया माया इत्यादि चाहे जो नाम दो । अर्थात् परमामूर्त्त तथा परममूर्त्त में एक असन्ध्येय संधि है । भगवत्ता तथा महामाया की यह सन्धि स्वतः संसिद्ध है । विग्रह में है अखण्डवस्तुपक्षैक पक्षपात । अधिष्ठान ही है, वस्तु नहीं है । अथवा वस्तु है, परन्तु अधिष्ठान नहीं है । इन दोनों पक्ष को महामाया इत्यादि सूत्र में बहुधा विवेचित किया जा चुका है । शुद्ध अधिष्ठान तो शुद्ध अस्तिता भातिता रूप से है ही, एवं वह है शुद्ध ज्ञानाभिन्न । इसका कोई अपवाद (gainsaying) नहीं है । पक्षान्तर से परमवस्तु परम-अमूर्त्त, परममूर्त्त एवं परममूर्त्तामूर्त्त इन तीन के अन्वय में सामान्याधिकरण में है । इसमें भी अपवाद नहीं है । सम्यक् रूप से रहने और न रहने के एक-एक लक्षण की परिभाषा करके तब 'अपवाद' अधिष्ठान में अथवा वस्तु में उसका प्रयोग करना पड़ता है । किन्तु तत्व तो "अलक्षणमप्रमेयम्" है । इस प्रसंग में शुद्ध अधिष्ठान एवं तदधि-

ष्ठित वस्तु शक्ति अथवा सत्ताशक्ति के सम्बन्ध में माँ कालिकाषोडशी के श्लोक 'सा काली निरुपाधिशुद्धनिलये शान्ते नरी नृत्यते' का पुनः ध्यान करो।

इस प्रकार से (यहाँ संक्षेप में) तत्व भूमिका के द्वारा यदि कहा जाये कि परम अमूर्त्त वस्तु में अनन्त सम्भाव्य वृत्तिता (Infinite Potency of Being and Becoming) है, तब क्या यह असंगत, असंलग्न है ? प्रकृत रूप से इस असीम सृष्टि विकास में कहीं एक अनन्त अव्यय अपरिमेय सम्भाव्यतामान रहना आवश्यक है। इसे ही गीता में "निधानं बीजमव्ययम्" कहा गया है। यदि इस परम सम्भाव्यता मान में सम्भूयमान तथा संभूतिमान अनुदित रहता है, तब यह है विन्दु। इसके साथ यदि सम्भूय युक्त है, तब यह है नाद (जो कि बाद में मूर्त्तामूर्त्त है)। और जब सम्भूयमान युक्त हो जाता है, तब यह है कला। (आत्मा, कलनी अर्थ में नहीं)।

अब यह लक्ष्य करो कि इस परममान की शून्य पूर्णंक काष्ठा अवधि 'अतायन' होता है विन्दु में। अखण्ड-महानैक काष्ठा अवधि 'अतायन' होता है नाद में। और उमा-पौर्णमासी काष्ठा अवधि 'वितायन होता है कला में। यहाँ अतायान शब्द को एक परिभाषा विशेष में लिया गया है। तायन अथवा Expanding Evolving Function इसी अतायान विन्दु में आकर केवल शेष ही नहीं होता, अपितु पूर्ण हो जाता है। जैसे कोई आधार संख्या (Basc)। उसके लिंगक (Index or Power) को शून्य किया = हुआ १। उसके पूरक (Co-efficient) को भी शून्य किया, अब सब है शून्य। अब मान लो कि पूरक को विलोम में (Inverse में) लाये, अर्थात् वह हुआ हर (denomenator)। अब इसे शून्य करो। ऊपर एक, नीचे शून्य। यदि किसी भी मान को शून्य से भाग दिया जाये तब वह मान कहेगा "मैं अनन्त हूँ। तुम्हारा भाग कभी भी शेष नहीं होगा"।

पूर्वोक्त तीन काष्ठा में आनन्त्य रहता है, किन्तु इस आनन्त्य का विकुञ्चन (Contraction by reduction) होने से क्या होता है ? सम्भूय तथा सम्भूत यही पूर्वालोचित मान। इस विकुंचन (enfolding or straining of the Continuum, the Homogenous Field) से जड़ादि सम्भूय—सम्भूत गोचर का समुद्भव होता है। विकुंचन होने पर इस मूल विन्दु को भिन्न-भिन्न संस्थाधार में (फ्रेम में) भिन्न-भिन्न केन्द्ररूपता में (Stress and strain centres) उतरना पड़ता है। इन्हीं सब के द्वारा विश्व प्रपञ्च जाल को बुना जा रहा है। यह सम्भूयसम्भूत के गात्र में उतरते ही विश्वजाल में जड़ित हो जाता है। इसे काटने का उपाय है वाग्मन-प्राणादि का मूल विन्दु संश्रय। अखण्ड नाद एवं स्वछन्दातत कला के सहयोग से।

इसके अनन्तर अ-इ तथा उ रूपी तीन मूल स्वर के साथ तल-लम्ब-वेध का सम्बन्ध सूत्राकृति में कहा जा रहा है

११. अकारेकारोकारा: ॥

अ, इ तथा उ, इन तीन का (तल-लम्ब तथा वेध में) यथाक्रमेण अन्वय है ॥

अकारस्य तलत्वं स्यादिकारस्य च लम्बता ।
उकारो वेधपर्याय इति सर्वत्र भावय ॥१४५॥
ऊँकारे य उकारोऽस्ति तस्य द्विरूपता मता ।
अमेपेक्ष्य हि लम्बत्वं ममपेक्ष्य च वेधता ॥१५५॥
उर्द्धं नयति गम्भीरञ्चार्द्धमात्रादिरूपत: ।
पक्षाभ्यां लम्बवेधाभ्यामोङ्कारमध्यगाक्षरम् ॥१५६॥

जैसा पहले कई बार आलोचित हो चुका है 'अ' अक्षर सामान्य अधिकरणरूप से व्यक्ताव्यक्त समस्त का 'तल' है। 'इ' निखिल में मूला इद्ध वृत्तिरूप से लम्ब है। 'उ' मूला उर्जित वृत्तिरूपेण हो जाता है वेध। केवल वाक् में ही नहीं, प्रत्युत् सर्वत्र इन तीनों के अन्वय को यथोपयोग रूप से पहचान लो। व्यापक अर्थात् सर्वं यन्त्र में, सर्वं तंत्र में, सर्वं मन्त्र में। सब तो ऊँ कार से जात एवं स्थित्यादि ही है। ऊँ कार ही "प्रभव: प्रलय: स्थानं" है किन्तु उसमें तो 'इ' है कि नहीं ? वह 'उ' कार के सहगभाव में है, यह पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ यह स्पष्टत: कहा जा रहा है कि 'ऊँ' में जो 'उ' है, उसके दो रूप हैं।

सर्वप्रथम तलरूपी जो 'अ' है उसकी तुलना में 'उ' की लम्बवृत्ति है, अतएव 'इ' में आकांक्षा (affinity) एवं संहति (Alliance) है। और जो पश्चात् में 'म' है, उसकी अपेक्षा 'उ' में है वेधमुख्यतया। यदि अभिव्यक्त किंवा अभिव्यक्त्युन्मुख नाद को जो (+ तथा −) व्यक्त मानोत्कर्ष अथवा मानापकर्ष की काष्ठा में लायें, वही है लम्ब। Straight, direct ascent or decent of acceleration. व्याहरण में भी देखो कि ऊँ के उ में यह वृत्ति रहती ही है। 'ऊँ' निसर्ग निधानमूल है, अत: उससे उदित-व्यक्त नाद के मुख को मुख्यत: अव्यक्त 'बीजमव्यय' (बिन्दु) की ओर ही उन्मुख रखना होगा। अर्थात् वेधवृत्तिता। 'इ' में अनुलोमा की मुख्यता है और 'उ' में विलोमा की। प्रणव के 'उ' में ये दोनों मुख्यतायें (यथाक्रमेण 'अ' तथा 'म' को उद्देश्य करके) एक तनु में सम्मिलिता हैं। यदि श्रुति के उपमानुसार 'धनु:' कहें तब 'उ' ही 'इ' रूपेण धनु में ज्यारोपण करता है, और 'उ' रूपेण ज्याकर्षण एवं शरसन्धान करता है।

इसलिये अंतिम श्लोक में कहा गया है कि ऊँ का जो मध्यग अक्षर 'उ' है, वह मानो है एक सुपर्ण पक्षी। उसके पक्षद्वय हैं लम्ब तथा वेध। यह पक्षी हमारे

वाक् आदि को उर्ध्वस्थ ज्योतिर्विशाल, रस निबिड़धाम में ले जाता है। वह धाम दुर्गम गंभीर है। क्योंकि अर्धमात्रादि के प्रसाद के अभाव में उस धाम में उपनीत हो सकना संभव नहीं है। जहां प्रणव के 'म' ने शेष स्पर्श किया है, वहां पर ही इस दुर्गम गंभीर की सेतुसंधि को प्राप्त करना होगा। वेध करना होगा प्रणव धनु से 'उ' कार के आकर्षण से आकृष्ट 'ज्या' द्वारा और आत्मा रूपी शर द्वारा।

तदनन्तर नाद-विन्दु-कला को उपादान, व्यापारवत्ता (functioning) एवं मूल (प्रोटोटाईप) के रूप में कहा गया है। जैसे ब्रह्म। उपादान, निमित्त तथा नामरूपादि कार्य ही हैं। इन तीनों का मूल है ब्रह्म,। उन्हे भावित करना होगा।

१२. नादोपादानत्वं विन्दुसव्यापारत्वञ्च ॥

ब्रह्मवस्तु परनादरूप से मूल उपादान हैं, और पराविन्दुरूप से (ब्रह्मवस्तु ही) मूल व्यापार के लिये निमित्त अथवा बीज बन जाते हैं ॥

मूलाधारो ह्युपादानं नाद इत्यभिधीयते।
सर्वव्यापारवत्त्वस्य योनिर्बीजं हि विन्दुता ॥१५७॥
नादाक्षरमहासिन्धौ विन्दुना विश्वमन्थनम्।
मन्थनाच्च समुत्पत्तिः कलानां नामरूपयोः ॥१५८॥

पूर्व-पूर्व अनेकों प्रसंग में विन्दु को ही आदिम मूलरूप से मानकर उससे नाद कला आदि का उदय-वितान तथा विलय दिखलाया गया है। उसके हेतु को व्यापार दृष्टि से देखा गया है। इस दृष्टि से देखने पर प्रथम जिज्ञासा यह होती है कि— अच्छा व्यापार के मूल निमित्त (Radix of the function), योनि अथवा बीज क्या एवं कहाँ है? वह कहाँ है? कुतः? यही है विश्व की मूल निमित्त दृष्टि। इस दृष्टि से उदित-वितत-विलीन नाद ही मानो (येन) जन्य या जातक भूमिका का वरण करता है। यहां 'येन' भी व्यापार विश्लेषणी दृष्टि से प्रयुक्त किया गया है। तत्वतः एवं भानतः incomplete cognition नाद-विन्दु-कला एक ही अभि-वाज्य तादात्म्य में संगृहीत हैं। व्यापार विश्लेषण में आते ही एक हो जाता है उपा-दान या आधार और दूसरा हो जाता है निमित्त एवं बीज तथा तीसरा है कार्य। जो तादात्म्य में अलक्षण है, वह व्यवहार व्यापारानुरोध से अपना (स्व) तथा अपने से इतर (स्वेतर) के विश्लेषण को करने वाला होकर एक-एक संज्ञा तथा लक्षण में आने लगता है। संज्ञा देते ही प्रश्न उठता है—"किस प्रसंग में (Context or reference में) संज्ञा है? इस मूल कथा को मन में स्मरण करते हुये लक्षण में जाने पर भ्रम में नहीं पड़ना होगा। अन्यथा 'जिरह' (तर्क) बढ़ाने से एक बार विन्दु को एक बार नाद को, एक बार कला को सबसे बड़ा साबित होते देखोगे, यह कैसी धारा है?

यहां इस सूत्र द्वारा ब्रह्म के उपादानत्व को मूलाधार रूप से (Continuity as the material matrix) लेकर उसे कहो नाद अथवा परनाद (जो जन्य-जनकत्वादि सम्बन्धावच्छिन्न नहीं है)। और ब्रह्म की सर्व व्यापारवत्ता को, निमित्त रूपता को कहो ब्रह्म का आदिम काम। जो अयोनि अमूलबीज (मूल) ब्रह्म का आदिम काम है, वही है विन्दु अथवा महाविन्दु। यह है Primal radix of all Becoming (परनाद को ब्रह्म का ईक्षण भी कहते हैं)। नाद है ब्रह्म का स्वप्रकाश, उसकी आविरूपता। विन्दु है ब्रह्म का स्वमिमर्श (कामरूप), उसकी रात्रि (पराव्यक्त) रूप। नाद है शिव, विन्दु है शक्ति। ब्रह्म के स्वविमर्शरूप विन्दु को माया नहीं कहना चाहिये। इसका कारण है कि विन्दु में माया का नहीं प्रत्युत महा-माया का निवास है। महामाया ही विन्दु में आदि कामकला बनते हुये माया आदि कलाओं का कलन करती हैं। (पुनश्च माया एवं महामाया सूत्र को पढ़ो)। परि-भाषा परिभावनकुशल बनो। अन्यथा सामने आयेगा वितर्क एवं वितण्डा। दार्शनिक विचार के समय इसी कारण से गणितीय परिभाषाओं पर भी दृष्टि प्रक्षेपण किया गया है।

पूर्वोक्त उपादानादि के सम्बन्ध में एक उपमा देकर अंतिम श्लोक की रचना हुई है। नाद में मानो अक्षररूप महासिन्धु है। विन्दु (पूर्व व्याख्यात) अर्द्धरूप अक्ष द्वारा मन्थनकृत् है। [नाद का जो अक्षर है उससे 'र' को अलग करके - अक्ष = विन्दु। 'र' = अग्निबीज = शक्ति। अर्थात् अक्षर में शिवशक्ति तादात्म्य। अतः केवल शान्त Being Power। 'र' अलग करने पर हुआ Becoming Power. अतः अक्ष = मूल Power Axis. निर्व्यापार उपादान शक्ति को, Creative Radix को लाना ही आदिमन्थन है। (The first Art of churning).

जो मन्थन से समुद्भूत है, वह है नाम-रूपादि-कला। सम्भूय कलाकलन में इसी सर्गपंचक (अमेयादि) तथा वर्गपंचक की भावना करो। सम्भूत = नामरूपादि

१३. कलासहगत्वमपि ॥

नादविन्दु के साथ काल का सहगत्व (मंथन से प्रसज्यमान) होता है ॥

कला को आद्याकलनी। कलयमाना एवं कलिता, अर्थात् सम्भाव्यता, सम्भू-यमानता एवं सम्भूता रूपी दृष्टि से पूर्वापर देखा गया है। कारण विशेष से इन तीनों का अभिनिवेश एक-दो अथवा तीन में करना पड़ता है। क्या इन तीनों का सहग अर्थात् नियत, आविनाभावेन साथ है? वह क्या है? A necessary component or constituent? यदि ऐसा होता है तब उस सहग की मर्यादा कहाँ तक है? वह निष्कल नाद, निष्कल विन्दु हो सकेगा? A pure, undifferentiated, aspectless Power-to-be and power-to-become?

वस्तुत: वर्त्तमान सूत्रान्वय में सहग शब्द की व्याप्ति को यथोपयोग उदार या बृहद् रूप से लेना होगा। अर्थात् कला केवल मात्र सहगामिनी attendent factor or Complement ही नहीं है। "कला होकर भी जो सहगा है" (operative co-efficient) यह इसका तात्पर्य है। उसका एक अर्थ और है "कला का सहग (Incidental to kala as fuctioning)। इसका अन्वय व्यापक, मूला तथा आद्या कला (कलनी) से है।

जैसे आद्या ने अपना कलन 'ह्रीं' बीजरूपेण किया। स्वकलित सब कुछ में यह आद्याकलनी कला-नाद तथा विन्दु की त्रयी के रूप में अनुप्रविष्टा होती है। क्योंकि यह है ब्रह्म का कलन। यदि ब्रह्म स्वकल्पित पदार्थ से कहते हैं "मैंने तुम्हारी कल्पना किया, किन्तु मैं तुममें नहीं हूँ, अलग हट गया हूँ", तब ब्रह्म भी ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म अनुप्रवेश में भी स्वयं को तत्वत: खण्डित, अंशादिरूप नहीं कर सकता। ऐसा करने पर पुन: ब्रह्मत्व का अपाय घटित हो जायेगा। यदि यह कहो कि जीव तो चित्कण है? किन्तु 'कण' भी खण्डत्व अथवा अंश का निरतिशय क्षुद्रत्व नहीं है। कणभाव की काष्ठा, विन्दु, शून्य-पूर्ण सब एक है। अतएव 'अनुप्रवेश कहने पर :—

(१) अखण्ड, असीम अधिष्ठान तथा आधाररूपता,

(२) पूर्णशून्यैक बीजरूपता

(३) अशेष-विशेष विकासरूपता को ही तात्पर्य मानना चाहिये। अर्थात् यथा क्रमेण नाद-विन्दु-कला। जो आद्याकलनी आदि सेतुरूपा होकर इस त्रयी को स्वयं में उदित (व्यक्त) एवं संकुचित (अव्यक्त) कर लेती हैं, वे हैं अर्द्धमात्रा या अर्द्धा।

ह्रीमिति बीजमन्विष्य महाप्राणस्य पीठताम्।
ईमित्यनेन चाभीद्धां बीजशक्ति विलोकय ॥१५९॥

मध्यमस्य रकारस्य रणनवृत्तिताश्रयात्।
सहगपूरकत्वञ्च सर्वत्रैवं विचिन्तय ॥१६०॥

'ह्रीं' महाबीज का अन्वेषण करो। क्यों? पहले देखो महाप्राण रूप जो 'ह' है, वह स्वयं में नादाधाररूपेण स्वयं की 'पीठ' कल्पना करता है। (नादाधार = आपरेटिवनेस)। 'ई' रूप से वह आधारभूत महाप्राण स्वयं की अभीद्धोर्जिता को बीजशक्तिरूपेण प्राप्त करता है। अभीद्धोर्जिता बीजशक्ति = upsurging Maximum Power। यह है परलिंगाख्य विन्दुशक्ति। यह इस अभीद्धाशक्ति को परम केन्द्रीणता में लाकर उसमें वाक्-मन एवं प्राणरूपी त्रिवर्ग सृष्ट्यादि सामर्थ्य प्रदान करती है। The principle of utmost operative Index और मध्यस्थ जो 'र' है, वह क्या करता है? अपनी रणनवृत्तिता (Resonance, Reverberation pri-

nciple) द्वारा पूर्वोक्त का (अर्थात् ह्रौं का) सहग-पूरक (operative accele-ratiog co-officient) बन जाता है ।

अब प्रश्न उत्थित होता है कि 'ह्रों' आकृति में ऐसा कौन सा घाट था जो पूरण के लिये इस सहगपूरक 'र' में स्थित हो सका है ? उत्तर = संभाव्यता का जो पूर्णमान है, उसमें कोई भी घाट नहीं है, तथापि सम्भूय-सम्भूत मान में उसे लाने के लिये उसे व्यवहारत: लाघव (घाट) मान लिया गया है । परमा-परा से अपरा पर्यन्त सृष्टि के अवतरण (Descent) का तात्पर्यार्थ यही है । जो अवतरण में है, वही है उत्तरण में । अत: सर्वसृष्टिलयादि व्यापार में रणन वृत्तिमान 'र' को स्थित करके, बैठाना पड़ता है । An Echo, Reflex, Resonance Factor must come and operate between a given state of becoming and its emergence as the final End or pattern. इस सूत्र के प्रयोग का परीक्षण सभी क्षेत्र में करो । रणन् अर्थात् जो 'र' अथवा Basic Energy को "ण" अथवा किसी Maximum Efficiency and valve में लाकर पुनः उसे किसी अभीष्ट तल में फलरूपेण (न) प्रदर्शित करता है । जपाक्षर की आवृत्ति में भी यही रणनवृत्तिता संजात, उपचित तथा संहत होकर जपक्रिया को प्रारंभ न नादाधार में, कलासुषमता में एवं अन्त में अर्द्धा-समाश्रय में विदुलय तक पहुँचा देती है । फिर भी रणन के (अग्नि) साथ रमण का (सोम का) मिलाप आवश्यक है । 'वामो रामो रमणात्' सूत्र को पुन: याद करो । 'ह्रीं' तथा 'ह्रों' इन दोनों का व्याहरण करके भेद की उपलब्धि करो । पहले में जो Latency या staticity भाव है (ह्रीं में), वह दूसरे में (ह्रों में) है patent, kinetic, dynamic

अब 'व्यक्ति' एवं 'अभिव्यक्ति' सूत्रद्वय :—

१४. व्यक्तित्वमितरव्यावृत्तिविरहप्रतियोगित्वेन वृत्तित्वम् ।।

इतर कहने पर अन्य या अपर (other) का तात्पर्य भासित होता है । व्यावृत्ति = निषेध-परिहार (negation or Exclusion) । विरह = तद्रहितत्व या अभाव । अतएव इतरव्यावृत्तिविरह = अन्य के अथवा अपर के निषेध अथवा परिहार का अभाव । इस अभाव का प्रतियोगी क्या है ? यही निषेध अथवा परिहार ही है प्रतियोगी । परिहार = व्यावृत्ति । अतएव इतर किंवा अपर का परिहार ही है वृत्तिमत्त्व व्यक्तित्व । यही है सूत्र वाक्यार्थ द्वारा व्यक्तित्व लक्षण का निरूपण ।

यदि व्यक्तित्व की इस वृत्ति की भावना वृत्तरूपेण किया जाये और किसी अपर की भावना एक अन्य वृत्त में की जाये, तब विचार करो कि इस वृत्तद्वय के परिहार-अपरिहार से सम्बन्ध कितने प्रकार के हो सकते हैं ? दोनों वृत्त का नामकरण करो क तथा ख ।

(१) क एक बड़ा वृत्त है। उसमें ख का सम्पूर्ण अन्तर्भाव है। यहाँ इससे ख में क का आंशिक परिहार हुआ अथवा परित्यक्त हुआ। (ख) बृहत्तर वृत्त हो जाने के कारण इस प्रकार का भाग त्याग है। यहां क अथवा ख कोई भी वर्त्तमान में व्यक्ति लक्षण में नहीं आ सका।

(२) क और ख का पारस्परिक आंशिक छेद (भेदन Intersect) हुआ। अर्थात् क तथा ख का यह संकीर्ण भाव भी लक्षण में नहीं आया।

(३) क एवं ख दोनों ही समानाधिकरण में (Identical) अथवा सम-व्याप्तिक हुये। यहाँ परिहार अथवा व्यावृत्ति अनवकाश है। अर्थात् परिहार की कोई बात ही नहीं है।

(४) क तथा ख, दोनों वृत्त पूर्णत: परस्परत: एक दूसरे के बाहर हैं। यही लक्षणानुयायी इतरव्यावृत्ति है, अतएव व्यक्तित्व है।

किसी वृत्ति को एक वृत्त के रूप में अंकित करके केवल यह कहने से कि इसमें यह वृत्ति है, (ऐसा अन्वयमुखेन कहने से) उस वृत्ति अथवा अवस्थान का व्यक्तित्व सिद्ध नहीं हो जाता। यह जानना (व्यतिरेक मुख से) आवश्यक है कि इस वृत्त के बाहर वह वृत्ति नहीं है और अन्य अथवा अपर की वृत्ति इससे पूर्णतः बाहर है। (अर्थात् वृत्ति के अन्दर 'यहाँ' वृत्ति है और 'वह' वृत्ति पूर्णतः वृत्त के बाहर है)। यदि ऐसा नहीं होता, उस स्थिति में व्यक्ति का (Individuality) शुद्धत्व (uniqueness) एकत्व अथवा निजत्व (Singularily) तथा विशेषत्व (Speciality) सिद्ध नहीं हो सकता। केवल मात्र Method of Agreement द्वारा प्रमाण व्यवस्थित नहीं होता। सम्भाव्य Joint Method of Agreement and difference इसी कारण से आवश्यक है। इस देश में अन्वय व्यतिरेक प्रमाण है। "अन्वयादितरत:"। इसके पूर्ण रूप के प्रदर्शनार्थ है "विरहप्रतियोगित्वम्"।

असम्यग् दृष्टवैशिष्ट्यं वैखरीति विचिन्त्यताम्।
सम्यग्दृष्टे निजत्वे तु पश्यन्तीत्यवगम्यताम् ॥१६१॥

यहाँ व्यक्ति के शुद्धत्वादि जिन गुणत्रय का अंकन किया गया है, वे गुण किंवा धर्मसमूह असम्यग् दृष्ट अथवा गृहीत होने पर वाक् की परिभाषा में वैखरी है। वैखरी में नाद-कला-विन्दु तथा इन तीनों में आकृति-छन्द-सन्धि प्रभृति सम्बन्ध रहता है, परन्तु कोई भी सम्बन्ध शुद्ध, निज तथा विशिष्टरूपेण गृहीत नहीं होता। यह निखिल वैखरी संकर तथा सांकर्य की भूमि है। पक्षान्तर से शुद्धत्व-निजत्व-वैशिष्ट्य ये तीनों, वाच्य-वाचक-प्रत्यय के सम्बन्ध में जिसमें सम्यग् रूपेण गृहीत होते हैं, वह है पश्यन्ति। अतएव ऊँकारादि सब कुछ पश्यन्ति में शुद्ध-निज रूपेण आविर्भूत है।

अन्यव्याकृत्यभावेन संकीर्णां विद्धि वैखरीम् ।
अनन्यत्वेन यत्तत्वं पश्यन्त्या (विद्धि) तत् समग्रतः ॥१६२॥

अन्य अथवा अपर के साथ इसकी व्याकृतता का परिहार नहीं होता, अतः यह संकीर्ण है। और यह Multitude रूप से, मुक्त अनन्य (शुद्धनिज-विशिष्ट) रूप से, जिस तत्व (हानोपादान रहित) से युक्त है उसे समग्रतः पश्यन्ति में जानो। उसकी नाभि (Core) तथा विन्दु संहति में कुछ भी दृष्ट न होने पर भी उसका शुद्ध-सम्यक् शुद्ध-निज दर्शन नहीं होता। और आविन्दु रूप जो दर्शन है, वही है समग्र दर्शन।

अन्यत्वञ्चाप्यनन्यत्वमुभे केवलतामितः ।
अव्यक्त वृत्तिताभाग् या सेतुरूपा शनैः शनैः ॥१६३॥

किन्तु व्यक्ति अथवा व्यक्त (as fully, uniquely, manifest) दृष्टि क्या अन्त है ? इसके अतीत है अव्यक्त'। वह पर एवं परम रूप से, केवल तथा केवलातीत रूप से द्रष्टव्य है। अतः अन्यत्व एवं अनन्तत्व (otherness and non-otherness) भी द्वन्द्व का परिहार करते हुये केवलता में जाते हैं (मितः) जैसे पराव्यक्त विन्दु में, परावाक में तथा अहं-इदम की एवं दृश्य-दृश्यत्व की कैवल्य समापत्ति में। यह केवल से भी अतीत परम है। इस परम में भक्त के महाभाव का परमालय है।

व्यक्त या व्यक्ति की यह अव्यक्त वृत्तिता होने के लिये (the Logically Cognisable being absorbed in the Alogical) मध्य में सेतु रूपा (as Link Principle) 'किसी' का शनैः शनैः (Imperceptibly and inscrutably) वृत्तिमती होना आवश्यक है।

निजत्वं नयते सम्यङ् मध्यमा साऽपि गीयते॥१६४॥

पूर्वश्लोक की अनुवृत्ति। यह सेतुरूपा अचिन्त्य शक्ति केवल व्यक्त को ही उसके पर-परम पर्व में नहीं खीचती, प्रत्युत वह व्यक्त मात्र को ही (whatever is actual, manifest) है, उसको शुद्ध-अविद्ध निजत्व में 'साध' लेती है। अर्थात् वैखरी को साध लेती है पश्यन्ति में। तब इसकी संज्ञा है मध्यमा। यह है पूर्व भूमिका। यही है उत्तर भूमिका में अर्द्धा या अर्द्धमात्रा।

नाद एवानुसन्ध्येय यथालापे स्वरादिभिः ।
स्फुटास्फुटसमारम्भो महास्फोट परायणः ।
आस्फोटमध्यमः स्फोटस्तस्मै नादात्मने नमः ॥१६५॥

इसके अनन्तर व्यक्त को स्फोट सम्बन्ध में लेकर कहा जा रहा है। जैसे संगीतालापन में धारा, सप्तस्वर, २२ श्रुति तथा तीन ग्रामों में नाद का ही अनुसंधान किया जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति तथा व्यक्ति मात्र को ही महास्फोट (व्यक्त)

…रूप नाद ब्रह्म का अनुसन्धान करना पड़ता है। यही नाद अखण्ड, अव्यय, नित्य है। …निखिल स्फुट एवं स्फुटास्फुट (व्यक्ताव्यक्त) प्रपञ्चाधार एवं परिसीमा है। अतः …नादात्मने नमः'। इसी स्फोट रूप ब्रह्म के चार पाद का विक्रमण होता है। समा-…रम्भ पाद है स्फुटास्फुट। जिसे वागवाच्यादि वैखरी कहते है, वही है समारंभ पाद। …सृष्टजात व्यक्तिमात्र ही स्फुटास्फुट है। कुछ अंश में है स्फुट, किंचित भूयिष्ट भाग में है अस्फुट (जैसे जल में तैरती बर्फ अथवा संस्कार व्यूह में उदित कोई मनोवृत्ति)। …यह पश्यन्ति में समग्र शुद्ध स्फुटरूपता में आना चाहता है। यही है परा का महा-स्फोट। अर्थात् परा में (जैसे विन्दु में) महास्फोट (पूर्ण) तथा महा अस्फोट (शून्य) —दोनों ही एकत्र हो जाते हैं। यहाँ आविः तथा रात्रि—दोनों ही मिलित हैं। …मध्य मे जो मध्यमा है, वह मुख्यतः धूः एवं सेतुरूपा होने के कारण 'अस्फोट' संज्ञा से युक्त हो जाती है। 'आ' उपसर्ग में सेतुभाव है। 'यहां तक इतनी व्याप्ति'। आभिधानिक अर्थ अन्य प्रकार का भी हो सकता है।

विशेषतः जो पदार्थ की अपनी नाभि (स्व) अथवा केन्द्र है, उसमें दृष्टि रखते हुये 'व्यक्ति' को देखा। मानो प्रत्येक पदार्थ से प्रश्न किया जा रहा है "बोलो ! तुम्हारा शुद्ध निजत्व (Individual uniqueness) क्या है। तुम्हारा अन्य निरपेक्ष स्वरूप, स्वभाव, स्व छन्द क्या है ?"

किम्बहुना वज्र नाभि (Hard imperishable core) तथा हृल्लेखा (Heart picture) तक गति हुये बिना यह शुद्ध (असंकीर्ण, व्यक्ति प्राप्त) नहीं होता। प्रत्येक का कोई एक Basic oneness and uniqueness है अथवा नहीं है, यह अनुसन्धान ! विन्दुत्व को समस्त अभिव्यक्ति (नादकलात्मक) के मूल में रखने की युक्ति ज्ञात रहने पर वस्तुमात्र के इस स्वत्व-सपक्ष में भी युक्ति है।

तथापि व्यवहारतः समस्त वस्तु अभिव्यक्ति है Having reference to an assemblage of objective condition। इसीलिये अन्य तथा अन्यान्य के सम्बन्ध में सम्बद्धता (Relatedness to every and any other) के बारे में अभिव्यक्ति सूत्र में कहा जा चुका है। 'सब को छोड़कर यह देखो कि केवल तथा निजरूपेण मैं हूँ' इस प्रकार से और "यह देखो मैं विश्व के एक नगण्य रेणु से भी अलग नहीं हूँ"। यह भी एकरूप है इसका। अभितः व्यक्ति = अभिव्यक्ति।

१५. स्वेतरसम्बन्धत्वावच्छिन्नताविरहप्रतियोगित्वेन वृत्तित्वमभिव्यक्तित्वम् ॥

स्व अर्थात् निज। जो पूर्व सूत्र में प्रतिपादित शुद्ध व्यक्ति (Pure Individuality) है। इतर = इस निज से अन्य। यदि निज का इस अन्य के साथ सम्बन्ध रहता है, Correlation रहता है, उस स्थिति में है स्वेतरसम्बन्ध। इसे यदि किसी विशेष स्थल में न लेकर सामान्य या साधारण रूप से लिया जाये; तब यह है स्वेतरसम्बन्धत्व। अर्थात् अन्य के साथ सम्बन्ध रखना। इस धर्म को अभाव-निषेध

या परिहार है पूर्व सूत्रालोचनानुयायी विरह। इसके आगे है अवच्छिन्नता। अवच्छिन्नता "विशिष्ट रूप धर्म।" इसका फल है अन्य के साथ सम्बन्ध रखना। यह धर्म है "होना रूप धर्म"। जैसे 'क' एक स्व अथवा व्यक्ति है। उसमें अन्य के साथ सम्बन्ध रखने वाला धर्म रह सकता है अथवा नहीं भी रह सकता। यदि रह सकता है तब 'स्वेतरसम्बन्धत्वावच्छिन्नता' धर्म उसमें आया। वर्त्तिल हुआ। अन्यथा है अवच्छिन्नता। अवच्छिन्नता होने पर है विरह अथवा अभाव। जैसे अन्य के साथ सम्बन्ध रखना। इस गुण को एक वृत्त माना। जो इससे यत्किंचित भी सम्बन्ध युक्त नहीं हैं, वे वृत्त से बाहर हैं। इस वृत्त से वे अवच्छिन्न नहीं हैं। अतः इन-इन स्थल पर उस वृत्त का विरह अथवा परिहार (Exclusion)? यह जो विरह अथवा परिहार है, इसका प्रतियोगी कौन है? जिसका विरह अथवा परिहार है वह। अर्थात् अन्य के साथ सम्बन्ध रखना। यह धर्मवत्ता Relatedness or the attribute of being related to every and any other.

इस धर्म का जो 'विरह' है, उसका 'प्रतियोगी है' इस सम्बन्ध में पूर्व सूत्र में कहा जा चुका है। "इस वृत्त के मध्य में हूँ" केवल यह नहीं कहा है। प्रत्युत् यह भी कहा है कि 'इस वृत्त के बाहर मैं कहीं नहीं हूँ"। यह कहना आवश्यक भी है। अन्यथा लक्षण की व्याप्ति-अव्याप्ति के सम्बन्ध में निश्चित नहीं हुआ जा सकता।

अन्यव्यावृत्तिमात्रत्वे व्यक्तित्वं पद्यते यदि।
अन्यसाकल्यसम्बन्ध विशिष्टत्वस्य परिग्रहात्।
सर्वसमन्वितालेख्यमभिव्यक्तित्व मश्नुते ॥१६६॥

सर्वं समन्वयालेख्यमपेक्ष्यवृत्तिताभितः।
तत्र स्यात् नादमुख्यत्वं व्यक्तित्वे बिन्दुमुख्यता ॥१६७॥

यदि अन्य की (other की) व्यावृत्ति अथवा परिहार धर्म के सम्यक् (मात्र रूपेण) रहने पर यदि उसे 'व्यक्ति' संज्ञा दी जाये, तब अन्य समस्त सम्बन्ध विशिष्ट जो भाव है, जिस भाव के रहने पर (परिग्रहात्) किसी पदार्थ का सर्वसमन्वित आलेख्य (टोटल यूनिफाईड फील्ड पिक्चर) प्राप्त होता है, उसे क्या कहा जायेगा? अभिव्यक्ति। अभि या अभितः शब्द के आगे रहने पर यह गुण सूचित हो रहा है। सर्वसमन्वयालेख्य (कम्पलीट यूनिफाईड पिक्चर) की 'आदर्श रूप से अपेक्षा करने पर वृत्तिमान होना। अर्थात् अभिव्यक्ति संज्ञा में सब कुछ कहा जा रहा है "यह देखो मैं केवल स्वकेन्द्री अथवा निजकेन्द्री व्यक्ति ही नहीं हूँ, परन्तु अन्य सब के साथ मेरा जो सर्वसमन्वयी सम्बन्ध है वह मैं साधना तथा प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं केवल एक विशिष्ट तान अथवा सुर ही नहीं हूँ, किन्तु मैं विश्व का एकतान हूँ ओर कार्यतः होऊँगा—सुसङ्गति सम्पन्न।"

नादवितान में (विविध कला के साथ) यह अभिव्यक्तिमुख्यता रहती है। और विन्दुविलय में रहती है व्यक्तिमुख्य। Continuum-reference और Point-reference को प्रथमता समता में, मध्य में एकता में और परिपूर्णता परमता में लाना ही सर्वविध साधन है। व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति को खोजता है और अभिव्यक्ति भी खोजती है व्यक्ति को ! प्रथमत: इस खोज को समन्वय में लाओ। अर्थात् 'one at the cost of the other' नहीं होगा। तत्पश्चात् दोनों को परिपूर्ण (Completed) करके एकता में (Consummation) में आने दो। अन्त में इस Completion and Consummation को इस प्रकार की एक परमभूमि में लाओ जो उसकी ध्रुवा एकान्त परिसीमा है। क्या वह सत्य ही है Is it a realizable end ? यह जिरह मत उठाओ। 'ऋतम्' का जो अध्व 'सत्यमेव' है, वही है साधन एवं सिद्धि। लोक समाज व्यवहार एवं जपादि साधन में इस सूत्रद्वय को प्राप्त करो।

१६. अभिव्यञ्जकं पांक्तकर्म ॥

अभिव्यञ्जक होने पर है पांक्तकर्म ॥

(पांक्तकर्म एक विशेष संज्ञा है। बृहदारण्यकादि में इसका प्रसंग है।) पंक्ति (Pattern) शब्द से पांक्त। पंक्तिधर्मावच्छिन्नभाव से जो कर्म है, वह है पांक्त कर्म। Action conforming to any basic pattern.

पांक्तकर्म यदाम्नातं सर्वाभिव्यञ्जकं हि तत्।
कश्च केन च कस्मै च कस्मात् कस्मिश्च परस्परम् ॥१६८॥
क्रियान्वयानि वै पञ्च पांक्तत्वं व्यूहरूपता।
अधिष्ठानं तथा कर्त्तेत्यादौ च स्मर्यते पुनः ॥१६९॥
पांक्तेन कर्मणा विन्दुः सूते विश्वं प्रपञ्चितम्।
पांक्तेयमखिलं विद्यादपांक्तेयं तु केवलम् ॥१७०॥

पांक्तकर्म रूपेण जो श्रुति में उक्त है, वह सर्व अभिव्यंजक को 'विषय' कर देता है। अभिव्यंक जितने भी हैं, सभी पांक्तनामा हैं। पहले एक सूत्र में 'क' को अभिव्यंजक मूल कहा गया है। इसी 'क' के द्वारा क:, केन, कस्मै, कस्मात्, कस्मिन् रूपी पंच पांक्त है। किसी भी प्रकार का कर्म सम्पादित होने पर उसके साथ इन कर्त्तादि पंच का अन्वय रहता है। ये पाँचों परस्परत: एक दूसरे के साथ व्यूढ (organically related) रहते हैं। गीतोक्त 'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता' इत्यादि श्लोक में इन्हीं पाँच का प्रकारान्तरेण वर्णन मिलता है। अधिष्ठान = कस्मिन्। कर्त्ता = क:। करणञ्च = केन, पृथक्चेष्टा = कस्मात्। दैवं = कस्मै (कस्मै देवाय हविषा यजेम)। वाक्-प्राण आदि का कोई भी कर्म क्यों न लिया जाये 'पञ्चैते तस्य हेतवः' उनके ये ही पंच हेतु हैं। Fivefold Exponent of any action. गीतोक्त श्लोक के

'दैवं' पद पर विशेष ध्यान दो। दैव तथा पुरुषकार द्वन्द्वभावेन स्थित रहते हैं। दैव शब्द को 'देव तथा द्यौः' अन्वय में न समझने पर इस द्वन्द्व का समाधान नहीं होता। इस अन्वय में लाकर ही दैव को दक्षिण रूप में प्राप्त करना होता है, अन्यथा प्रायशः दैव है 'वाम'। दैव के वाम होने पर कर्त्ता का कर्म दैव द्वारा बाधित होने लगता है। दैव के वाम रहने पर अन्य चारों हेतुओं के सद्भाव में होने पर भी कर्म कभी भी पांक्तेय नहीं हो पाता। Conforming to the Basic Norm. कर्म सम्यकतः Normal नहीं होता। अतः दैव को दक्षिण करना चाहिये। इसे दैवानुग्रह, दैव बल आदि भी कहा जाता है। द्यौः तथा दैव सामान्यतः आकाश के समान मुक्त, उदार तथा एक आधार रूप कहे गये हैं। किन्तु जीव तथा शस्यादि के विशेष-विशेष प्रयोजनों के लिये आकाश को कभी मुक्त तो कभी पर्जन्य समाच्छन्न होना पड़ता है। अतएव जो स्वरूप में मुक्त उदासीन है, उसमें भी वामता एवं दाक्षिण्य आ जाता है। विशेष-विशेष क्रिया कारक फल के कारण विशेष-विशेष परिस्थिति में ऐसा होता है।

जैसे सूर्यकिरण का दृष्टान्त! जो अबाध उदार तथा मुक्तरूपेण विद्यमान है, उसके सम्बन्ध में तुम्हारा आदायानुपात (Ratio of availability) कितनी है, कार्यतः यही तो प्रश्न है। इसीलिये हमें अपने यत्किंचित् कर्म (जैसे जप) के सम्बंध में यह प्रश्न करना पड़ता है "कस्मै देवाय"। उस दैवभाण्डार अथवा दैवीसम्पद निधान स्थान से अभीद्ध-उर्जितादि शक्ति (वाज एवं वाजः दोनों आकार में) आदाय (aviailability) के लिये उसमें समस्त अभिसन्धान (सम्प्रदान) का समर्पण करना पड़ता है। जिस नदी ने स्वयं को सागर में समर्पित कर दिया, सागर सर्वतोभावेन उसी का पोषण करेगा। जिस सरिता ने सागर के प्रति आत्मसमर्पण नहीं किया है, वह सरिता तो अपने संचित पंक से ही भर उठेगी! मेघ का वर्षण उसकी पुष्टि नहीं कर सकेगा। अतः इस पांक्तपंचक में से पञ्चम-पञ्चक (कस्मै) में अवहित हो जाओ। चल तो रहे हो, परन्तु किसके लिये? क्या गढ़े के लिये अथवा सागर-सिन्धु के लिये। गढ़ा तो तुम्हें स्वयं में भर्ती करना चाहता है, किन्तु तुम्हारी भर्ति-पूर्त्ति ?

पांक्तपंचक की व्यूहरूपता में ध्यान दो। किसी को अलग करने से क्या होता है? अवान्तरीकरण an abstract, unrealistic attempt. अतः कर्म में पंक्तिकुशल हो जाओ। यूथान्वय याद है न? जप में विन्दु, उदय सेतु नाद, कला विलय सेतु-इन पाँच में तुम्हारी पंक्ति है। अथवा प्रकारान्तर से प्राण-वाक् भाव-छन्दः आकृति।

कहा जा चुका है कि विन्दु पांक्तकर्म के द्वारा इस विश्व को प्रपंचित करता है। ऐसा केवल वाक् में ही नहीं है। अतः अखिल ही "पांक्तेय" है। जो अपांक्तेय

है उसे केवल कहते हैं। जैसे अखिल विश्व (वाङ्मयादि)=किम्। विन्दु इस किम् सम्बन्ध में मूल अधिष्ठान है—कस्मिन्। उदयसेतु=कस्मात्। कः=नाद। कला—केन। विलय सेतु=कस्मै। विन्दु की विन्दु ब्रह्म रूप भावना करो। विन्दुब्रह्म का अधिष्ठान "निधानं बीजमव्ययम्" अर्धमात्र सेतु जब उदयविलयाभिमुख न हो कर परापारीणाभिमुख हो जाता है, तब है केवल (अपांक्तेय)। जो परम है, वह है केवलातीत।

१७. अभिव्यक्तं सप्तान्नानि ॥

(श्रुति आदि में प्रसिद्ध) सप्त अन्न को अभिव्यक्तरूपेण जानो ॥

अन्नान्नादविभेदेऽपि ह्यन्नं ब्रह्मेति बुध्यताम्।
अत्ताऽप्यादनतामेति सर्वेस्वतृत्वमोदनम् ॥१७१॥
अन्नं नादो घनो भोक्ता कलनादन्नतः कलाः।
अन्नत्वं स्वरवर्णानां व्यञ्जनमुपसेचनम् ॥१७२॥
अन्नमयादि चाम्नातं सर्वत्र कोषपञ्चकम्।
वाचो जीवस्य चाधानात्तस्यापि सप्तरूढ़िता।
चिन्मयः सन्मयो वापि सप्तसंख्यानिवर्हणम् ॥१७३॥

अन्न और अन्नाद (अत्ता), भोग्य एवं भोक्ता इन द्वंद्वविभेद को सर्वत्र ही देखा जाता है। तथापि मूल विभर्त्ता (भरणी-पोषणी सत्ताशक्तिरूपेण) ब्रह्म को ही अन्न मानो। श्रुति आदि में इसे बहुधा कहा गया है। निखिल भरणरूपता ही ब्रह्म का अन्नत्व है। वेद परिभाषा में अन्नरूप ब्रह्म है अदिति। अत्तारूपेण ब्रह्म हैं कश्यप। पुनश्च, वाग् रूप से अन्न। अग्नि रूप से अत्ता। अन्न का रस है सोम। अग्नि में सोम सवन किया जा रहा है। इस सवन की अधिभूत, अग्नियज्ञादि से लेकर अध्यात्म अवधि तक सब प्रकार से भावना करो। जैसे समुद्र का जल है अन्न। सूर्य तेजः है अन्नाद (अग्नि)। वर्षणकृत पर्जन्य है सोमरस। जपादि में भीं यही दृष्टान्त चरितार्थ हो रहा है।

अब ध्यान करो कि अन्न (ओदन) तथा अत्ता क्या तत्व सम्बन्ध में आने पर भी भिन्न हैं ? जो दृश्य-भोग्य प्रपंच है; क्या वह द्रष्टृ-भोक्तृ प्रमाता से वास्तव में अलग है ? इसके उत्तर में कारिका में कहा गया है—ना ! यह व्यापार व्यवहार-गत भेद ही है। किसी विशेष अवच्छेद (Limiting Convention) में अत्ता एवं ओदन पृथक् प्रतीत होते है। सर्वस्थान में अवच्छेद रहित उपलब्धि हो जाने पर अत्ता तथा ओदन का पारस्परिक भेद समाप्त हो जाता है। वहाँ (In universal appreciation) अत्ता एवं ओदन एक अखण्ड समरस में मिलित हो जाते हैं। यदि समग्र का विचार न भी करो, फिर भी यह विचार करो कि प्रत्येक व्यस्त (Diffe

rentiated) अन्न-अत्ता में भी 'भान' एक अखण्ड सामरस्य में ही (an undivided, non polarised whole of actual Enjoyment) भासित होता है। बौद्ध विश्लेषण में यह समरस मानो अन्नरस एवं अत्तृरस रूप में विभाजित हो जाता है। चीनी खाते समय चीनी ही होना पड़ेगा। सर्वत्र ही ऐसा नियम कार्यरत है। भान-भास में भूलो नहीं। भान स्वयं में एक या दो अथवा अन्य कोई भी संख्या नहीं रखता। संख्या रखती है सांख्य बुद्धि। भास में ब्रह्मौदनं = अदिति। और अदिति दक्षकश्यपादि से अभिन्ना हैं। प्रजा सृष्टि कल्प में अदिति द्विधावत् हो जाती हैं, जैसे अदिति—कश्यप इत्यादि सर्गादि निर्वहन द्वन्द्व।

अब इस मूल सामरस्य सूत्र को स्मरण रखते हुये नाद की भावना 'अन्न' रूपेण करो। विन्दु = भोक्ता। नादान्न की कलनजात निखिल कला। यदि नादविन्दु की भूमिका को 'अदलबदल' करना चाहो तब भी दोष नहीं होगा। यह जो अन्न कला जात हुई, उसमें भी स्वर वर्ण है अन्न और व्यञ्जनवर्ण है उस अन्न का उपसंचन या व्यञ्जन। नाद अन्न हो जाने पर है अदिति रूप अथवा ब्रह्मौदन। स्वर व्यञ्जन है उस मूल अन्न के द्वारा कल्पित अन्न व्यञ्जन। विशेष के आगे (Logically or otherwise) सामान्य आता है। इस प्रकार विन्दु (धन) विश्लेषण के द्वारा पूर्व सूत्रोक्त 'कस्मै' 'the unique point of Reference' रूप हो गया।

अब सप्त अन्न श्रुति में अन्नमय आदि पंचकोण का वर्णन है। ये जीवात्मा तथा प्रत्यगात्मा की भी उपाधि हैं। इन पाँच के साथ और दो को जोड़ो यथा वाङ्मय तथा जीवमय। यहाँ जीव = संघात विशेष केन्द्र center principle of organised being. क्या पंचकोष + वाक् = छ, किसी संघातविशेष सूत्र में, देहीदेह सम्पर्क निर्णय सूत्र में विघृत हो रहे हैं ? यह प्रश्न है। अन्य प्रकार से, इन छ की नाभिग्रंथि कहाँ है ? देही अथवा जीवात्मा इन सप्त अन्न का अदन करते हैं। ये सातो अभिव्यक्त हैं। संघात् के कारण प्रत्यगात्मा प्रविष्टवत् रहने पर भी 'अनश्नन् अभिचाकशीति' है।। 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'। प्रत्यगात्मा में अन्न अत्ता की अखण्ड समरसता है।

चिन्मय एवं सन्मय रूपी अन्य कोषद्वय भी कहे जा सकते हैं। अब यह सात संख्या हो जाती है। आनन्दमय कोष को शुद्ध भूमानन्द वाचक ब्रह्मवाचक नहीं कहा जा सकता। यह ब्रह्म का एक कोष अथवा उपाधि ही है। यहाँ 'मय' अन्त में है, उसका अर्थ है प्राचुर्य। चिन्मय-सन्मय शब्दद्वय को भी "अनुरूप" भावना में ही प्रयुक्त किया गया है। अर्थात् चित् एवं सत् के भूयिष्ठ भाववत्व स्थल पर ये दोनों भी सप्तान्न की श्रेणी में आ जाते हैं। जैसे चिन्मयी तनु—सन्मयी सत्ता।

यद्यपि शुद्धनिरंजन चित् अथवा शुद्ध निर्विशेष सत् की दृष्टि से चिन्मयी तनु अथवा सन्मयी स्थिति (इत्यादि) कल्पित, अध्यस्त प्रभृति विशेषण के द्वारा व्यव-

हार योग्य प्रतीत होती है, तथापि यहाँ यह प्रश्न उत्थित होने लगता है कि 'अच्छा ! चिच्छक्ति चिति प्रभृति किस दृष्टि के तत्व हैं ? "चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्" यह चिति किसके द्वारा, कहाँ पर कल्पित या अध्यस्त है । इस प्रश्न का समाधान सहज ही नहीं मिलता ।

महामाया-तत्व-वस्तु प्रभृति पूर्वोक्त सूत्रों को पुन: देखो । यहाँ कोष तथा सप्तान्न विचार से चिन्मय अर्थात् चित् अथवा प्रकाश धर्म का भूयस्त्व है । यह भूयस्त्व परिसीमा में भूमत्त्व भी हो सकता है, जैसे 'विभद्र भागवती तनु" आदि में देवता-देवर्षि तथा सिद्धों का 'तनु' क्या है, इसका भी विचार करा । सामान्यत: अन्न-प्राण तथा मन: रूपी कोषत्रय से मुक्त अथवा उर्ध्वमुख जो उर्द्धज्योतिविशाल विज्ञानमयी आनन्दमयी संस्था है, उसे चिन्मयी कहा जा सकता है । इसमें संघात या तनुरूपता रहने पर भी बाधा नहीं है । तब भी वह तनु इन अधस्तन कोषत्रय से जटित-बाध्य नहीं है । वह प्रकाश विशालता की काष्ठा पर्यन्त जा सकता है । इसमें प्रकाश के साथ-साथ आनन्द भी अभेद्यरूपेण स्थित रहता है । उर्ध्वमुख = अन्नमयादि कोषत्रय अथवा अपरा की संसक्ति से रहित, तथा परापरमामुखीन । सन्मयी = स्वतन्त्रस्थित्यादिधर्मभूयस्त्व । अर्थात् सत्ता या सत्व जिस संस्था में स्वत:सिद्ध किंवा स्वतन्त्र है । इसमें भी क्रमिकता (काष्ठा) है । जैसे अपौरुषेय वेद की सत्ता को सन्मयी कहा गया है । किन्तु अक्षर नित्य ? सामान्यत: संघात संस्था के कारण उभय दृष्टि का प्रयोजन हुआ है । संघातमात्र ही योग्य है, अत: अन्न है । अत: जो अभिव्यक्त ब्रह्म-वस्तु है, वह स्वयं को सप्त अन्न रूप में अभिव्यक्त करती है ।

१८. द्वे प्रत्येकं शुक्लाशुक्लभेदात् ॥

(पूर्व सूत्र में जो सप्त अन्न कहा गया) उनमें से प्रत्येक शुक्ल-अशुक्ल रूपेण दो प्रकार का होता है ॥

सार्द्धमेकेन चाद्येन द्वित्रिसंख्याभिपूरणात् ।
एक: संश्च ततो द्वन्द्व: सोऽपि पुनस्त्रिवृत्कृत: ।
एतेन सप्तरूढ़त्वं वर्णलोकस्वरादिषु ॥१७४॥

एक आद्य है । यदि वह एक आद्य एक होने पर भी '२' अथवा '३' इन संख्याद्वय द्वारा परस्परत: गुणित (अभिपूरित) होता है, उस स्थिति में सप्तसंख्या प्राप्त होती है । एक ही द्वन्द्वरूप हुआ । वह द्वन्द्व हुआ त्रिवृत्कृतत्रिपुटी । यह अभिकर्म या प्रक्रिया का वर्ण, लोक, स्वर (जैसे संगीत में) आदि निखिल अभिव्यक्ति की सप्तरूढ़ि आकृति प्राप्त कर रहा है । जैसे नाद को यदि मानें आद्य एक (Basic one) तब वह एक मिथुन हुआ नाद-विन्दु । (यहाँ विन्दु को ही आद्य एक मानना होगा) इनमें से प्रत्यक त्रिवृतकृत् कैसे होगा ? नाद होता है

त्रिवृतकृत् में उदय नाद, व्यक्त नाद तथा विलयनाद। विन्दु में भी उदयविन्दु-व्यक्त विन्दु-विलयविन्दु।

विन्दु उदयनाद से कहता है "मैं तुम्हारा निधान हूँ। भाण्डाररूपेण पूर्ण रहता हूँ। बीजरूपेण एक तथा अव्यय हूँ। और विलय में अवसान तथा आधान-रूपेण शून्य भी हूँ"। स्वर में जैसे 'सा' (मतान्तर से पा), सा-प किंवा पा-सा। ये हैं दो स्वर मिथुन। तदनन्तर प्रत्येक् त्रिवृत् होकर ऋ-गा-मा एवं पा-नि-धा हुआ। इन दोनों के साथ आद्य एक है 'सा'। स्वर-व्यञ्जन वर्णों की भी सप्तरूढ़ित्वरूप परीक्षा करो ७ × ७ = ४९ है सप्तरूढ़ित्व घटित वर्णसंख्या। इसके साथ १, २, ३ का योग भी किया जा सकता है। यदि स्वर को मूल वायुवृत्ति कहें तब इस वृत्ति दृष्टि से भी वायु ४९ है। यहाँ वर्ण प्रसंग नहीं कहा गया।

अकारादिकलास्त्रिस्त्रो नादविन्दु यथाक्रमम्।
शान्तश्चातीत इत्येवं प्रणवस्मापि सप्तता:।
सप्तच्छदो मनुर्ज्ञेयो मन्यते चापि सतधा ॥१७५॥

प्रणव में है अ उ म कलात्रय। नाद एवं बिन्दु शान्त तथा शान्तातीत। यथाक्रमेण अ + उ + म + नाद + विन्दु + शान्त + शान्तातीत = ७। इन सातो को समझो ओर साधो। पराव्यक्त विन्दु में उदयविलयादि व्यापाररहित स्थिति ही है "शान्त"। परापारोणता = शान्तातीत। मन्त्र मात्र ही सप्तच्छद है। मन्त्रमनन भी है सप्तधा। (मनुमनन भो सप्तधा है)

मनुमनन क्या है? क्लृप धातु द्वारा इसके निरूपण को करो। मनु का सामान्य कल्पन (fundamental Ideation हुआ। तत्पश्चात् इस भित्ति कल्पन के आधार पर किसी विशेष कल्पन के कारण (with Respect to a given plane or design) अनुकल्पन हुआ। यह विभिन्न प्रकार से हो सकता है : विकल्पन परिहार में किसी कल्पन को परित: ग्रहण करना = परिकल्पन। इससे होता है संकल्पन = determinate Motivation। यह अब साघिष्ठ काष्ठा में आया = वज्र-संकल्पन। इसकी परिणति तथा प्रकृष्ठरूप = सत्यसंकल्पन। यद्यपि विकल्पन परि-हारयोग्य है, तब भी वह विवेच्य कहा गया है। (The choosing between alternate ways and means)।

जैसे आदि मनु ऊँ। इसका सप्तच्छद क्या-क्या है? प्रथम छद है अव्यक्त। (प्रथम छद = First-Layer)। क्योंकि वह है ब्रह्मकल्पन। अनुकल्पन = अ = द्वितीय छद। 'उ' में निहित जो 'इ' तथा 'उ' है, इन दोनों के द्वारा विकल्पन ही विवेच्य परिकल्पनं हो जाता है। 'उ' अशेषवृत्ति सम्भाव्यता में से नादविन्दुमुखी-नता वृत्ति को अलग कर लेता है। A basic value to sort possibility. 'उ'

वर्ण में तृतीय एवं चतुर्थ छद है। नादविन्दु अथवा विन्दुनाद, इन दो रूपों में वज्र और सत्य रूपी छद की कल्पना करो। मनु का षष्ट छद पर्यन्त आकलन करने पर अथवा ग्रहण करने पर वह अमोघ हो जाता है। सप्तम में वह सत्य समर्थ होकर 'मन्त्री' के साथ अभिन्न भी हो जाता है। तुम प्रणव धनु में आत्मा को 'शर' बना कर इस सप्तच्छद में जो ब्रह्मलक्ष्य है उसका अप्रमत्त होकर वेधन करो। श्री रामचन्द्र ने सप्तताल का सुग्रीव के समक्ष भेदन किया था। तुम भी उनके चरणों में शरदीक्षा लो। जीवन में तथा साधन में जो ये सप्तताल पड़े हैं, इनका भेद कैसे हो ?

यहां छद कहने से स्तर अथवा कोष आदि का व्यूढ़ अवस्थान ही तात्पर्यार्थ है। पूर्व सूत्र में सप्तरूढ़, यहां पर सप्तव्यूढ़। छद्=आच्छादन करना। A System of Layers and Levers, Keys and Covers, Envelopes and Escapes which Conspire to evolve Harmonies, जैसे पियानो बाजा। किन्तु देखता हूं कि छद् छन्दः नहीं बन रहा है वह छन्द या छदि हो जाता है। कल्पनादि रूप जिन सप्तच्छद का वर्णन किया जा चुका है, वे मौलिक एवं सर्व साधारण हैं। जैसे सादे कागज पर एक वृत्तांकन किया। सादा कागज पर वृत्त नहीं है। वृत्त का अंकन करूंगा, यह इच्छा प्रथमतः अव्यक्त कल्पन थी। एक पेन्सिल से रेखांकन किया, यह है अनुकल्पन। रेखा का माप (दैर्घ्य) ठीक किया=विकल्पविवेचन। उसके मध्यविन्दु को खोजकर व्यासार्द्ध बनाया=परिकल्पन। मध्यविन्दु में कम्पास का एक बाहुविन्दु स्थिर करके रक्खा=संकल्पन। कम्पास के अन्य भुज को एक निर्दिष्ट कोण में (व्यासार्द्ध के अनुसार) रखना=वज्रसत्वकल्पन। अब धीर अप्रमत्त होकर वृत्तांकन किया= सत्यसंकल्पन। इस प्रकार मनुमनन हुआ।

जपक्रिया में जो मनु (बीज आदि) जपा जाता है, उसकी भी सप्तच्छदी भावना करो। विन्दु से उदयसेतु में अव्यक्त कल्पन। उदय में अनुकल्पन। व्यक्तनाद में विकल्पन विवेचन तथा परिकल्पना। कलावितान में संकल्पन। आसेतु विलय नाद में वज्र संकल्पन। नाद विन्दु अभेद सामरस्य में सत्यसंकल्पन। इन सब के मध्य में व्यक्त नाद में सतर्क रहना, जिससे हृदयादि स्थल (मध्यमा) से नाद सम्यकतः व्यक्तिमापन्न हो और उस नाद में अखण्डाधाररूपेण वहमानता हो। विलय में एवं उसके सेतु में नाद महाप्राणरूप होकर अमोघ वज्रसत्व हो जाये। क्यों कि वह सेतु अत्यन्त कठिन स्थान है। सबसन्धान किया परन्तु उसका संधान आज नहीं मिल रहा है !

आदौ कल्पनमात्रत्व (मव्यक्तं) व्यनुपर्याश्रियात्ततः।
संलकपो वज्रसंकल्पः सत्यसंकल्प एव च॥

'वानुपर्याश्रयत्'—वि, अन, परि इन उपसर्गत्रय के योग से ।।

शुक्लाशुक्लविभेदेन सर्वं किंचिद् द्विधाकृतम् ।

ज्योतिरसान्वयाच्छुक्लमशुक्लमतथात्वतः (अशुक्लं व्यतिरेकतः) ।।१७६।।

इस दो सूत्रों में 2 प्रकार के अभिव्यक्त (अन्न) का सप्तधात्व कहा गया। इनमें से प्रत्येक में शुक्ल तथा अशुक्ल रूप विभागद्वय हैं। (धन-तथा ऋण विभाग) ज्योतिरस का अन्वय यदि 'अन्न' में है, तब वह अन्न है शुक्ल। अतथात्व में, अन्यथा में, व्यतिरेक में अन्न है अशुक्ल। जैसे जप में व्यक्त-अव्यक्त वागादि का जो अन्न तुमने अदन किया, क्या वह स्वरस उज्वल है अथवा कुरस मलिन है ?

१९. चतुर्दश भोक्तृभोग्ये भोगायतनादीनि च ।।

(इस प्रकार से द्विसप्तकृत्वः होने के कारण) भोक्ता, भोग्य, भोगायतनादि समस्त अभिव्यक्त को चतुर्दश जानों ।।

सप्तधा कल्पितं द्वाभ्यां भवेत् सर्वं चतुर्दश ।

सितस्य धनवृत्तित्वमृणत्वमसितस्य च ।। १७७ ।।

कः किं केनादिरूपेण पांक्तस्य सप्तधा ततिः ।

धनर्णद्वन्द्वविन्यासात् साऽपिभवेच्चतुर्दश ।। १७८ ।।

इत्थं मन्वंन्तरादीनि तनूनि भुवनानि च ।

पृथूनि भोग्यभोक्तृणि सर्वाणि स्युश्चतुर्दश ।। १७९ ।।

साधारणभावेन (अन्यरूप भी अन्य कारण से हो सकता है) यदि शुक्ल अथवा सित को 'धन' कहें, अशुक्ल तथा असित को कहे 'ऋण', तब यह भावना करो कि सर्व सप्तक ही सितासित किंवा धनर्ण भेद से चतुर्दश हैं। चतुर्दश संख्या भोग्य-भोक्ता भोगायतनादि निखिल अभिव्यक्त को अधिकार में रखती है। स्वर व्याकृत होकर व्याकरण होगा। इस व्याकरण के आधार रूप से चतुर्दश माहेश्वर सूत्र हैं। पहले पांक्तसूत्र में 'कः केन' इत्यादि रूप से जिस पंचधाकृति की विवेचना की गयी है, उनके साथ किं (कर्म) तथा कस्य (सम्बन्ध) को लेने पर पांक्त की भी सप्तधा आतति (Extension) हो जाती है। क्रिया के साथ अन्वय साक्षात् रूप से वैसा नहीं रहने पर 'कस्य' को कारक में नहीं ग्रहण किया जा सकता, किन्तु किंचित किंचित सम्बन्धावच्छिन्न धर्मवत्त्व समस्त कारक में अवश्य रहता है। अर्थात् ऐसा कोई कारक नहीं है जिसमें कोई-न-कोई सम्बन्ध न हो ! अतएव जो सर्व सम्बन्धत्वाभाव प्रतियोगी 'कस्य' है, उसे यद्यपि कारक कोटि से बहिष्कृत किया गया है, तथापि उसे पुनः साधकर लाओ। इस प्रकार से पांक्त का भी सप्तधात्व हो जाता है। अब इन सातों को धन में भी ले जा सकते हो और ऋण में भी।

जैसे 'कः' जप चल रहा है। अनुलोम मे या विलोम में, उदयमुख में अथवा विलयमुख में ? जपक्रिया शुक्ला गति में है या अशुक्ला में ? जिस करण में वागादि

कार्य कर रहे हैं, क्या वह 'अपना है'' सहजस्व छन्द है किंवा उधार लिया हुआ है ? यह स्मरण रक्खो कि वागादि जब तक मध्यमा में नहीं जाते, जब तक 'अपने' (स्वतः) नहीं हो जाते, तब तक वैखरी से कण्ठादि यन्त्र, श्वास वायु आदि से उधार करना पड़ता है। ''कस्मै'' यह देवाय है या असुराय ? "इन्द्रशत्रों प्रवर्धस्व"। यह आहुति धन अथवा ऋण वृत्रासुर के व्याहरण में है ? इस प्रकार धन तथा ऋण को सर्व क्रियाकारक फल रूप समझो। ऋण मात्र ही दोष नहीं है, यह देखा गया है। श्रीमती का प्रेम ऋण शोधन करने गौरराय नहीं आये क्या ? जप विलय मुख में ऋण अवश्य है, किन्तु वह ऋण तो परमधन परशरतन को प्राप्त कराता है ! "ऋणं कृत्वा घृतंपिवेत्''।

पूर्व प्रदर्शित द्विसप्तक न्याय में मन्वन्तर चतुर्दश हैं, भुवन (तनु अथवा पृथु) भी चतुर्दश है। भोग्य तथा भोक्ता भी चतुर्दश ! 'भोगायतन' कहने से यहाँ स्थूल-सूक्ष्म अथवा सूक्ष्म भोक्तृ भोग्यसंघात सम्बन्ध घटक अवस्था का तात्पर्य है। A system of Conditions Causing or helping the enjoying and enjoyed Factors organised and co-operate. यह स्थूल तथा सूक्ष्म भेद से द्विविध है। जैसे परीक्षासागर में जैवरसायन प्रोटोप्लाज्म के समान कोई पदार्थ तैयार किया गया। उसमें प्राण का अनेक चिन्ह पाया गया। किन्तु स्वयं प्राण ? जो सूक्ष्म यन्त्र है, अर्थात् जो जैव वस्तु की हृल्लेखा है, जबतक वह अधिगत नही हो जाती, तबतक प्राण उदित नहीं होगा।

जीव के भोगायतन में व्यक्त तथा व्यक्ताव्यक्त रूपेण पूर्वव्याख्यात यह सप्तक रहता है। यह वस्तुमात्र में है, तथापि जीव में व्यक्त एवं व्यक्ता-व्यक्त रूप से रहता है। अतः 'जड़' के भी जीव होने में वस्तुगत्या बाधा नहीं है। अहल्या पाषाणी तदनन्तर पाषाणी मानवी अथवा देवी। यहाँ इस कोष सप्तक मे से प्रत्येक की धन अथवा ऋण मुखीनता रहती है। जो तटस्थ जीव है, उसका मुख अपरा की ओर है या परा की ओर ? जपादि सर्व साधना का उद्येश्य है कोष तथा आयतन आदि को सम्बद्ध (Link-np) करना। सप्तरूढ़ि अथवा सप्तच्छद द्वारा भी इन चतुर्दश की भावना करो। अब वागादि की विवेचना होगी :—

२०. प्राणमनोगिरामपि ॥

चतुर्दश, प्राण, मन तथा वाक के सम्बन्ध में भी जानो ॥

एको नादो हि विन्दुत्वं त्रिमात्रत्वञ्च गच्छति ।
गच्छन्नपि न स व्येति सप्तयोनिरतो हि सः ॥१८०॥
आविरात्रिश्च भेदेन प्रत्येकं द्विविधं भवेत् ।
आवीरूपेण मात्राणामपावृत्य हि वृत्तता ।
रात्रिरूपेण तासान्तु भूयस्त्वेनावृतिर्भवेत् ॥१८१॥

जैसे पूर्व प्रदर्शित है, एक परनाद स्वयं को द्विधा करते हुये विन्दु-नाद रूपी युग्मक हो जाता है। इनमें प्रत्येक पुनः त्रिमात्र होता है। जैसे पर-अवर-परावर, अव्यक्त (with respect to a given plane or Viewpoint)—व्यक्त—व्यक्ताव्यक्त, भूः—भुवः—स्व (लक्षणानुयायी अर्थ में) उदय सम्बन्धी-विलय सम्बन्धी-सेतु सम्बन्धी इस प्रकार विविध प्रकार से इस त्रिमात्रत्व को ग्रहण किया जा सकता है। मानव व्यवहार पर ही मात्राकृति निर्भर करती है। अभिविधि से मर्यादा विहित होती है। अच्छा ! परनाद इन छ मान में जाकर भी 'स्वयं न व्येति' अव्यय एवं एक है। इसलिये उसे सप्तयोनि कहा गया है। generator of Seven Matrices. इसी सप्तयोनि से नाद का आविर्भाव होता है।

ये सात भी पुनः आविः एवं रात्रि भेद से द्विविध है। आविरूपेण इस सप्तक की अपावृत्त अथवा अपगतावरण रूपी वृत्तिमत्ता होती है। फिर भी सचराचर अभिव्यक्ति में (सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में) अपावरण की कालक्रमिकता भी लक्षित होती है। सब कुछ देशकाल कारणता का सम्बन्ध होकर मानो प्रस्फुटित हो रहा है। रात्रिरूपेण मात्राकला समूह का भूयस्त्व भाव से आवरण छा जाता है। जपादि में आविरात्रि की सन्धि को सजाग रूपेण प्राप्त करना ही होगा। यह स्मरण रखना होगा कि केवल रात्रि का ही नहीं परन्तु आवि का भी आवरण रहता है। जैसे दिन में नक्षत्र चन्द्रमा आदि पर आवरण। पक्षान्तर से रात्रि में भी अपावरण है, आवरण मुक्तता है। जैसे रात्रि में नक्षत्र-चन्द्रमा आदि का दर्शन होना। जबतक द्वन्द्व स्थिति है, तब तक ही है भागदौड़ और 'सिर खपाना'! तब तक कोई भी पूर्ण तथा शुद्ध नहीं हो सकता। केवल मात्र सन्धि में एक ऐसा उदासीन स्थल मिलता है जहाँ दोनों ही कहते हैं ' हम यहाँ और 'भागाभागी' में नहीं हैं। अपना अपना भाग जानकर शान्त हो गये" ! यहाँ हान भी नहीं है, उपादान भी नहीं है। इस प्रकार के हानोपादान रहित तत्व को यथार्थतः इसी सन्धिस्थल में ही प्राप्त किया जा सकता है।

जैसे प्रणवजप। 'अ, उ, म, नाद, विन्दु, कला, कलातीत रूपी सप्तधा ब्रह्म परनादरूप से समस्त का सप्तयोनि है। इनमें प्रथम तीन है कलिता और छठा है कलनी (आद्या)। अंतिम है परब्रह्म स्वयं। सन्धि प्रसंग में लक्ष्य करो कि प्रथम तीन के पश्चात् है प्रथम सन्धि। नाद—विन्दु के मध्य द्वितीय सन्धि। विन्दु तथा कलनी के मध्य (कला के मध्य) तृतीय सन्धि। और कला एवं कलातीत के मध्य में चतुर्थ सन्धि (तुरीय सन्धि)। यद्यपि अर्धमात्रा ही सर्वसन्धि संस्थापिका हैं तथापि यह तुरीय ही आद्यार्द्ध (The Prime Link aud Lead Principle) है। अतः सन्धि है। सार्द्धत्रिसंख्यक (सार्द्धत्रिवलयाकारा) !

सात का आधा यही है साढ़े तीन। यदि ब्रह्मस्वरूप की अंतिम सीमा में जाओ (अर्थात् आद्याकलनी में) तब विन्दु और आद्या के मध्य की सन्धि को कहो अर्द्धा। और अन्तिम से अलग पहचानने के लिये इसका नामकरण करो समर्द्धा (क्योंकि ऋजु एवं समगात्र की ऋध्यमानता यहीं से प्रारंभ होती है)। अच्छा ! अब सन्धि हुई सार्द्धद्वि-ढाई-जिसके प्रसाद से विश्वाभिव्यक्त रूपी पांक्त कर्म होता है। विन्दु को परा संज्ञा प्रदान करने पर इस अर्द्धा को कहते हैं परार्द्धा। इस प्रकार से नाद (विन्दु उदित तथा विन्दु विलीन) और विन्दु की सन्धि को कहो परापर। कलित एवं नाद की सन्धि को अपर। इन सन्धियों में आवरण-अपावरण का अनुपात (भागाभागी) यथाक्रमेण लघु लघीयान्—लघिष्ट तथा लीन होता है। V : P Veiling and presentation अनुपात ! अनुपात लीन होना अर्थात् उससे कुछ हटाने योग्य नहीं है। उसमें कुछ मिलाया भी नहीं जा सकता। (हटाना = Veiler। मिलाना = Fresenter)। अन्वय तथा व्यतिरेक एक ही साथ। The last limit of Both Affirmation and denial. अत: सन्धिसन्धानी जप ही है वास्तविक जप !

त्रिवृत्‌कृतमिदं सर्वं पञ्चीकरणमृच्छति।
एकवर्ज्जं ततः सर्वं चतुर्दशेति गण्यताम् ॥१८२॥
मनश्चतुर्दश ख्याते वाक् चतुर्दश स्वरैः।
चातुर्विध्येन मुख्यस्य प्राणा अपि चतुर्दश ॥१८३॥

गुणत्रयादि (अथवा अ उ म आदि) भेद से सभी वस्तु त्रिवृत्‌कृत् होती है। उनमें से प्रत्येक पुनः पञ्चधामूलवृत्ति के कारण (जैसे पांक्त में) पंजीकृत होना चाहता है। इस स्थिति में ३ × ५ = १५ संख्या होती है। किन्तु इस पंचदशी वृत्ति में मूल "एक" अधिष्ठानादिरूपेण प्रयोजक रहने पर भी, वह स्वयं को अलग रखता है (एक वर्ज्ज)। सर्वकृत—सर्वभृत् होने पर भी अकर्त्ता, अभोक्ता। अतः निखिल अभिव्यक्त में १५–१ = १४ संख्या है। ख्याति को लेकर मन का चतुर्दश, स्वर-वाक् का चतुर्दश। और मुख्य प्राण का चतुर्धात्व + प्राणापानादि दस = १४। यह विभाग अगले सूत्र में परिभाषित हो रहा है :—

२१. मुख्यामुख्यत्वेन प्राणः ॥

प्राण मुख्य एवं अमुख्य दो लक्षणधर्म में है ॥

मूलं यः सर्ववृत्तीनां सर्वप्लेव य उत्थितः।
वेविष्ठे च खरत् सर्वं यः स मुख्य प्रकीर्त्तितः ॥१८४॥
हंसो यः शुचिषद् व्योमेत्यादिभिर्यं ईरितः।
मुख्यत्वं तस्य बोद्धव्यमृतं बृहमिति श्रुतम् ॥१८५॥

क्षपामपेक्ष्य हंसः स सोऽहमाविरपेक्ष्य च।
अनाहर्ताविभेदेन हंसताक्ष्यादिरूपभाक् ॥१८६॥

मुख्य प्राण चतुर्विध है, यथा आग्नेय, वैद्युत, सौर तथा चान्द्रमस। अमुख्य प्राण की संख्य दश कही गयी है। अतः प्राण की संख्या है चतुर्दश। इस तथ्य को अगले सूत्र के अवसर पर विवेचित किया जायेगा। वर्त्तमान सूत्र में प्राण का मुख्यत्व ही प्रदर्शित किया जा रहा है। ब्रह्म सर्ववृत्तिरूप होकर जिस मूल 'अणन' को ग्रहण करते हैं, वह सर्वसंप्लव (विलय) में उत्थित किंवा जागरित रहता है। जो आकाशवत् (खवत्) निखिल में व्याप्त रहता है, वह भी मुख्यप्राण ही है। इसीलिये मुख्यप्राण में अणनत्व, अप्लवत्व, तथा अखण्डत्व रूपी गुणत्रय रहते हैं। अणन का क्या तात्पर्य है ? अण+अन। अण् धातु को गत्यादि किसी अर्थ में लो, मूल विश्लेषणी दृष्टि से अण्=अ इ उ ण् है, इसे नहीं भूलना चाहिये। अ इ उ रूपी आद्य स्वर ही निखिल की तीन मूला वृत्ति हैं। ये मूल माहेश्वर सूत्र के आदि हैं। चतुर्दश भी मनमाना, यादृच्छिक (arbitrary) नहीं है। अंतिम यह 'ण' भी ? 'अ' अक्षर सामान्याधिकरण an unchanging-undifferentiation prime given है। यह है ब्रह्माक्षर की सर्वाधिकरणता। इसमें 'ण' का योग करने से क्या हुआ। इस अधिकरण में इद्ध तथा उर्जित रूपी भावद्वय की काष्ठा को प्रदर्शित किया गया है।

प्रथम काष्ठा में है विकिरणवृत्तिता, द्वितीय में है उहनवृत्तिता की मुख्यता। उह से व्यूह आदि। एक है Expanding principle, दूसरा है organising principle. यदि इन दोनों को किसी तल (plane) में ले जाये तब यह विदित होगा कि इनका शेष फल है 'अन्'। ('न' को तवर्ग का अंतिम वर्ण कहते हैं)। किन्तु यदि इन दोनों (इ-उ) को किसी तल विशेष में हम आबद्ध न करें (यह स्मरण रक्खो कि दन्त्य 'न' में तल विशेष तथा फल विशेष में आबद्धता का भाव है। 'न' कहता है "यहां तक ही, और नहीं") और इन्हें विशेष तल फलयुक्त करें, उस स्थिति में इसमें मूर्धन्य 'ट' वर्ग का अन्तिम वर्ण 'ण' लगा दो। टवर्ग है टङ्कार वर्ग। खीचे हुये धनुष में यह वर्ग टङ्कार देता है। इस टवर्ग में 'तवर्ग' के समान विशेष तल आदि में आबद्धवृत्तिता नहीं है। It releases and raises to a maximum what is confined to and contained in a given plane. अतएव टवर्ग में उदवृत्ति, उन्मेष धर्म है। to grow unfold. त वर्ग में जो बद्ध एवं संकीर्ण है; वही 'ट' वर्ग में मुक्त तथा उदार हो जाता है। यह है विशेषतः प्राणधर्म ! 'ट' की काष्ठा है 'ण'। प्राण ने इस 'ण' को प्रकृष्टरूप से ग्रहण किया है। अर्थात् यदि 'ण' को अच्छी तरह से पहचानना हो, उस स्थिति में प्राण में जाओ। प्राण ही है 'ण' का मूल भाण्डारी। मुख्य प्राण को 'ण' प्रतियोगिता में उपलब्ध करना होगा। जो प्राण 'अन्' प्रतियोगी है, वह प्राण तल फलादि सम्बन्ध विशेष से अवच्छिन्न है

Limited to special plane and effect relation, अर्थात् इसमें मुख्य प्राण ने अपने स्वत: स्वाच्छन्द्य भाव की बलि किंचित् परिमाण में दिया है। प्राण के अभाव में लीला नहीं हो सकती। ब्रह्म की जो निजशक्ति इस 'अम्' को प्रकर्ष परिसीमा में नियोजित करती है, वह शक्ति लीला सम्बन्ध में है योगमाया। अब अण् को पूर्व व्याख्यात वामा में ले जाओ ण + अ = ण। इसके आगे लगाओ उन्हें जो निखिल प्रकृति के "वामाय" का आकर्षण करते हैं। अर्थात् कृष्। क्या बना? कृष्ण-प्राण का परम आकर्षक!

प्राण शब्द में जो प्र + अ + ण + अ रूपी चतुराक्षर हैं, ये चारो ही प्राण के मुख्यत्व के निरूपक हैं। 'प्र' द्वारा सत्ताशक्ति छन्दादि को प्रकर्ष मान में ले जाना भासित होता है higher and higher value. प्रकर्ष कहने पर कला प्रसंग आ जाता है। अत: 'प्र' देता है मुख्य प्राण का चान्द्रमसरूप। प्राण चाहता है सब कुछ को पूर्ण कला में प्रस्फुटित करना और लय कला सब कुछ को विलोम में ले आती है। प्रथम 'अ' अग्नि। अग्नि के अधिक्रमण में ही सब कुछ का अंकन (Informing) होता है। यह है आग्नेय। 'ण' किसी तल फलसंस्थान के अवष्टम्भ (Inertia-boundedness) को मुक्त-उदार करने के लिये कहता है "यहाँ क्यों बंधे हो। तुम स्व छन्द में अपनी उद्वर्त्तन परिसीमा में चले जाओ"। प्र = Informing, ण = urging. 'प्र' देता है परिकल्पन। 'ण' देता है संकल्पन। यह Prime Dynamic Lever है प्राण का वैद्युतरूप। जो भूमि विशेषत: द्युतिमत् है, उसमें जो लय है वह है वैद्युती। 'विशेषेण द्योतते' जो मुख्यप्राण भर्ग: को 'वरेण्यम्' रूप से परिलिक्षित कराये। जो इस त्रितय को संहतमण्डल कर लेता है, वह मुख्यप्राण है सौर (अन्तिम अ)। संहतमण्डल = मुख्यप्राण (आदित्य = अवर्ण) स्वयं नाभि से प्राणिमात्र की अर नेमि संस्था का विस्तार एवं विधारण करता है। इस प्रकार से संहतमण्डल होने पर प्राण का पूर्वोक्त चतुर्विधरूप यथाक्रमेण नाभि (सौर), अर (अग्निज), नेमि (चान्द्रमस) एवं संहति (वैद्युत) हो जाता है।

प्रथमत: प्राण के तीन मुख्यधर्म अणनत्व, अप्लवत्व तथा अखण्डत्व (ख वत्) की उपलब्धि हो चुकी है। तदनन्तर अणवत्त्व धर्म (प्रपूर्वक) का विश्लेषण करने पर पूर्वोक्त चतुर्विध की उपलब्धि हुई। अत: अणन को एक (सामान्य) मान लेने पर मुख्य भी सप्तविध हो जाता है। इनमें से प्रत्येक का धन-ऋण रूप उपलब्ध करने पर इसकी संख्या है $7 \times 2 = 14$

धन है सोम, ऋण है अग्नि। इस स्थिति में मुख्य प्राण की है अग्नि-षोमीय भावना। पहले प्राण को सप्तधर्मा या सप्तार्चि: कहा गया है, उसमें से प्रत्येक की अग्निषोमीय भावना विभावनीय है। अग्नि के साथ यदि अर्चि: शब्द रखते हैं तब

सोम को सप्तरोचि: कहा जा सकेगा। एक है प्राण का ज्योतिक्रम। दूसरा है प्राण का रोचिक्रम। मुख्य प्राण में इस द्विविध क्रम का ही अणनत्व, अप्लवत्व तथा अखण्डत्व रहता है। अर्थात् मुख्यप्राण में ज्योति: रोचि: दोनों ही कहती हैं "हम प्लवरहित तथा छेदरहित भावेन संवर्द्धमान हैं। A fullness of the urge to grow and become, which is never submurged or interrupted. फिम्बहुना सृष्टि के मूल में यदि ब्रह्म मुख्यप्राण नहीं होता, तब सृष्टि की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती थी।

वेदोक्त हंसवती ऋक् में यही मुख्यप्राण "ऋतं बृहत्" रूप से श्रुत हो रहा है। इसी ऋतंबृहत् को पहले समझाया भी जा चुका है। प्राण प्रसंग में इसका पुन: अनुधावन करना है। The urge to-be and become, unchallenged and unimpeded.

अन्त में कहा गया है कि क्षपा-रात्रि की अपेक्षा रहने पर प्राण की संज्ञा है हंस:। क्षपा अर्थात् आवृत्तिभूयस्त्वेन वृत्तिमत्ता The Dominance of veiling and inhibiting factor. आवि:=आपावृतिभूयस्त्वेन वृत्तिमत्ता, The Dominance of unveiling and releasing factor. प्राण=सोऽहं। अमुख्य-मुख्य प्राण प्रसंग में इनकी चर्चा पुन: होगी। आघात तथा अनाघात का भेद स्मरण रखना होगा। इन भेद का स्मरण करके पुन: पूर्वोक्त हंस तथा ताक्ष्यादि सूत्रों का चिन्तन करो।

क्या मुख्य प्राण की हंस संज्ञा संगत है? श्रुति में 'हंस:शुचिषत्" क्या यही नहीं कहा है? तब भी क्षपा की 'अपेक्षा' हंस क्यों कहा? क्या यह व्यामिश्र वचन तो नहीं है?

आगे वाले सूत्र में यह देखना है कि 'हंस' इस व्यामिश्रग्रंथि का मोचन हुआ अथवा नहीं।

२२. अमुख्या दश चत्वारो मुक्या: ॥

अमुख्य प्राण हैं १०. मुख्य हैं ४॥

हंसवती ऋक् में उद्दिष्ट 'ऋतबृहद्' रूप हंस: निसंदिग्ध रूप से ब्रह्म की मुख्य प्राणरूपता है। किन्तु तद्रूप होने पर भी हंसवती ब्रह्म नाना उपाधि तथा आकृति में बहुधा निषण्ण तथा जात होते रहते हैं। सब कुछ में अनुप्रविष्ट होकर, उन-उन उपाधि तथा आकृति में वे जातवत् हो जाते हैं। मन्त्र के 'सत्' शब्द में हंस का Imanence है, 'जा' शब्द में Involution है और 'ऋतंबृहद्' में है Transcendence. हंस सर्वभूत समूह में प्रविष्ट तथा संजात होने पर भी सर्व अतिक्रमी हो जाते हैं।

जीव के प्राणन् व्यापार में जो अजपा (हंस) है, वह यही संजात्वत् हंस है। संजात होने के लिये Individual के अन्नमय कोष आदि संघात की अपेक्षा रहती है। समष्टि में (cosmically सत् रूप से अनुप्रवेश से) समष्टि संघात की अपेक्षा रहती है। संघातमात्र में क्षपा की आवरणी तथा रोधनी वृत्ति भूयस्त्वभावेन रहती है। अतः हंस में प्रथम स्थलद्वय में क्षण की अपेक्षा रहती है। सत् एवं 'जा' के मध्य में क्षपापेक्षागत् भाव भी भावनीय है। जैसे पृथ्वीमण्डल में संचारीवायु तथा जीव के नाक के अन्दर चरणशील वायु। पहली में है व्यष्टिसम्पर्क रहित उदारभाव तथापि यह 'ऋतंबृहद्' के लक्षणान्तर्गत् नहीं है।

चाहे क्षपा की अपेक्षा से हो अथवा आवि की अपेक्षा से, भूयस्त्व कहने मात्र से काष्ठा का प्रसंग उत्थित होता है। भूयः तो बोझ रहा है, परन्तु क्या भूयिष्ठ वही कहता है ? यदि क्षपा आवरणी होकर हंसः के विन्दु प्रतियोगी अनुस्वार को पूर्णतः आवरित करे और रोधनी बनकर नाद प्रतियोगी विसर्ग का पूर्णतः रोध करे, तब फल हैं ह्स। यह उच्चारण योग्य नहीं है। और गणित के i के समान काल्पनिक Imaginary fourmula हो जाता है। मानो हस अब क्षपा के पूर्ण ग्रास में आ गया। सृष्टि में यह कहीं भी वस्तुतः नहीं है। नाद तथा विन्दु वास्तव में कभी भी रोधावरण में नहीं जाते। व्यवहारतः सृष्टि में जो फारमूला प्राप्त होता है, वह है हमारा पूर्व परिचित "ह्सौ"। जड़ाणुकेन्द्रादि (Material Nuclei) प्रभृति स्थलों में प्रतीत होता है कि प्राण नहीं है। उन सब स्थलों पर भी 'ह्सौ' की व्याप्ति है। ह् = nucleus या inner Ring-of mass Energy Fission अथवा fusion में उक्त ह्सौ के अनुपातमान को असामान्य पर्याय में लाना होता है किंवा असामान्य पर्याय में आ जाता है।

पक्षान्तरेण हंस में आवि की अपेक्षा होने पर प्रथमतः वृत्ति वामा होकर सोऽहं हो जाती है। तदनन्तर मध्य में ऊँ—हौंसः' अन्त में 'ह' तथा 'स' रूपी पक्ष को छोड़ देने पर शुद्ध ऊँ।

जीवसंघात में इड़ा-पिंगला सुषुम्नारूपी संज्ञात्रय को जानो। नाड़ी में यह संज्ञात्रय परिच्छिन्न भाव से उदाहृत हैं। संज्ञा में दक्षिणा = पिंगला। प्राण इसमें है दक्षिणावृत्ति जिसमें सः (नाद के सिंचित Radiated रूप की) मुख्यता है। यह मुख्यता है outgoing function की। वामा = इड़ा। प्राण इसमें रहने पर वामा-वृत्ति है, जिसमें 'हं' की मुख्यता है, अर्थात् विन्दुमुखीनता की मुख्यता। जपध्यानादि शान्तिकर्म में इसी वामावृत्ति को प्राप्त करना है। अथच, इन दो नाड़ी से हंस की क्षपापेक्षाग्रंथि का "मोचनत" नहीं होता। जो प्राकृत अजपा है, वही चलता रहता है। जीव है पाशबद्ध। पिंगला में दक्षिणा की वामता, इड़ा में वामा की वामता तब भी रहती है। सुषुम्ना संज्ञा में आने पर होता है ग्रंथिपाश मोचन अनुक्रम। त्रिपर्व

में यही ग्रंथिमोचनादि होता है—सोऽहं, हौंसः, शुद्ध ऊँ। सुषुम्नामूल में सोऽहंरूपेण हंस की जो वामा वृत्ति है, उसके द्वारा वामा का वामत्व (untowardness) कटता है। अर्थात् पहले जो इड़ा के समान था, वह अब वामा में आने पर भी 'वाम' नहीं रह गया। The return (Journey) current to start in right Earnest now. किन्तु जिससे वह वामानुक्रम में, अथवा छन्दोवीर्यादि के दाक्षिण्य में आता है, उसके लिये क्या करना चाहिये ? वामा का जो वामता बीज है एवं सम्वेग है, उसे जय करने के लिये उसे पुनः हंसः रूप से दक्षिण करो you again reverse current. फिर से वही 'पुनर्मूषिक' ? नहीं-नहीं। मध्य में ओंकार बैठा है, हौंसः।

आज्ञा चक्र में (at the prime control centre in an organism) स्वयं ऊँकार ही अक्षर के स्वतः प्रशासन रूप से स्थित है। वही ऊँ 'ह्' तथा 'स' के मध्य में रहकर इन दोनों की दक्षिणा-वामा वृत्तियों को तथा इन दोनों में अधिष्ठित विन्दु-नाद को द्वन्द्वभूयस्त्व से लाकर स्वतन्त्र निर्द्वन्द्व में धारण करता है। अर्थात् दक्षिणा-वामा के अनुलोम विलोम में जो कुछ चल रहा है, वह साङ्ग हो जाता है। हंसः तथा सोऽहं के बीच की खींचाखींची अब नहीं रह जाती। मुख्य प्राण ऋतं-बृहद्रूप ले लेता है। साथ ही अहम् तथा 'सत्यं महत्' से स्वयं को मिला लेता है। बृहदृतम् तथा महानात्मा मिल जाते हैं। साथ ही नादविन्दु (शिवशक्ति) में द्वन्द्वरूपेण (as polar) जो भूयस्त्व (supercharging, as on the plates of an Electric condenser) चलता है, वह भी द्वन्द्व का परिहार करते हुये भूयिष्ठ स्वतन्त्र (ultimate ownness of Being Power) में सम्मिलित हो जाता है। यही महासंघटन घटित होता है हौंसः मन्त्र से।

सुषुम्ना में जो 'आ' है, वह इसी आज्ञा चक्र में आकर मानों एक सीमा अथवा काष्ठा का प्रदर्शन करता है। कहता है, "मुख्यप्राण की दक्षिण वामा यहाँ अभिन्ना है। अतः सम्पूर्णा है। सः तथा हं का अविराम दोलन तुम हो। इसके साथ समस्त-विम्व आंदोलित हो रहा है। वह दोल (प्राकृत) अब शान्त हुआ। हौंस ही विन्दु-नाद-कला की समता पूर्णता का स्थल है। जप में विन्दु विलय में समता आती अवश्य है, किन्तु वह समता शून्यता का ही पृष्ठ तुम्हारे सामने लाती है। पूर्णता के पृष्ठ को गोपित रखती है।" 'हौंसः' इसी पूर्णता समापन का मन्त्र है।

किन्तु शून्यता ? जैसे प्रपञ्चोपशम शान्तं शिवमद्वैतम् ? शून्यता = साकल्य शून्यता तथा नैष्कल्य शून्यता। इन दोनों के लिये "हौसः" को हटा दो। प्राप्त होता है "हौं"। यह साकल्य का बीज है। इसमें 'ह' रूपी साकल्य का लोप नहीं है। पराविन्दु में लय प्राप्त हुआ है। इसमें "औ" विन्दु नाद-कला का परत्व प्रदर्शित करता है। कला को कहो 'आ' और नाद को कहो 'उ', आ + उ = ओ। तदनन्तर

नैष्कल्य के लिये 'ह' को छोड़ दो। अन्त में शुद्ध ऊँ। शुद्ध निरंजन समापत्ति में यही शुद्ध ऊँ साधन है।

आज्ञाचक्र में 'ह तथा क्ष' अक्षर द्विविध परावृत्ति के साधक तथा लिंगक के रूप में रहते हैं। इन दोनों के साथ ऊँ अधिष्ठित हो जाने पर है हौं तथा क्षौं। प्रथम से सकल विलय शून्यता की तथा द्वितीय से सकल पूर्णतावसान की सूचना मिलती है। इसमें मुख्य प्राण की सकल विधायें महाप्राणवर 'ह' कार में, कारणाकार में (As Radicles) समाहृत रहती हैं। अतः मुख्य प्राण की समस्त कला पूर्णता में कलित (as evolvents and evolutes) होकर समाप्त हो जाती हैं। दोनों में Perfect potency (हौं) तथा Consummated potency (क्षौं) अभिमुख (In one pointedness) में परिलक्षित होती है। इन दोनों के साथ अग्निबीज 'र' को युक्त कर देने पर हो जाता है ह्रौं तथा क्ष्रौं। पहला है साकल्यलय का वीर्यरूप, जैसे कालाग्निरुद्र। द्वितीय है साकल्य समाप्ति का 'उग्रंवीरं' रूप जैसे भगवान नृसिंह !

मुख्यप्राण की जो स्वतोरेता नाड़ी सुषुम्ना है, उसके अन्त में 'आ' है। वह 'आ' जिस आज्ञाचक्र में ले आता है, उस आज्ञा का आज्ञापन संक्षेप में हुआ। मुख्यप्राण के संलय एवं समाप्ति रूपी मुखद्वय का शेष संधिस्थल है यही आज्ञाचक्र ! सुषुम्ना में जो दो 'उ' हैं, उनमें से प्रथम 'उ' मुख्यप्राण 'हंसः' की जातिग्रथि का भेदन करता है। फलतः अब हंसः जात अथवा जातमान नहीं रह जाता। वह हो जाता है अज एवं नित्य। सुषुम्ना का दूसरा 'उ' मुख्य प्राण हंस की सत्तिग्रंथि का वेधन करता है, फलस्वरूप यह मुख्यप्राण किसी संस्थाविशेष में निषन्न तथा प्रत्यासन्न नहीं होता। वह हो जाता है तत्संस्था सम्बन्धमुक्त। मूलाधार में कुलकुण्डलिनी जागृति में सुषुम्ना का यह प्रथम 'उ' वृत्तिमान रहता है। दूसरा 'उ' वृत्तिमान रहता है अन्य चक्रो के भेदन में। सृष्टि में मूलसंस्था रूप से पृथ्वी-जल प्रभृति कतिपय तत्व रहते हैं। इन चक्रों में 'व्योमसत्' आदि रूप से जो 'हसः' है, उसे उन सस्थाओं से मुक्त "ऋतं बृहत्" रूपेण प्राप्त करना होगा, अन्यथा मुख्य प्राण को उसकी यथार्थ मुख्यपरिसीमा मे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

आग्नेयो वैद्युतश्चान्द्रः सौरश्चेति चतुर्विधः।
मुख्योऽयमग्निहोत्रञ्च नित्यमाग्नेय इज्यते ॥१८७॥
मिथुनीकृतवृत्तित्वं ये न स वैद्युतो मतः।
छन्दसा वृत्तिमत्वञ्च चान्द्रमसेन कल्पितम्।
सूते सरति चाध्यक्षः सौरः स विश्वनाभिभृत् ॥१८८॥

आग्नेय, सौर, चान्द्रमस एवं वैद्युत, ये चतुर्विध मुख्यप्राण पूर्वसूत्र में विवृत हुये हैं। संक्षेपतः प्राण अग्निरूप से सब के अर का अंकन एवं विस्तार करता है।

वह सौररूप से नाभि का तथा चान्द्रमस रूप नेमि का कल्पन भी करता है। और सर्वमिथुनी भाव की कल्पना करते हुये जो उसकी संहति की रक्षा करे, वह है वैद्युत। एक ही साथ Principle of polar dissociation and association, Thesis—antithesis, synthesis.

इस सृष्टिरूपी अग्निहोत्र में आग्नेय मुख्यप्राण का यजन हो रहा है। विश्वाग्निहोत्र की भावना जड़ आदि समस्त पदार्थ में करो। देह में प्राणाग्निहोत्र तो सर्वत्र प्रसिद्ध है। शरीर में इड़ा तथा पिंगला की स्त्रुवा के द्वारा नित्य अग्निहोत्र चलता रहता है। अन्तस्तल में चलता है मन तथा अहम् की स्त्रुवा से। किन्तु यह यजन चाहे जहां जिस किसी रूप से क्यों न हो, उसमें किसी न किसी आकृति में मिथुनी भाव रहता ही है। जैसे क्रिया-कारक। क्रिया तथा क्रिया फल। जड़ में केन्द्रीण-चक्रीण का मिथुन। धनशक्ति-ऋणशक्ति। इस मिथुन का संहत वृत्तिता में योग न होने पर सृष्टि में कहीं भी कोई संघात नहीं होता। इसका संघटक है मुख्यप्राण का वैद्युतरूप। मनन में अन्वय, व्यतिरेक में निगमन।

जो वृत्तिमान होना छन्दसा तथा अभिविधिपूर्वक है, उसे चान्द्रमस रूप कहा गया। इसके द्वारा मुख्यप्राण निखिल सर्गकला की मर्यादा का भरण तथा रक्षण करता है और जो मुख्यप्राण विश्व की (निखिल की) नाभि में सविता, अध्यक्ष रूपेण विद्यमान है, जो 'सरण' करता है, वह है सौर प्राण। सरण = ऋण, धन की वहमानता (out-flow and Inflow.)।

यदि इस स्थूल विश्व को एक विराट आणववस्तु मान लो, उस स्थिति में तब उस यन्त्र के केन्द्रीण (Nuclear) को प्राप्त करने के लिये उसका भण्डारी है सौर मुख्यप्राण। इसके समग्र शक्तिविकिरण का क्षेत्रपाल (फील्ड मार्शल) है आग्नेय मुख्यप्राण। सभी क्षेत्रों में जो क्षेत्र है, उसका जो पोषण (Fertile) एवं भरण (Breeder) करता है, वह है चान्द्रमस। सर्वत्र जो धन-ऋण रूपी द्वन्द्व संभावित करता है, उस द्वन्द्व की संहति में नव संघात की सृष्टि करता है, वह है वैद्युत। सृष्टि के समस्त को Put-up करता है सौर प्राण। Burned करता है आग्नेय। make up and keep up करता है चान्द्रमस। Link up and Set-up करता है वैद्युत।

केवलमात्र स्थूल विश्व में ही नहीं, प्रत्युत् जपादि वाचिक आध्यात्मिक अनुबन्ध में भी मुख्यप्राण के इस चतुर्विध रूप को प्राप्त करो। क्योंकि प्राण 'एवेदं सर्वम्' है। जप में व्यक्त नाद आग्नेय है। मर्यादा के साथ कलावितान में चान्द्रमस है। उदय-विलय विन्दुसन्धि में सौर का और सेतु-सन्धि मेरु इस त्रितय का संस्थापक रूप है वैद्युत। अतएव अर्धमात्रा विशेषतः वैद्युती है। स्वयं विन्दु में आद्याशक्ति की कूर्मरूपता में यही चतुष्टय है साकल्यतादात्म्यसंवृत। साकल्यतादात्म्य में कलित

विशेष अपास्त (Equilibrated) अवश्य है किन्तु निरस्त (Negated, Reduced to zero) नहीं हैं।

इसके पश्चात् आग्नेयादि का विभेद किया जाता है :—

दाहक: पाचकश्चाद्यो वैश्वानर इतीरितः।
दह्नदहरभेदेन सोऽपि द्विधा प्रकल्पितः ॥१८९॥

सर्वत्र आग्नेय दाहक तथा पाचक (Burner and transmuter) है; जैसे minerals में Coal,petrol प्रभृति metastable पदार्थों को लेकर अपेक्षाकृत Stable पदार्थ में परिणत करने वाला भी आग्नेय है। इसी प्रकार रेडियो एक्टिव भी है। प्राणीदेह में आग्नेय प्रसिद्ध है। विश्व में (मानस में) भी इस दाहक-पाचक को कहते हैं वैश्वानर। "अहं वैश्वानरोभूत्वा" का स्मरण करो। यह दह्न तथा दहर रूपेण द्विविध है। प्रथम हैं (दह्न) वैश्वानर का बीजरूप। द्वितीय है सूक्ष्म अंकुररूप। बीज में अव्यक्त कारणता पिण्डीकृत (untreated) है, अंकुर में सूक्ष्मकार्यरूपता पुंजीकृत है। यह भेद बहिः तथा अन्तः सर्वत्र ही सविशेष रूप से अनुधावन करने योग्य है। दृष्टान्त द्वारा परीक्षण करो। दह्न में 'अ' नहीं है। दह (दहन) को तत्काल (Immediately) 'र' (अग्नि) रूप से जो स्थित रक्खे, वह है दह्न। A power mass without reference to an intervening medium. अतः (बहिक्षेत्र में) Continuum में Carpusularity and quarta भी दहर में प्रसज्जमान हो जाता है। मानों दहर में मुख्यप्राण प्राणाणुत्व को अंगीकृत् करता है। महानात्मा एवं हिरण्यगर्भ का प्रसंग भी याद करो।

धनर्ण द्वन्द्वभाग यस्तु चार्कषति विकर्षति।
वैद्युतः सोऽसवःप्राणा अस्यतेरुत्समन्वयात् ॥१९०॥
अस्रानस्त्रविभेदेन वैद्युतोऽपि द्विधामतः।
अस्त्रभेदेन सौषुम्नोऽन्यथेड़ादिषु वृत्तिमान् ॥१९१॥

जो मुख्य-प्राण धन—ऋण रूपी द्वन्द्व को अंगीकार करते हुये आकर्षणी-विकर्षण से वृत्तिमान हो जाता है, वह अणु संज्ञायुक्त प्राण है। उस्+उ के फारमूला मे आ जाता है। अस् में विक्षेपण। 'उ' में संकुचन। इन दोनों का संहति समन्वय वैद्युत में हो जाता है। विक्षेपण से सब कुछ द्वन्द्वस्थ होता है नाभि—अर—नेमि रूप में। संकुचन में वे पुनः सम्मिलित तथा संहत हो जाते हैं। हमारे देह के निश्वास- प्रश्वास में तथा हृत्स्पन्दन में यही अणु आकृति निरन्तर परिलक्षित हो रही है।

अस्त्र तथा अनस्त्र भेद से वैद्युत भी द्विविध है। असु अथवा अस् यदि अग्नि को पुकार कर कहते हैं "तुम हमारे वृत्तिलेख को पद्म अथवा अन्य पुष्प के समान

बनाकर उन्हें अंकित करो।" तब क्या होगा ? अस्त्र आकृति आई। जैसे साधारण वृत्त में एक ही परिधि। इसमें समान दूरी के चार विन्दु लेकर दो दो सुषम (Symmetrical) वक्ररेखा में यदि उन विन्दुओं को केन्द्र के साथ युक्त करें, उस स्थिति में यह वृत्त एक चतुरस्त्र-चतुर्दल हो जाता है। (चार-सुषम दल की चार अक्षर रेखाओं को विशेषतः कहते हैं अस्त्र)।

अब देखो—वैद्युत प्राण में "सौषुम्न" नाम आया किस प्रकार से ? यदि वह अस्त्रभेद कर्मा हो जाता है ! अर्थात् यदि वह मूलाधार में चतुरस्त्र, स्वाधिष्ठान में षडस्त्र इत्यादि वागादि के संस्था व्यूह भेदकर्म में प्रवृत्त हो जाये। यही कर्म इस सौषुम्न विशेषण द्वारा द्योतित हो रहा है। अन्यथा इड़ा-पिंगला में जो प्राणन् चल रहा है, वह अनस्त्र वृत्तिता में वैद्युत का सन्धान करेगा। प्राणायाम में श्वास जप आदि में यही संधान प्राप्त करना होता है। किसका सन्धान ? कौन इस सूर्य-चन्द्र नाड़ीद्वय को द्वन्दस्थ करके आकर्षण-विकर्षण अथवा प्राणापान वृत्तिता के द्वारा शरीर के प्राणन 'समूह' का निर्वहन कर रहा है ? उसका सन्धान। समूह=सम्मिलितरूपेण, संहति में उहन। जैसे ह्रीं बीज। इसमें मुख्यप्राण ही 'ह' में सौर, 'र' में आग्नेय, 'ई' में चान्द्रमस तथा चन्द्रविन्दु में वैद्युत रूप हो जाता है। यहाँ यह देखो कि 'ई' अथवा चान्द्रमस ही चन्द्रविन्दु अथवा वैद्युत को शीर्ष पर धारण करता है।

छन्दोभिवृत्तिमान् योऽपि सर्वस्वच्छन्दताजनि :।
हंसः सोऽहमिति द्वन्द्वस्तस्मिश्चान्द्रमसे स्थितः ॥१९२॥

जो छन्दोरूपेण वृत्तिमान है, एवं जो सर्वत्र स्वच्छन्दता का आधान है, वही है चान्द्रमस प्राण। हँस अथवा नाद, सोऽहं अथवा विन्दु, इन दोनों का जो द्वन्द्व सर्वत्र देखा जाता है (Polar Dissociation) और जिस द्वन्द्व का समाधान (Resolution) होता है चन्द्रविन्दु में (पूर्व कथित वैद्युत में), वह द्वन्द्व किस अधिकार मे है, Pertains to what ?

उत्तर—"चान्द्रमस में। जो कि सर्वत्र छन्दोगमूर्त्ति है, कला-सुषमतान्वयाकृति है।" जैसे 'ई'। यह कला का छन्दोगत्व दिखलाते हुये कहता है मैं नाद में नहीं जाऊँगा। विन्दु में जाऊँगा। ईः में नहीं ईं में।" जो वैद्युत है अर्थात् चन्द्रविन्दु है, वह इस गति स्थिति में आकर कहता है "किसी भी इस अथवा उस द्वन्द्वस्थ में मत जाओ। संहति में आओ। अर्द्धमात्रा में अन्वित हो जाओ।" कोई गति (छन्दोगा) (uniform or harmonic process) एक मेरु में आकर अपने स्वगत द्वन्द्व (Inner antithesis or opposition) का आविष्कार करती है। परिणाम है गति संकट। जपादि साधना में भी। तब आवश्यकता है अधिकतर व्यापक तथा मौलिक अन्वय (Synthesis) में दोनों को प्राप्त करना। जड़ विज्ञान वाले स्थूल (Me-

chanical) तथा सूक्ष्म (Chemical) पर्व द्वन्द्व के समाधानार्थ अणिस्थ वैद्युत मण्डल में (Nucler Physics) जा रहे हैं। साधारणतः वाक् में आग्नेय मुख्यप्राण मानस में चान्द्रमस, बुद्धि-बोध में सौर तथा आस्मिता में वैद्युत प्राण को देखो। अस्मिता = the Root Principle of polarity (अहं-इदं), and of Affiliation, अस्मिता व्यस्त करती है इदन्ता को और वह अपर एवं इतर को अपना बनानें लगती है।

विश्वनेम्यर-संयोगनाभिता सौरमाश्रिता।
हिरण्यगर्भ आदित्यो यद्वेधेऽत्येति चक्रताम् ॥१९३॥

तदन्तर, सौर मुख्यप्राण। जिस नाभि में विश्वनेमि के अरसमूह समर्पित हैं, वह नाभिधर्म सौर का आश्रय लेता है। आर्य प्रज्ञान में यही सौर मुख्यप्राण है हिरण्यगर्भ तथा आदित्य। मुख्यप्राण तो कदापि असुर विद्ध नहीं हो सकता। फिर भी विन्दुमुख स्वर (नाद) तथा अग्र्याबुद्धि के द्वारा यदि विश्वचक्र नाभि सौर विद्ध हो जाती है, तभी इस भुवनचक्र से अतीत हो सकना सम्भव है। अग्र्याबुद्धि = वह बुद्धि जो ब्रह्मैकलक्ष्य निश्चया होकर अपने अध्यवसाय को लक्ष्य वेध के योग्य बना ले। जैसे अर्जुन का लक्ष्य भेद !

प्रद्युम्नाकार आग्नेय उत्सङ्कर्षणवैद्युतः।
मेत्यनिरुद्धचान्द्रत्वं महासङ्कर्षणः परः ॥१९४॥

प्रणव के अ उ म तथा पर में आग्नेयादि का सन्धान करो। साथ ही भगवान के चतुर्व्यूह में भी। अ = आग्नेय, प्रद्युम्न। उत् = उकार = वैद्युत = संकर्षण। मकार = चान्द्र = अनिरुद्ध। पर = नाद-विन्दु-अर्द्धमात्रा। यह पर ही परतत्व वासुदेव हैं। ये हैं नाद विन्दुरूपेण सौरमुख्य प्राण। अर्द्धमात्रा रूप से यहीहैं अपने से अभिन्न महासंङ्कर्षण (अनन्त)। इस स्थिति में संकर्षण हो उत् एवं महा को लेकर अवर एवं पर रूपी विधाद्वय को अंगीकृत कर लेते हैं। अतः वैद्युत मुख्यप्राण ने भी 'उ' तथा अर्द्धमात्रा सन्धि में संकर्षण भूमिका प्राप्त किया है। प्रद्युम्न आदि की पूर्वोक्त अर्थव्यञ्जना को पुनः पुनः याद करो।

अब अर्थलक्षण कहा जा रहा है :—

२३. प्राणेन यः प्रणीयते सोऽर्थः ॥

प्राण द्वारा जिसका प्रणयन हो, वह है अर्थ ॥

तेजीयः सर्वमाग्नेयं सर्वं कर्षात वैद्युतम्।
सर्वं समञ्जसं चान्द्रं सौरं सर्वञ्च सर्वभृत् ॥१९५॥
प्राणेन हि प्रणीतत्वं सर्वस्यार्थस्य सर्वथा।
वागर्थप्रत्ययानाञ्च प्राणनवृत्तिरूपता ॥१९६॥

जो कुछ भी तेजीय:, तेजोरूप, अथवा तेजो बहुल है, वह आग्नेयाधिकार में है। जो यत्किंचित् कर्षक है (आकर्षण-विकर्षण रूपेण वृत्तिमान) वह है वैद्युत अधिकार में। जो सुषम.समंजस है, वह है चान्द्र में। जो सबका भरण तथा धारण करता है, वह है सौर अधिकरण में। वाक्, अर्थ, प्रत्यय आदि सब कुछ इस चतुर्धा मुख्य प्राण के प्राणन वृत्तिरूप धर्म में व्याप्त रहता है। इन तीनों में अर्थ को मध्य में रखने पर अर्थ का एक रूप है पद (वाक् का), अन्यरूप हो जाने पर यह प्रत्यय है (मानस का)। एक है अर्थ की word या Sound Body, दूसरा है Mind Body (Impression or Idea)। यह जो अर्थ (object) है, यह सर्वभावेन मुख्यप्राण के ही द्वारा प्रणीत है। प्रणीत = तत्तद् रूप-धर्मन्सम्बन्ध के संघातभाव में वृत्तिमत्ता। उन-उन रूप अथवा आकृति, धर्म एवं सम्बन्ध का संघात (A specific, unified or organised being and functuning) होना। 'अर्थ' शब्द में सौरमुख्यप्राण 'अव्' रूप से आग्नेय, 'थ' रूप से-चान्द्र तथा शेष अकार (अंतिम अकार रूपेण) रूपेण वैद्युत है। ऐसा क्यों है, इस पर विचार करो। 'थ' अर्थ को स्थिति (मर्यादा) देता है। अन्त का 'अ' अर्थ के अपने रूप धर्मादि का कर्षण (Hold Together) करके रखता है। इसी प्रकार वह इतर अथवा अन्य अर्थ व्यावर्त्तन भी करता रहता है। अर्थात् अन्त का 'अ' अर्थ की अभिविधि तथा व्याप्ति को सन्तुलित बनाये रखता है!

अरित्यरस्य संयोगात् थकार इति संस्थिति:।
उर्णनाभोपमप्राणो ह्यरविस्तारसार्थक: ॥ १९७ ॥

अर्थ शब्द में अर् एवं थ को पूर्वोक्त रूपेण इस श्लोक में कहा जा रहा है। अर के द्वारा अर संयोग एवं 'थ' द्वारा संस्थिति। विशेष रूप धर्मसम्बन्धादि हैं अरस्थानीय। 'थ' नेमिरूपेण उनको मर्यादा संस्थिति प्रदान करता है। (अन्त का 'अ' सस्था को अन्वय-व्यतिरेक में प्रदर्शित करता है। कहता है 'तुम इतने से हो, इसके बाहर 'अन्य' हो)। मुख्य प्राण उर्णनाभि के समान अरविस्तार करके सार्थक हो जाता है। पुन: देखो :—

मूलान् मूर्द्धा ततो दन्तस्तस्माच्च मूलविभूति:।
प्राणनेन त्रिकोणत्वमर्थमात्रस्य स्वरुपकम् ॥ १९८ ॥

प्राणन के एक रहस्य त्रिकोण (Triangalar polarity) में 'अर्थ' शब्द को लक्ष्य करो। अ = जिह्वामूल अथवा मूल। र = मूर्द्धा। थ = दन्त। अ = वही मूल। मूल से मूर्द्धा का एक रेखा द्वारा योग करने पर मिलता है अर। मूल अथवा नाभि से कोई शक्ति वृत्ति अनिरूपिता काष्ठाभिमुख (with respect to an undefined limit) हुई। मूर्द्धा से ('र' से) दन्त में (थ् में) आने का तात्पर्य ? जो शक्ति वृत्ति (Lines of Force) अनिश्चित रूप से बढ़ती जा रही थी

उसे किसी एक निर्दिष्ट निरूपण में 'छेद' करना। Restrict it to a given measure, dimension and relation. यह मर्यादासंस्थिति देता है 'थ'। (अर इस 'र' मे हसन्त है, वह मूर्द्धन्यगति की अनिरूपणीयता का लिंग है।) 'थ' से अर हुआ determined and defined. अर्थात् पदार्थ ने Denotation, Connotation पा लिया। अन्त में दन्त्य 'थ' का पुनः मूल (अ) से योग करो। क्यों? मूल (शेष अवर्ण) अर्थ की जो व्याप्ति है, वह ठीक हो जाने पर कहो "तुम्हारा यह मान, वह मान अवश्य है, फिर भी देखो, तुममें मैंने और और मान को साक्षात् परम्परा सम्बन्ध में भर कर रख दिया है। तुम साधारण व्यवहार में चाहे जितने क्यों न हो, वस्तुतः तुम हो सर्वंभृत्। तुममें सब है"। इसी को कहते हैं मूलविभूति। मूल के साथ (जड़ के साथ) संयुक्त रहकर शाखा पत्ती, जो कुछ भी क्यों न निकले, उन्हे मूल से ही सर्व भरणी (पालन पोषण की) प्रतिश्रुति मिलती रहती है। फिर भी मूल से योग रहना ही चाहिये। अतः प्राणप्रणयनार्थं यह रहस्य त्रिकोण सिद्ध हुआ मूल से लेकर मूर्द्धा! मूर्द्धा से दन्त/दन्त से पुनः मूल। दन्त 'छेद' करता है। मूल उसे पुनः ग्रथित कर लेता है। जैसे मां के गले में हैं मुण्डमाला।

अर्थ का यह लक्षण मन में रखकर अब देखो व्यञ्जन किसे कहते हैं :—

२४. स्वराश्रयेणार्थाभिव्यंजकत्वं व्यंजनत्वम् ॥

स्वर का आश्रय लेकर अर्थ का अभिव्यञ्जक होने पर है व्यंजन ॥

प्रत्येकं प्राणवृत्तीनां धत्ते वागादिविग्रहम्।
सामर्थ्यघनताकाष्ठा तस्यैव बीजरूपता ॥ १९९ ॥
अराणां सन्निवेशो यः सम्यक् सोऽपि समर्थता।
सामर्थ्येन हि वागर्थौ प्रणीयेतेऽविनाभवौ ॥ २०० ॥
उदात्तादिस्वरेणैव छन्दसा परिनिष्ठतम्।
व्यंजकत्वं हि बोद्धव्यं सामर्थ्यं स्वरनिर्भरम् ॥ २०१ ॥

पूर्व सूत्रद्वय में मुख्य प्राण का जो सोमादिरूप चतुर्धा वर्णित हुआ है, वह अमुख्य प्राणापानादि दशधा वृत्ति से सहकृत होकर वागादि विग्रह धारण करता है। जो विशेष रूप से गृहीत है = विग्रह। अर्थात् मुख्य ४ एवं अमुख्य १० = चतुर्दश प्राण। यह जब धन ऋण रूपद्वय धारण करता है तब १४ × २ = २८। इनमें से प्रत्येक है स्वल्प एवं भूयान्, अतः २८ × २ = ५६। इनमें से प्रत्येक में विन्दु प्रतियोगिता तथा नादप्रतियोगिता रहने पर ५६ × २ = ११२। इस ११२ में से मुख्य ४ को घटा देने पर = १०८। यह अष्टोन्तरकलाभाक् प्राण सृष्टि में वाक्, अर्थ, प्रत्यय के समस्त विग्रह (Specific assemblage Formulation or Formula) में दृष्ट हो रहा है। यह सबका मौलिक (Elements) है। विग्रह मात्र ही इस सम्बन्ध में हैं मौलिक।

उक्त प्राण से मौलिक संयोगवशात् वागादि निखिल विग्रह का प्रणयन होता है। यदि इस प्रकार के संयोग से सामर्थ्य भी घनता की काष्ठा में आ सके, तब विग्रह है बीज। 'समर्थ' = सम्यक् रूपेण अर्थवत् होना। इसे इतिपूर्व विवेचित किया गया है। यदि वाक्-अर्थ-प्रत्यय की त्रिपुटी में अर्थ को नाभि में से बैठायें, और यदि प्रत्यय हो जाये नेमि, उस स्थिति में वाक् (अग्नि) यहाँ पर है अर। ऐसी स्थिति में यह सहजबोध्य है कि समर्थ मान में विशेषत: अर का सम्यक् सन्निवेश है Proper and perfect disposition of the links of Correlation. एक ओर अर्थ (Object), दूसरी ओर प्रत्यय (Subject's Reaction)। इन दोनों के मध्य सम्यक् सन्निवेश घटित करने वाला = समर्थ। अर अथवा वाक् के सम्बन्ध में इसका विशेष प्रयोजन रहता है।

अब सम्यक् का विचार करो। सन्निवेश २ प्रकार का होता है। घन तथा आतत। एक पौधा और बीज। स्मृति तथा संस्कार। जैसे रील में लपेटी फिल्म और पर्दे पर दिखलाई जा रही फिल्म। एक Macroscopic दूसरी microscopic presentation. यह जो घनता है, वह काष्ठा में आती है. और यही बीज है। जैसे बीज मन्त्र। आतति में विग्रह (विशेषरूप से)।

यह सामर्थ्य धर्म है वाक् एवं अर्थ। साथ में प्रत्यय। यह अविनाभावेन प्रणीत होता है। एक के अभाव में दूसरा नहीं रहता। पहले देखा जा चुका है कि समर्थ वाक् का यही लक्षण है। वाग् एवं अर्थ नित्य-अविच्छेद में सम्पृक्त। जैसे नाम तथा नामी का अभेद। बीज में यही है सामर्थ्य की काष्ठा। प्रणव में शुद्ध काष्ठा। इसीलिये बीज मात्र को प्रणवप्रशासन में प्राप्त करना होगा। गोविन्द हरि बोल आदि नामों को भी।

उदात्तादि स्वर द्वारा परिबृंहित का तथा गायत्री आदि छन्दों के द्वारा परिनिष्ठित व्यजनों का व्यञ्जनत्व निरूपित होता है। क्यों कि पूर्वोक्त सामर्थ्य विशेषत: स्वरनिर्भर है अथवा स्वर पर ही निर्भरशील है। अत: संगीतादि में ही नहीं प्रत्युत जपकीर्त्तनादि में भी स्वर सामर्थ्य की साधना करो। किम्बहुना यह साधना मुख्यत: प्राकृत (अपरा) की नहीं है। जीव यन्त्र की निज प्रकृति परा को जब तक परमानुगृहीता नहीं कर लिया जाता, तब तक यह साधना सम्यक् नहीं होती। फिर जैसे भी हो स्वरवीर्य एवं स्वरसामर्थ्य आना ही चाहिये। अजामिल ने अंतिम काल में पुत्र के कारण नारायण पुकार कर भव मय को पार कर लिया। उस समय उसके द्वारा अनुष्ठित दुष्कृत्यों के बावजूद स्वरवीर्य था, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार के स्वरवीर्य का अतर्कित-अभावनीय संघटन देखकर प्रतीत होता है कि यह आकस्मिक है, परन्तु ऐसा नहीं है। आकस्मिकता की ओट में अनेक

अघटन घटित होते रहते हैं। तब भी साधना में उदात्तादि स्वर और गायत्री आदि छन्द के उपयोग को प्राप्त करना ही होगा।

जैसे लीला कीर्त्तन ! यहाँ निगूढ़ रससंवेदन मुख्य है। फिर भी उस रस-संवेदन में सुरच्छन्दादि का कैसा अपूर्व उपयोग है। वास्तव में सुरच्छन्दता बहिरंग तथा अवास्तविक नहीं है। मुरलीमनोहर नवलकिशोर क्या कहते हैं ? सुर-ताल का जो भाव है, क्या उसकी भावभंगिमा के भंग होने का भय नहीं है ? अन्तर्दशा में भी सुरच्छन्दः को साथ लेकर ही भाव समूह जाता है अपने अन्तःपुर में। यहाँ पर सुर-च्छन्दः एक निबिड़ उज्वल मधुर भूमिका ग्रहण करता है। यदि वह यह भूमिका ग्रहण नहीं करता, तब हमारी यह दशा तो दशदशा के उपर ग्यारह दशा से अधिक और कुछ नहीं है।

व्यंजन तो मूलतः, प्राण में तथा स्वरूप में हमारे प्राणों के प्राण की ही व्यञ्जना अथवा व्यंजन है। यदि 'क' प्रभृति प्रत्येक अक्षर के पूर्व में यह व्यञ्जना नहीं रहती (जैसे प्रह्लाद को मिली थी) तब व्यञ्जना तो एकबारगी है वञ्चना तथा गञ्जना। कुटिला-जटिला। श्रीमती राधा हैं परिपूर्ण व्यञ्जना की परिसीमा। श्रीकृष्ण की मुरली है निरतिशय स्वर सामर्थ्य की परिसीमा।

अन्त की बातें भावुक रसिक की ओर से अवश्य कही गयी है, किन्तु विश्व में वागार्थ प्रत्यय के निखिल अनुबन्ध में इस व्यञ्जन सूत्र को परख लो। अतः कहा गया है :—

२५. भूर्भुवः सुवरपि च ते ॥

'ते' (व्यंजन समूह को) को भूः भुवः एवं सुवः प्रकारत्रय से देखो॥

भूः स्पर्शा भुवन्तःस्था उष्माणञ्च स्वरित्यपि।
स्पर्शादिवृत्तिभेदेन त्रिलोकी वृत्तिमश्नुते ॥२०२॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनामेवमेव विचारणा।
प्राणप्रज्ञाघनत्वञ्चोष्णत्वेनात्र प्रसज्यते।
एतत्रितयसंग्राह्य स्थूलं सूक्ष्मञ्च कारणम् ॥२०३॥
मन्त्राणां स्वरसामर्थ्यं व्यञ्जनैर्व्यक्तिरूपता।
लयो यत्र कुतस्तत्र स्वरो वा वापि व्यञ्जनम्॥२०४॥

क से म तक वर्ण हैं स्पर्श। ये एक-एक निरूपित आकृति में स्पर्श देते हैं। अतः स्पर्शवर्ण है भूः संज्ञायुक्त। 'यह' रूप से जो निरूपित होता है, वह है भूः। "शषसह" ये चारो हैं उष्माण। (उष्मसूत्र देखो) ये सुरः अथवा 'वह' लक्षण में आते हैं। ये हैं महाप्राणगोष्ठी। यद्यपि इनका उच्चारण स्थान है तालु प्रभृति, तथापि इनमें से कई में विशेषतः प्राण का सवितृधर्म (Creative Elan) निहित रहता है।

इसमें से ष = बीजभाव, श = अस्फुट अंकुरभाव, स = स्फुटकाण्डादि भाव। प्रथम में अव्यक्त (वेध), द्वितीय में व्यक्ताव्यक्त (तल), तृतीय में व्यक्त (लम्ब) मुख्यता है। ष = सुषुप्ति, श = शयन, स = जागरण। 'ह' के सम्बन्ध में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। सृष्टि में सब कुछ त्रिलोकी (व्यंजनाख्या त्रिपुटी संस्थिति) स्पर्शादि वृत्ति का वरण करते हैं। य र ल व का अन्तस्थ चतुष्ठय ही विश्वव्यंजना का भुवः अथवा अन्तरीक्षस्थानीय है। इस अन्तरीक्ष की चतुर्धा भेदभावना करो। य = वायु। र = तेजः ल = क्षिति। व = वरुण अथवा अप्, अतः अन्तरीक्ष की भी यह चतुर्धा व्यापारवत्ता है। अन्तरिक्ष व्यंजन को व्याप्त होने देता है। उसे धन अथवा ऋण तेजीयस्त्व में लाता है। उसे श्रान्तिलय (Relative rest or Equilibrium) प्राप्त करने देता है। उसे रेणु अथवा उर्मि के आकार में अध्वग होकर वहमान होने देता है। यह माध्यम अथवा अन्तःस्थ मात्र का मूल कार्य है। तेजः स्फुरित होकर क्रान्तिलय प्राप्त करता है। निगूढ़ हो जाने पर वह श्रान्तिलय (as Rest Energy) में चला जाता है। इसीलिये 'र' तथा 'ल' में अभेद कहा जाता है। जैसे 'क्र' में क्रान्तिलय, 'क्ल' में श्रान्तिलय। क्रु एवं क्लृ का परीक्षण करो। 'क्रु' में है। क्रिया-कारक की व्यंजना। 'क्लृ' में है फलान्वय की व्यंजना 'क्लृप्ति'।

त्रिलोकी के दृष्टान्तरूप से कहा गया है कि जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति प्रभृति सभी स्पर्शादि संज्ञा में आते हैं। अतएव भूर्भुवःस्वः संज्ञा में भी यही है। जागृत् = व्यंजन की स्पर्शभूमि। स्वप्न = अन्तःस्थ भूमि। सुषुप्ति = उष्मभूमि। यह पहले ही कहा जा चुका है। उष्मत्व द्वारा प्राणप्रसंग में क्या कहा गया था? प्रज्ञाघनत्व। अर्थात्? प्रज्ञा शब्द में जो 'प्र' है वह प्राण स्वयं। ज्ञा = ज्ञान। प्राण का अपना ज्ञान (व्याप्ति एवं सीमा दोनों का) = प्रज्ञा। जाग्रत में मात्रास्पर्शादि का ज्ञान, स्वप्न में अन्तस्थ (what comes between this and that) का ज्ञान। सुषुप्ति में इन दोनों का त्याग। वहाँ प्राण (स्पर्शादि व्यापार रहित) अकेला रहता है। वह स्वयं को अकेला जानने लगता है।

शरीर उपमा में स्पर्श = Peripheral consciousness. इसके रोध अथवा Inhibitation में स्नायुमण्डली की जो रणनी प्रतिक्रिया (Reverberatory Reaction) है, वह है स्वप्न (अन्तःस्थ)। इसमें (रणन में) 'य' (वायु) तथा 'र' (तेजः) संगति एवं 'जुट' विशेषतः नहीं रहता। 'व' से स्निग्धभाव आता है। उग्रता कटती है। 'ल' से स्थैर्य आता है और चञ्चलता तथा असंहतता (Lack of co-hesive co-ordination) चली जाती है। जब 'र' तथा 'ल' को साहित्य एवं अभेद में ले आया जाता है, तब 'ल' के आधार पट पर 'र' अंकन करता है अपूर्व सुठाम रूपायण। ऐसा स्वप्न दिव्य होता है। सत्य भी हो जाता है। अतः स्वप्न है इन चार अन्तःस्थ मौलिक (य र ल व) का विचित्र योगायोग। इस विचित्र

योगायोग में स्पर्श (संस्काररूप) नेपथ्यसहग हो जाता है। और "श ष स ह" उष्माण : ? ये मुख्यप्राण की जिस भूमिका को ग्रहण करते हैं, वह है 'महा'। सकल स्वप्न तथा मध्यम का जो भरण-पूरण करे, वह है महा। जैसे तरंग के सम्बन्ध में जलाशय एवं वायु।

अब य र ल व ने अपनी-अपनी वृत्ति के साथ 'ल' में लय प्राप्त किया। जैसे जप के उदय में 'ष', नादमेरु में (जैसे वरेण्यं) 'र', विलय या विलोम गति में 'व' एवं विन्दुलय में 'ल'। अब 'ल' स्वयं को घनता की काष्ठा में लाया। The system's reverberatory relations reach a focal point of Equilibration. फलस्वरूप Vibration अथवा स्पन्द समूह का संघातफल (Resultant) हुआ शून्य तथा पूर्ण (एक ही साथ)। किसी विशेष स्पन्द अथवा शब्दगुच्छ के सम्बन्ध में शून्य। अपनी एकत्र शक्तिसमुच्चय रूपता में पूर्ण (प्र+अज्ञ=प्राज्ञ। प्रज्ञा जिसमें है वह प्राज्ञ। पहला शून्य, दूसरा पूर्ण)।

पहले स्पर्शादिरूप जिस त्रितय की विवेचना की गई, उस त्रितय में स्थूल-सूक्ष्म कारण, ये तीनों संग्रहणीय हैं। जैसे व्यष्टि-समष्टि भुवनचक्र की नेमि में व्यंजन की स्पर्शरूप से, अर में अन्तःस्थ रूप से तथा नाभि में उष्मरूप से स्थितता है। जैसे गणित व्यवहार में पदार्थ के Basic formulation अथवा formula में उष्मा, Equation में अन्तःस्थ का तथा application में (graph आदि में) स्पर्श का अधिकार रहता है।

तदनन्तर उपसंहार करते हुये कहा गया है कि मन्त्र का जो सामर्थ्य है, वह स्वर पर निर्भरशील है। उसकी जो व्यक्ति, व्यंजना, भावआदि है, वह व्यंजन पर निर्भरशील है। सामर्थ्य तथा व्यञ्जना को मिलित करने पर है व्याहरण।

किन्तु लय में—सुषुप्तिलय में, समाधिलय में, दोनों स्थल पर स्वर या सवितृ रूप से क्या प्रसव होगा, व्यंजन अथवा व्यंजनरूपेण क्या व्यक्त होगा ? जप में, नाद में, कला-विन्दु में तीन प्रकार का लय संभावित है। नाद लय को जागर लय, कला लय को स्वप्नलय तथा विन्दु लय को सुषुप्तिलय लक्षण में कहा जाता है, तथापि नाद का सम्यक् लय होने पर ज्योतिः, कला का लय सम्यक् होने पर रस और विन्दु लय सम्यकतः होने पर इन दोनों का सामरस्य होता है। अतएव विन्दुलय (ज्योति-रस की पूर्णतायुक्त) कदापि सुषुप्ति जातीय नहीं है। विन्दु समाधि है। सम्यक् जागर लय की स्थिति में वाह्य स्वर स्पर्श नहीं रहता। चेतना में केवलमात्र नाद ज्योतिः का परिस्पर्श रह जाता है। कलालय में भी चेतना में कलारस का प्रत्यक् स्पर्श रहता है। मानों एक रसनिबिड़ मधुनिष्णात्व स्वप्नघोर ! इन त्रिविध लय के पार है पर-मलय। लय=समाधि तब जागर समाधि, स्वप्नसमाधि तथा सुषुप्ति समाधि, सर्वान्त में तुरीय समाधि।

२६. मुख्यानुग्राहकत्त्वेन मुख्यानुवृत्तत्वं सर्वेषाम् ॥

मुख्य अनुग्राहक है, तभी सब कुछ (गौण अथवा अमुख्यभाव से) मुख्य की अनुवृत्ति करता है ॥

मुख्यप्राण के सम्बन्ध के कारण स्वर व्यंजन प्रसंग कहा गया है। इसके पश्चात् विश्व व्यवहार में सब कुछ मुख्य की अनुवृत्ति करता है। इसका हेतु क्या है? अनुवृत्ति का तात्पर्य क्या है? इन दोनों का उत्तर वर्त्तमान सूत्र में दिया जा रहा है।

प्रथम का उत्तर—मुख्य का अनुग्रह है तभी। अनुग्रह अथवा अनुग्राहक का तात्पर्य? और मुख्य का क्या लक्षण है?

ग्राहक व्याप्तिवृत्तित्वं मुख्यत्वमिति भावय।
ग्राह्यव्याप्यञ्च वृत्तत्वमुख्यमिति विनिश्चयः ॥२०५॥

जो ग्रहण करे वह ग्राहक। जो गृहीत हो वह ग्राह्य। ग्राहक को एक वृत्त रूप में दिखाया। ग्राह्य का एक अलग वृत्त। दोनों वृत्तों में ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्धार्थ प्रथम वृत्त को द्वितीय में आना चाहिये। किन्तु कितना? यदि पूरा ही आ जाता है, तब प्रथम द्वितीय की तुलना में व्यापक है। और द्वितीय उस प्रथम की तुलना में व्याप्त है। यदि दोनों वृत्त एक दूसरे में पूर्णतः मिलित हो जाये, तब तो है समव्याप्ति। यहाँ तो मुख्यामुख्य का भेद नहीं हुआ। जब तक दोनों वृत्त परस्परतः बाहर रहते हैं, तब तक उस संस्था में कोई व्याप्ति ही नहीं है। द्वितीय में प्रथम के प्रविष्ट होने पर मुख्यामुख्य रूप पलट गया। क्योंकि इस प्रसंग में यह आवश्यक है कि प्रथम वृत्त में द्वितीय वृत्त का पूर्ण अन्तर्भाव हो जाये। यदि ऐसा हो गया, उस स्थिति में प्रथम में ग्राहक व्याप्तिवृत्तित्व आ गया। अर्थात् ग्राहक रूपेण उसकी जो व्याप्ति होना आवश्यक था, वह व्याप्ति उसमें आ गई।

जो इस प्रकार से व्याप्तिरूपेण वृत्तिमान हो, वही मुख्य है। ग्राहक के आगे 'अनु' उपसर्ग द्वारा इस प्रकार की व्याप्ति का अनुबन्धन सूचित होता है, अर्थात् ग्राह्य की व्याप्ति ग्राहक की व्याप्ति के सर्वथा अन्वय में आती है। 'अनु' के रहने पर दोनों वृत्तों की 'काटाकटी' इत्यादि स्थल का परित्याग हो जाता है। अतः अनुग्रह=एक ऐसा क्रियाकारकत्व है जो उसके कर्म मे पूर्णतः व्याप कर अधिकार किये हुये हैं। यहाँ कर्म कहता है "मेरा कुछ तुम अपने अधिकार में लो, बाकी का 'रफा' नहीं तो नाराज"। यहाँ अनुग्रह नहीं है। कर्म का Surrender होना चाहिये। तभी वह अनुग्रह सम्बन्ध में आ सकेगा। कर्म प्रवृत्ति की दिशा से इस अनुवृत्ति, आनुगत्य, समर्पण का नाम है आग्रह। अतः ग्राहक का अनुग्रह तथा ग्राहक का आग्रह सम रहना चाहिये, विषम नहीं होना चाहिये।

पुनः दो वृत्त । अनु या ग्राह्य जो वृत्त है, वह जितना भी वृत्ति द्वारा व्याप्य (Coverable) है, अर्थात् जो कुछ उसके बाहर नहीं है, यहाँ तक कि उसके साथ ससंवृत्त (Co-extensive) है, वह सभी अमुख्य अथवा गौण लक्षण में आता है। स्मरण रक्खो कि मुख्य प्राणप्रसंग मे ही इस प्रकार से लक्षण वर्णना हो चुकी है।

प्राणस्यामुख्यवृत्तित्वं प्राणनमिति ग्राहकम् ।
अनुप्राणनमित्येवान्यद् ग्राह्यंयद्व्याप्यवृत्तिमत् ॥२०६॥
ग्राह्यग्राहक सम्बन्ध निरूप्यमाणता यतः ।
सोऽप्यनुग्रहसंज्ञः स्यात् सर्वानुवृत्तिषु वशी ॥२०७॥
दैशिकः कालिकः सोऽपि छान्दसो वास्तवस्तथा ।
चतुर्विधोऽनुगो वाप्य-तिग इति द्विरूपभाक् ॥२०८॥

प्राण के मुख्य भाव में वृत्तिमान होना है प्राणन। यह है पूर्व निर्देशानुसार ग्राहक। 'अन्यत्' या अन्य एक प्रकार से वृत्तिमान होना ही है अनुप्राणन। यह ग्राह्य रूपेण व्याप्य वृत्तिमत् है। (ग्राहक है व्यापक वृत्तिमत्) गणित के Taylor's Theorem general Equation of the second degree इत्यादि के द्वारा व्याप्य ही (Subsumed) अन्य-अन्य Theorems तथा Equations द्वारा व्यापक एवं ग्राहक है। ग्राहक है super function। ग्राह्य = Sub Function.

अनुग्रह किसे कहते हैं ? पूर्वोक्त ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध जिसके द्वारा निरुप्यमाण होता है और जो सर्वविध अनुवृत्ति मे वशी किंवा स्वतन्त्र नियन्ता रूप रहता है, वही है अनुग्रह। सम्बन्ध को सम्यक् रूप से जान लो।

(१) ग्राह्यग्राहक सम्बन्ध का कौन निरूपण करता है ?

(२) निरूपित स्थल में ग्राह्यरूप से ग्राहक की अनुवृत्ति करने पर उसकी अनुवृत्ति किसके स्वतंत्र प्रशासन में होती है ?

यदि ग्राह्य कहे कि मैं भी अनुवृत्ति का शासन करूंगा अथवा अन्य कुछ का, उस स्थिति में ग्राहक का स्वातंत्र्य सिद्ध नहीं हुआ, अनुग्रह लक्षण भी नहीं आया। गुरु के सम्मुख दीक्षा हेतु शिष्य का आग्रह (श्रद्धादिरूप) आवश्यक अवश्य है, किन्तु दीक्षा द्वारा शिष्य की गुरु सम्बन्ध में अनुवृत्ति स्थित हो जाने पर ही अनुग्रह का अन्यापेक्षा विरहित स्वतन्त्र नियंतृत्व होता है। शिष्य की आग्रह सीमा है आत्मसमर्पण में। यह जब तक पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक अनुवृत्ति भी सम्यक् नहीं होती और गुरू अनुग्रह भी शुद्ध स्वतंत्र रूप से प्रत्यय में नहीं आता। अतएव दीक्षा के पश्चात् शिष्य का आग्रह उसकी प्रकृति का पूरण करता है और गुरु अनुग्रह सम्बन्ध भी अपने प्रत्यय का शोधन कर लेता है (यह दीक्षासूत्र में विवेचित होगा)।

चार प्रकार के प्रत्यय विभाजन को अंगीकार करके प्रत्यय हो जाता है चतुर्विध यथा दैशिक, कालिक, छान्दस तथा वास्तव। अर्थात् संक्षेप में—

(१) किस पर अनुग्रह (वास्तव)
(२) कैसे अनुग्रह (छान्दस)
(३) कब अनुग्रह (कालिक)
(४) कहां अनुग्रह (दैशिक)

आध्यात्मिक तथा गणित आदि के सर्व व्यवहार में ही ये ४ प्रकार के अनुग्रह (Subsuming) हैं। इन चारो का विस्तार अगले प्रसंग में किया जायेगा। यहां अनुग्रह के अनुग (Immanent) एवं अतिग (Transcendent) रूप को भी लक्ष्य करो। अनुग का तात्पर्य वश्य अथवा बाध्य नहीं है। इसमें जो वशी अनुग्रह है, उसके स्वलक्षण की हानि है। "तुम्हारे अन्वय में मैं सूत्रात्मारूप से हूँ" यह है अंगीकार। "तुम्हारे सब कुछ में हूँ" यह है महाश्वास।

२७. परमत्वेनानुग्राहकमीक्षणम् ॥

परमभाव में जो अनुग्राहकरूपता है, वह है ईक्षण ॥

पूर्वसूत्र में आग्रह-अनुग्रह विचार करते समय पूरण शोधन का प्रसंग आ चुका है। देखा जाता है कि आग्रह के प्रकृति पूरण की अपेक्षा जब तक रहती है, तब तक अनुग्रह के भी प्रत्यय शोधन की अपेक्षा रहती है। "तुम तो अनुग-अतिग-रूपद्वय से हो ही किन्तु मैं तो प्रत्यय में नहीं आ सका।" अर्थात् उसी 'एक' की कृपा नहीं हो सकी। अतएव अपना प्रकृतिपूरण होना चाहिये। यही है साधन। बाह्य में सौर किरणादि में निखिल सामर्थ्य है, ऐसा प्रतीत तो होता है, किन्तु हमारे यन्त्र में उसका कार्यतः कितना प्रत्यय है?

इसलिये इस प्रकृति पूरण तथा प्रत्ययशोधन की अपेक्षा करके चलते-चलते यह जिज्ञासा उदित होती है—अच्छा, क्या ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां पर प्रकृति यह कहे कि मेरा समस्त भाव पूर्ण है और प्रत्यय यह कहे कि मेरे समस्त अभाव शून्य हैं? यही स्थान है परम। इस परम भाव में जो अनुग्राहकत्व है, उसे कहो ईक्षण। यह ईक्षण "ज्योतिषां ज्योतिः" एवं "रसानां रसतमः" रूप से भावद्वय में उपलब्ध किया जाता है।

> ग्राह्यं व्याप्नोति गृह्णाति पादमात्राक्रमैरिह।
> ग्राहकं परमत्वेन काष्ठायां तु तदीक्षणम् ॥२०९॥
> अकामयत् सद्ब्रह्माकल्पयताप्यतप्यत।
> अजायतेति चत्वारि रूपाणि सन्ति चैक्षतः ॥२१०॥
> ग्राह्येषु परमत्वेन हीक्षणं पञ्चपात् भवेत्।
> ॐकारमीक्षणं विद्यादकाराद्यक्षरान्वयात् ॥२११॥

(इह) विश्वव्यवहार में ग्राहक-ग्राह्य में पाद तथा मात्रा व्याप्त रहती है और इसे अधिकृत भी करती है। पाद तो व्याप्ति गौरव को व्याप्त किये रहता है और

मात्रा मानगौरव पर अधिकार रखती है । यह गौरव सर्वत्र संख्या द्वारा निरुप्य नहीं है। यह क्रम के द्वारा निरुप्य है । क्रम = order-grade. ग्राहक गौरव केवलमात्र समर्थ पर्याय में बहुलत्व या भूयस्त्व द्वारा हो विचार्य नहीं है, प्रत्युत् क्रमोन्नत पर्याय के महत्त्व अथवा महीयस्त्व द्वारा विशेषरूप से विचार्य है । ग्राह्य यह नहीं सोचेगा "मैं जिस स्तर अथवा भूमि में, पद तथा मान में हूँ—मेरा ग्राहक (जैसे गुरु नाम) उस स्तर में, भूमि में, मेरा व्यापक या अधिकार है ।" इससे बाधा नही है, फिर भी वास्तव में ग्राहक लक्षण के अनुसार उन्नत ग्रामादि में गुरु होंगे ग्राह्य की अपेक्षा में। A higher dimension of covering extension, a finer grade of controlling measure. सर्वत्र तथा अधिभूतादि में, यहां तक कि गणित व्यवहार में भी इस ग्राहकगौरव को समझ लो । यहां दृष्टान्त नहीं दिये जा रहे हैं ।

यहां पर ग्राहकगौरव का क्रम तो कला की अपेक्षा रखते-रखते परम की ओर चल रहा है । जब काष्ठा में आया, अर्थात् जब गौरव क्रम सम्बन्ध को छोड़कर परि-सीमा में आया, तब उसकी संज्ञा है 'तदीक्षणम्' । तत् अथवा ब्रह्म द्वारा प्राणब्रह्म रूप से अपना ईक्षण । 'एतस्माज्जायते प्राणः ।" ब्रह्म का स्वईक्षण ही है जन्म ।

श्रुति में ब्रह्म "तदैक्षत" रूप से श्रुत हैं । सद्रूप ब्रह्म (जो कदापि असत् या सदसत् नहीं होते) स्वयं का ईक्षण अकामयत्, अकल्पयत्, अतप्यत् तथा अजायत् रूप से करते हैं । यही है मूल ईक्षण की चार विधा । अतः मूल ईक्षण को मूल में रखते हुये निखिल ग्राह्य में परमग्रहीता का जो ग्रहण है वह है पंचपात् । इस पंचपात की विवेचना इतिपूर्व संग्रह-प्रतिग्रहाति रूप से हो चुकी है ।

यहां ऊँ को अर्थात् सद्ब्रह्म के आदिम प्राण को उद्देश्य बनाकर स्त्रौत ईक्ष-णादि की पचविधा (पंचपात्त्व) वर्णित है । जो ऊँ का उद्देश्य है, वह है सार्व-भूमिक । क्योंकि "ऊँ कार एवेदं सर्वम्" । ऊँ के अक्षरावयव के साथ इस पंचपाद का अन्वय है । यह अन्वय भी कहा जा रहा है अगले सूत्र में ।

जैसे विश्वसृष्टि । इसका आदि है अव्यक्त अथवा असत् (In-Sceru-rable) । ईक्षण के द्वारा अव्यक्त की आदिम यवनिका (Primordial veiling) उत्तोलित होती है । उसे देखा 'विन्दुरूपेण' विश्वबीज रूपेण ! काम के द्वारा इस विश्वबीज में संवित् (जागृति) आती है । 'तपः' द्वारा बीज में उच्छूनतादि उन्मेष पर्व आने लगे । व्यष्टिसृष्टि में भी ऐसा ही होता है । जैसे एक श्लोक अथवा कविता लिखा । प्रणव के अक्षरावयव का आदि (अ) शेष है, अर्थात् अ = अजायत् ।

२८. तस्यैव पञ्चस्त्रोतोभिः पञ्चगङ्गम् ॥

प्राणब्रह्म के पंच स्त्रोतः हैं पंचगंगा ॥

(पंञ्चगङ्गम है एक संज्ञा) । प्राणब्रह्म का स्वाभाविक नाम है ऊँ । अतएव ऊँ के अपने अवयव के साथ पंचगंगं का समन्वय सूचित होता है ।

अजायतेत्यकारेण चातप्यतेत्युकारत; ।
अकल्पयत् मेनेतित्यकामयत बिन्दुना ।
ईक्षतेति च नादेन पंच प्रणववेधस: ॥२१२॥
स्त्रोतोभि: पंचभिस्तस्य सर्वग्राह्येषु सर्वत: ।
वेविष्ठे परमाश्चर्यं तद्विष्णो: परमं पदम् ॥२१३॥

प्रणववेधस: प्रणवाक्षररूपी विधातृवर्ग (First creative factors) है । इस आदिम विधातृवर्ग के पहले जो 'अ' है, उसके द्वारा समस्त, सब कुछ जात होता है सामान्याधिकरणता में । यह सामान्यभाव से जनन (जाति) ही समस्त संभावनाओं का और सब कुछ के "होने" का आदि अधिकरण (फन्डामेन्टल फ्रेम) है । जाति अथवा जन्म की Idea ही सब कुछ के संभव होने का प्रसूतिगृह है । सामान्य भाव से सम्भूयमानता (होने का भाव, संभावना) सब प्रकार की सृष्टि का आदि है । Logically first prior antecedent. एक वृत्त आकूँगा, उसमें अंकन इस प्रकार से करूँगा— ऐसा आदिम विकार ।

जो सामान्यत: "जात" भाव मात्र है (अर्थात् अभी अंकन की भावनामात्र है—अंकन नहीं हुआ है), उसमें 'जात' होने का प्रत्यक्षभाव आने के लिये किस विशेष छन्द:, आकृति, पाद-मात्रा आदि की आवश्यकता है ? 'अ'—सत्तासामान्य । अब वह आधार में है आवश्यक शक्ति सामान्य । अर्थात् शक्ति जागृति सामान्यभाव में तथा उच्छूनता (Swelling) में । यही 'अतप्यत्' ॐ का 'उ' है । तदनन्तर सत्तासामान्य अथवा जाति का कथन है कि मुझमे आकृति लाओ । शक्ति सामान्य का कथन है कि मुझमे पाद मात्रा छन्द: दो । यह है "अकल्पयत्" । ॐ का अन्त्य-स्पर्श 'म' ! इन तीनों की संहति के द्वारा जो केवल साधारण भाव में जात ही था, वह पाद-मात्रा आदि के साथ संजात हुआ ! यह है जात पदार्थ का बौद्ध अनुप्रत्यय (लाजिकल एप्रीसियेशन) । किन्तु 'होना' तो पूरी तरह से है, यहाँ तक कि वस्तुत: वह बौद्ध प्रत्यय द्वारा ग्राह्य नहीं है Not completely or basically a logical process. 'अनिरुक्तमलक्षणम्' तो पृष्ठदेश में है ही ! इसलिये निरुक्त सलक्षण और अनिरुक्त अलक्षण के मध्य का सेतु चाहिये ही ! नैरुक्त में 'उ' को एक सेतु रूप में प्राप्त किया । अनैरुक्त सेतु है यही अर्द्धा । क्या इसे पहचानते हो ? नहीं ? यह आवश्यक है । अच्छा ! इस अर्द्धा की सेतु सन्धि में ॐ का दो भाव है "ईक्षत् तथा अकामयत" । कौन आगे है कौन पीछे, इस प्रश्न को लेकर गोलमाल उचित नहीं है । यह परावृत्ति धारणा द्वय में है । (जहाँ तक हो सके, उतना लाना आवश्यक है ।) ये हैं दोनों नाद तथा बिन्दु । ये हैं नैरुक्त-अनैरुक्त के मध्यस्थ ।

इस प्रकार से यह देखो कि 'तद्विष्णोः' का परमाश्चर्य रूप जो परमपद है, वह परावाक् के माध्यम से पंचस्त्रोतरूप होकर समस्त ग्राह्य पदार्थों में सर्वतोभावेन व्याप्त है (वेविष्ठे)।

इस पंचधारा की संज्ञा है पञ्चगङ्गम्। यह ग्रंथ के पूर्व खण्डों में संग्रहाख्या, प्रतिग्रहाख्या, विग्रहाख्या, परिग्रहाख्या तथा अनुग्रहाख्या की संज्ञा द्वारा विवेचित हो चुकी है। ॐ कार के पंचाक्षर के साथ इस पंचगंगा का सम्बन्ध चिन्तनीय है। ॐ के 'अ' के ग्रहण के सम्पर्क में आये (संग्रह), 'उ' द्वारा प्रतिरूपता में तत्तद्रूप में रूपित होने की योग्यता एवं प्रवणता में आये (प्रतिग्रह), 'म' द्वारा तद्रूप होने के समन्वय में आये (विग्रह)। परिग्रह तथा अनुग्रह की भावना नाद-विन्दु मूलसम्बन्ध में करो। एक में परितः; दूसरे में अन्वयतः ग्रहण। जैसे एक माला। सूत्र में है परितःभाव। मूल अथवा मेरुग्रंथि में है अन्वित भाव मुख्यता। मुख्यप्राण है इन दोनों में व्यान रूपेण।

सप्तगोदावरं वापि सत व्याहृतयस्तथा।
पञ्चभ्यः सप्तधा वृत्तिर्यथा वा सप्त सिन्धवः ॥२१४॥

पंचधा से सप्तधा का उद्भव (Logicelly or factually) होता है। सप्त व्याहृति तथा सप्तार्चि का पहले वर्णन किया जा चुका है। वर्त्तमान स्थल में 'सप्तगोदावरं' (पंचगंगा के समान) तथा सप्तसिन्धवः विशेषतः विचारणीय है। गो=वाक्; दा=दान तथा आदान; अवर-वर एवं वरावर। अतः गोदावरी=वाक् ब्रह्म (ॐ, की पूर्णस्वरूपा। वाक्=एक। दान-आदान (उदय-विलय) द्वारा दोनों एक होना। प्रत्येक अवर आदि भेद से तीन हैं। अतः $१+२\times ३=७$। वाक् परा-भाव से एक है। सिन्धु=सिंचित शक्ति धारा समूह को जो धारण तथा विलीन करे। यह है नादविन्दु समानाधिकरणता। इसमें चतुर्धा नाद तथा त्रिधा विन्दु सम्मिलित रहते हैं। चतुर्धा=अव्यक्तव्यक्त, व्यक्त, अभिव्यक्त (कला के साथ) तथा व्यक्ता-व्यक्त। अन्य भाव से भी चतुर्धात्व भावित हो सकता है। विन्दु के त्रिधा=उदय-क्रमसम्बन्ध, विलयक्रमसम्बन्ध तथा परमनिष्पन्नता सम्बन्ध। इस सप्तसिन्धु देश में जो वास करते हैं, वे आर्य हैं। जिनकी वाग्ब्रह्म में अनाकुल दृष्टि है, वे हैं ब्रह्मर्षि। (ऋतं बृहत्) और जो सत्यमार्जव में सुप्रतिष्ठ हैं, वे हैं महर्षि (सत्यं महत्)।

इसके पश्चात् पञ्चगङ्गम् सूत्र का वर्ण विनियोग प्रदर्शित किया जा रहा है-

२९. स्वराश्च स्पर्शानुनासिकान्तेःस्थोष्माणः ॥

स्वर, स्पर्श, अनुनासिक, अन्तःस्थ (अन्यस्थ) एवं उष्म रूप से पंच वर्ण विभाजन है ॥

स्वरानुग्राहकत्वं स्यात् स्पर्शाः प्रतिग्रहाश्रयाः ।
विग्राहकवमन्तःस्थैः संग्रहश्चानुनासिकैः ।
पंञ्चगङ्गाश्रया वर्णा उष्माभिः परिगृह्यते ॥११५॥

क्षरन्तो येऽक्षरैः कामं पञ्चगंगाम्बुविन्दवः ।
मनुभिर्मातृकान्यासैस्तेषां कामाय दोहनम् ।
तनुन्यासो मनुन्यासो धनुष इव कामधुक् ॥२१६॥

वर्णमाला के स्वर को अनुग्राहक, स्पर्शवर्ण को प्रतिग्राहक, अन्तःस्थ को विग्राहक तथा (विशेषतः) अनुनासिक को संग्राहक मानो । शेष उष्मवर्ण तो परिग्राहक का रूप है । इस प्रकार के पाँच वर्णविभाजन में पंचगङ्गम् का आश्रय लिया गया ।

यदि विन्दुनाद, कला, सेतु-सन्धि में अनुग्रह तथा क्रम (अनुलोम-विलोम) को मूल पदार्थ (कैटेगरी) मान लिया जाये, तब इस प्रसंग के विन्दु में सबका संग्रह, नाद में प्रतिग्रह (Taking up), सेतु-सिन्धु में अनुग्रह तथा क्रम में (अवर-वर काष्ठा में) विग्रह रूपी भावपंचक मुख्यतः रहते हैं । क्रम के सिवाय यह कौन कहेगा कि "तुम्हारा यही है विशिष्ट रूप, गुण, छन्दः इत्यादि ? सेतु-सन्धि के बिना कौन पारीण होगा ? 'क' कार आदि स्पर्शवर्ण विन्दु से उदित नाद को क्या एक-एक प्रतिरूप में नहीं लेते ?" महाप्राण उष्मवर्ण में विशेषतः नादप्रतियोगिता रहती है । आभास रूप से इन सम्पर्कों का वर्णन किया गया । सावधान होकर परीक्षा करो । "तद्विष्णोः परमं पदम्" इस पंचपर्व वर्णमाला में संग्रहाख्यादि अवतीर्ण है पञ्चगङ्गा रूप में ! अतएव संग्रहादि ही पंच अमृतधारा को वर्णमाला रूपिणी कामदुग्धा से दुहते हैं । अतः :—

"पंचगंगा का अमृताम्बुविन्दुसमूह स्वरादि अक्षरों के द्वारा यथाकाम (कामं) क्षरित हो रहा है । मातृकान्यास (अर्थात् वर्णसमूह को उनकी मातृका Martrix में सम्यक्रूपेण संयोजित करते हुये) करते हुये 'मनु' मन्त्रवीर्य के द्वारा एक ही स्थान पर प्रेयः तथा श्रेयः रूपी 'अमृतस्यधारा' का दोहन करो ।"

उक्त न्यासकर्म को इस प्रकार से करना चाहिये कि तनु एवं मनु रूपी उभय स्थिति में सामर्थ्य रूपी वीर्याधान हो सके । तनुः = जपक्रिया का सूक्ष्म यन्त्र (Inner Apparatus) । मनु = विशेषतः सेतुसन्धिरूपा अर्द्धमात्रागृहीत यन्त्र । न्यास = यथायोग्य तन्त्र । ऐसा सम्मिलन कराने पर वह श्रुतिप्रसिद्ध 'प्रणवोधनुः' इत्यादि की ही तरह तुम्हारा दोहन कृत्य यथार्थतः इष्टकामधुक् होगा, यह निःसंदिग्ध जानो ।

अब यह सामर्थ्य (प्रौढ़ि संज्ञा में) विशेषतः लक्षित होता है :—

३०. ईक्षतेर्दक्षः सर्वतः प्रोतात्वत् प्रौढ़ः ॥

ब्रह्म अथवा ब्रह्ममयी ईक्षण द्वारा सृष्टि करते हैं। उनका प्रौढ़ि (प्रतिभा-सामर्थ्य) सर्वतः अबाधित रूप से प्रोत (अनुप्रविष्ठ, अनुस्यूत; व्याप्त) होता है। अतः उनका ईक्षण निरतिशय दक्ष है। (समर्थ है) ॥

तदैक्षतेति दक्षत्वं विश्वपुषि सर्वतः।
प्रोतं यत् स्थूलसूक्ष्मेषु पूर्णप्रतिभमेव तत् ॥२१७॥
मानमेयादिवैग्ध्ये वैदग्ध्यं यत् प्रमातरि।
प्रोढ़त्वं तद् बिना प्रौढ़िं रचना नोपपद्यते ॥२१८॥
छन्दसा तायते यज्ञो यज्ञकृच् छन्दसोर्जितः।
छन्दो धनुः शरश्च्छन्दश्च्छन्दोऽपि लक्ष्यमुच्यते।
सम्यक्त्वं छन्दसि प्रौढ़ि र्महत् सत्यमृतं बृहत् ॥२१९॥
वाक्प्राणबुद्धियोगेन समच्छन्दस्तया गतिः ॥२२०॥

किसी भी क्रिया में दक्षकुशलता तथा सामर्थ्य लाने के लिये उसे स्थूल-सूक्ष्म निखिल विश्व हृदय अथवा अन्तरात्मा में व्याप्त प्रौढ़ि अथवा पूर्ण प्रतिमा प्रोत (Immanent) के साथ संयोजना में लाना होगा (युंजान-युक्त आदिरूप से)। क्रिया मात्र का जो उह अथवा उहन है, उसे समस्त के हृदय में स्थित अनुग्रह के सम्पर्क में करना होगा। "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च"। तालाब खोदा जा रहा है, उसे मानों अन्तःस्थल में बह रहे निरवच्छिन्न फलगु प्रवाह के साथ मिलाना ही होगा। अन्यथा मेढ़क का गर्त्त हो जायेगा वहाँ। जप में जैसे क्षर कलित वृत्तियों को अखन्डैकनाद में, नाद को ज्योति में, ज्योति को रस में मिलाना। रस तक पहुँचना होगा, क्योंकि रस ही है निखिल का हृत्। प्रौढ़ि के अनुग्रह के बिना सब रह जाता है तरुण; अविपक्व, असमृद्ध। प्रौढ़ि की इक्षती एवं दक्षा में प्रपन्न हो जाओ। ईक्षती=सर्वदृक्। दक्ष =सर्वभृत्।

प्रौढ़ि किसे कहते हैं? मान-मेय-माता में व्यवहार चल रहा है। माता तथा प्रमाता एक ओर। मान-मेय एवं उसके सम्बन्धादि दूसरी ओर। इन दोनों पक्ष की वैदग्ध्य परिसीमा जहाँ समता में हैं, वह है प्रौढ़ि। जैसे अग्नि द्वारा काष्ठादि ईन्धन ग्रहण किया जा रहा है, किन्तु ईन्धन पूर्णतः गृहीत नहीं हो रहा है। ईन्धन विदग्ध नहीं होगा। काष्ठ भी धूम्र भस्मादि रूपेण व्यक्त भी हुआ। किन्तु पूर्णतः जला नहीं। अतः आंशिक—असम्यक् ग्रहण में वैदग्ध नहीं होता। पाद-मात्रा तथा सम्बन्ध में सम्यक् ग्रहण योग्यता मान तथा मेय सम्बन्ध हो जाने पर ग्राह्य रूप जो ईन्धन है उसका वैदग्ध्य। जो प्रमाता तथा ग्राहक है, उनमें इस ग्राह्य ईन्धन के सम्बन्ध में सम्यक् ग्राहक योग्यता रहती है। Fule fully Combustible हुआ तो, किन्तु अग्नि में इस सम्बन्ध में दहनता सामर्थ्य तो है न? प्रमाता में मान मेयादि

सम्बन्ध में जो वैदग्ध्य है, उसे प्रौढ़ि संज्ञा दी गई है। जो मानमेयादि असम्यक्—असमग्र रूप से ग्राह्य हैं (Partial, relative measures and relations) उसमें असम्यग् बुद्धि प्रमाता ग्राहक (Knower and Treater) हो सकता है। वह बुद्धि यथेष्ट युक्ति युक्तता (Principle of sufficient Reason) तथा लघिष्ठ भ्रम सम्भवता (Principle of Least Probability of Error) रूपी सूत्रों को लेकर संतुष्ट हो सकती है। यही है उसका विज्ञान। परन्तु इसमें समग्र विश्वरचना तो क्या, एक धूलिरेणु की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती ! प्रौढ़ि को यदि पूर्ण प्रातिभज्ञान (Perfect Reason Residing and ruiling of the heart of things) न मानो तब बोलो कि सृष्टि के मूल की खबर unreason है, अन्धतामिश्र है। यह कहकर वास्तविक को अपने अप्रौढ़िगौरव से लघु कर दिया !

रचना के प्रारंभ में है छन्दः। अतः निरतिशय छान्दसी कुशलता=प्रौढ़ि। अतः यज्ञ (सृष्टि) का तायन करता है छन्दः। जो यज्ञकृत् है वह स्वयं छन्दों के द्वारा उर्जित होता है। यज्ञ का क्रियादिरूप में वितान है छन्दसा। जो यजमान है उसका कारकादिरूप में अभ्युदय भी है छन्दसा। अतएव सम्पूर्णता-सामर्थ्य तथा साफल्य रूपी निमित्त ही प्रौढ़ि प्रशासन में आवश्यक हैं। पुनः विचार करो कि छन्द ही धनु, है, यही शरः है, यही है लक्ष्य। छन्द में जो सम्यकता (Perfectness) है, वही है प्रौढ़ि। प्रौढ़ि के दो रूप है सत्यं महत् तथा ऋतं बृहत्। वाक्-प्राण तथा बुद्धि किस प्रकार से समच्छन्दन्ता In the same Tune or Concordance में आये, यही है साधन। किसके साथ समच्छन्दन्ता में ? सत्यं महत् तथा ऋतं बृहद् रूपी जो प्रौढ़ि है, उसके ! पूर्व खण्डों में आलोचित अनुरूप प्रतिरूपादि शुद्धि साधन का समाश्रय लो। यही है क्रम साधना। जपध्यानादि प्रौढ़ि समरूपता में आने पर होता है समर्थ। सम अर्थात् सदृश Similar. "तद् भिन्नत्वे सती तन्निष्ठभूयोधर्मवत्त्वम्" और एकरूपता में दक्ष।

—•—

चतुर्थ अध्याय

१. अक्षरत्वमदितेः ॥

अदिति को अक्षर जानो ॥

अदित्यक्षरसामान्यं क्षोभविरहवृत्तिता ।

इतीतिगतिबीजत्वं विमर्शशक्तिसम्भवम् ॥ २२१ ॥

अत्+इति=अदिति । अत्=अक्षर सामान्य रूप से रहना । जिसमें किसी प्रकार को क्षोभ नहीं है । जैसे निःस्पन्द महाकाश, निस्तरंग महोदधि । तब क्या शुद्ध अधिष्ठान मात्र है ? इस सम्बन्ध में भी अदिति की व्याप्ति न्यून नहीं है । फिर भी अदिति को आदि माता रूप से प्राप्त करना ही होगा । अतः 'इति' अर्थात् विमर्श शक्ति वृत्ति जिसमें सम्भव हो जाये, वही गतिबीज अदिति में है । अदिति विमर्शमूला भी हैं । विमर्श की पुनर्भावना करो ।

प्रकाशस्य विमर्शस्य सम्परिष्वक्तगाढ़ता ।

रोधिकाऽपि क्षरक्षोभे ह्यदितिर्व्यापिका परा ॥ २२२ ॥

प्रकाश तथा विमर्श कभी भी पृथक् नहीं होते । पूर्ण अपृथक् भी नहीं है । दृग्दृश्यादि द्वन्द्व स्थित नहीं होते अथच चने के छिलके के नीचे पड़े दो दानें के समान सम्परिष्वक्त हैं । Inneutral Coalescence. Neutral कहने से अद्वन्द्वस्थ-मिथुनी भाव । They do not yet face and accost eaeh other.

यह जो सम्परिष्वक्तगाढ़ता है, यह ब्रह्म की आदिम रात्रिरूपता अथवा रोधिका शक्ति के अन्तर्गत है । यह सेतुरूपा है, जो मध्य में रहकर अक्षर सामान्य को क्षरक्षोभ में विवर्त्तित करती है । It is the inscrutable link principle between Being as given and Becoming. सेतु मे भी दो सन्धियां है वर तथा अवर । रससन्धि में विमर्श स्वयं को परमघनीरूपता (विन्दु) में ले आता है । अवर में यह सम्परिष्वक्तगाढ़ता विमर्श द्वैतत्व ले आती है, तथापि द्वन्द्वस्थ नहीं होती । 'मिथुन' अथच 'स्त्री च पुमांश्च' का भेद अनुदित है । विमर्श का विन्दुत्व 'स्वतः' किसी विमर्श विशेष विशिष्टता में नहीं है । मर्शपंचक के बीज की अथवा मूल रूप में पूर्णत्व-शून्यत्व तथा एकत्व की भावना करनी पड़ेगी । The Root Pre-Condition of all Logical Becoming.

उक्त सन्धिद्वय में ही रोधिका (रात्रि) है । At both ends of the 'Link' Leading the Alogical into the Logical. दो सन्धि के मध्य में भेद है अनुधावन योग्य । एक है विमर्श बीज अथवा मूल जिसमें स्वतः कोई विमृश्य वृत्तिता नहीं है । विमर्श भी अपने बीज में जाकर कहता है "यहां तो कुछ भी कहने योग्य

नहीं है।" दूसरा है इस विमर्श बीज का आदिम तप:। इसके द्वारा बीज में उच्छूनता आती है। वह अपने पास स्वयं ही आती है! जैसे सुषुप्ति तथा जागृति की सन्धि में। यहाँ भी स्व विमर्श (I की Discovery) पूर्ण नहीं रहता। स्वविमर्श को पूर्ण होने के लिये इस सम्परिष्वक्त गाढ़ता से उत्थित होना पड़ेगा। रोधिका या रात्रि ही विमर्शबीज को अंकुराभास, अंकुर इत्यादि क्रम से मर्शपंचक रूप 'धारण कराते हुये मुक्त (Release) करती हैं। अर्थात् रोधिका लेती है व्यापिका की भूमिका। रात्रि हो जाती है आवि।

यह दोनों हैं अदिति की भूमिका। परमा अदिति सर्वविध भूमिका से (अत: मर्शपंचक से भी) उर्ध्व हैं। जो परा तथा अपरा है वह परमा में व्यापिका होने योग्य जो नहीं है।

स्वर स्पर्शादि पंचत्वं पंचत्वं पदमात्रयो:।
विमर्शवृत्तिताजन्यस्तत्वसंख्येयतान्वय: ॥ २२३ ॥

अक्षर सामान्य में विमर्श वृत्तिवशात् (Owing to Fundamental Stress) पूर्वालोचित स्वरस्पर्शादि स्वर व्यंजनाकृति में क्षरक्षोभ (Basic Strain Conditions) घटित होने लगता है। इसीलिये पुन: पद एवं मात्रा पंच आकृति की हो जाती है। 'पद्यमान होऊं" यह भाव मात्र रहने पर पद है (जैसे व्याकरण के प्रत्यययोग में प्रकृति)। इस पद में कोई मीमासमुद्येश्य व्याप्ति उपलक्षित होने पर है पाद। (जैसे गायत्री में)। उपपद, प्रतिपद, अनुपद, अधिपद तथा अतिपद ही पद में पंचविभाजन है। पद् = पद्यमान होना।

(१) इसके समीप जाना (Approximating)
(२) इसके समान होना (Being Similar to)
(३) इसके अन्वय-अनुबन्ध में आना (Being Linked up with)
(४) इसके अधिकार अथवा व्याप्ति में आना (Being Covered by it or Covering it)
(५) उसे अतिक्रम करना (going beyond it as transcendent or as Both immanent Transcendent)

मात्रा का विभाजन देश सम्बन्ध से होता है।

अब यह लक्ष्य करो कि तत्वमात्र (देश-काल-पाद-मात्रा) की संख्येयता (संख्यारूपेण गृहीत होने की योग्यता) विमर्श वृत्ति के अन्वय अथवा अनुबन्ध से संभावित होती है अर्थात् जब तक विमर्श नहीं है, तब तक तत्व संख्या भी सम्बन्ध आदि में निरुत्तर, चुप है। विमर्श का उदय होने पर संख्या सम्बन्धादि आ जाते हैं। विमर्श के ही कारण भान हो जाता है भास।

अब काल:—

महाकालोह्यकालश्चाक्रमिकक्रमिकौ ततः ।
क्रममात्रिक इत्येवं कालोऽपि पञ्चतांगतः ॥२२४॥

महाकाल-अकाल-क्रमिककाल-अक्रमिककाल एवं क्रममात्रिक काल रूप से काल पंचधा अभिव्यक्त है। इनका विचार आगे किया जायेगा। संक्षेप में काल का भूमा रूप अथवा परिपूर्णरूप है महाकाल। ये हैं ब्रह्म, निर्विशेष-सविशेष। विशेष को यदि पूर्ण शून्यता में लो, तब ये हैं अकाल। विशेष में कलाकाष्ठापादमात्रा में से केवल पाद एवं को काष्ठा रक्खो, कला-मात्रा को निकाल दो, तब काल है अक्रमिक (Time as homogeneous infinite extension. यह है सूत्रात्मा सर्वभूतानाम्। तदनन्तर कला (aspect-phases) को छोड़ा, मात्रा (Measure) को लिया। यह है क्रमिक काल। गणित व्यवहार में यही नियम है। अन्त में कला को जोड़ो। अब है क्रममात्रिक काल। साधारण काल व्यवहार इसी से निष्पन्न होता है। महाकाल है विमर्श बीज का आधान।

अब देश :—

भूमा चाकाश इत्येवामात्रिकमात्रिकौ पुनः ।
पदमात्रिक इत्येनं देशस्यापि विभाजनम् ॥२२५॥

देश-तथा भूमा, अमात्रिक, मात्रिक, पदमात्रिक ये हुये पंच। विमृश्यवृत्तिता-के कारण काल विशेषत: 'क्रम' को देश विशेष करते हुये मात्रा को ग्रहण करता है। काल से संख्यान। देश से परिमाण। संख्या तथा मान को लेकर ही पदार्थ का संख्येयत्वं होता है। संख्येय पदार्थ है Predicable, measurable, Thinkable.

२. वर्णत्वं कश्यपस्य ॥

कश्यप को वर्णरूप से जानो ॥

अक्षर के समान वर्ण भी एक रहस्य संज्ञा है।

अर्णो यदक्षरत्वेनार्ण वस्तुदस्तुवग्रहात् ।
आदौ सम्प्रसरद्वाचच ह्यर्णो वर्णायतेञ्जसा ॥२२६॥

अर्ण है अक्षर का एक नाम। इसके अन्त में 'व' रखने पर हो जाता है अर्णव। इस अन्त के 'व' का सम्प्रसार करके (अर्थात् उ) यदि इसे अर्ण के आदि में रक्खो, तब यह है उ + अर्ण = वर्ण (अर्णो वर्णायतेऽञ्जसा), इसे कौशल के द्वारा साधना होगा। कौशल का स्मरण करो। अन्त्य 'व' ही आदि में 'उ' होकर सन्धि में आया।

इसका भाव ?

उच्छूनत्वमुकारेणार्णेन च क्षरदक्षरम् ।
एवं वर्णेन विज्ञेयः स्वोभावो योऽक्षरादितेः ॥२२७॥

'अर्ण' अर्थात् "क्षरदक्षर" अथवा क्षररूपेण आ रहा है, और पूर्णकाष्ठा पर्यन्त जाने का सामर्थ्य अक्षर पदार्थ प्राप्त कर रहा है। ऋ = मूर्धन्य गति। यह गति गुणित हुई Motion Multiplies itself (जैसे रणनादि में होता है) ऋ हो गया अर। यह किसी तल अथवा Plane के सम्बन्ध में एक सीमा प्रदर्शित करते हुये कहता है "देखो यहाँ तक, यही न"। अतएव अर + न = अर्ण। यह है क्षरत् अक्षर की पूर्ण तथा व्यक्त आकृति (Full Kinetic Pattern)। अन्त में 'व' को रखने पर वह अव्यक्त (Potential) आकृति प्राप्त कर लेता है। अर्थात् गतिलेख पूर्ण हो गया। किन्तु मुख किस ओर है, बोलो ? Kintic से Potential की ओर, जैसे जाग्रत से सुषुप्ति के समय। मुख को पलटो। किसी को पलटते समये उसे 'सम्प्रसरत्' भाव में लाकर तब पलटना पड़ता है। जैसे रील में फोटो खीची गयी। इसे खोल कर तब उलटे रूप में रखना पड़ता है।

चित्तवृत्ति का कोई संस्कार है। चित्तवृत्ति को उद्बुद्ध करके, उसका रूख घुमाते हुये ही उस संस्कार को बदल सकते हैं। यही है Psycho Analysis का मूल सूत्र। अतः अर्णव का 'व' ही उ होकर अर्ण के आदि मे आकर इस प्रकार से वामत्व अथवा शक्तिवैपरीत्य को लाता है। अर्णव सब को लेकर शक्तिमान होते हुये रिजर्व बैंक में जमा कर देता है। वर्ण कहते हैं "मैं ही तो रिजर्व बैंक हूँ। मुझ से ही समस्त शक्तिमान को निकालो"। अतः वर्ण अर्थात् अक्षररूपा अदिति का उच्छून भाव। अदिति अब केवल शक्तिसामान्य रूपा नहीं हैं। वे हो जाती हैं असामान्य शक्ति गर्भा। अक्षर का यही रूप है वर्ण।

क्षरक्षोभस्य सर्वस्य सर्वतो मौलिकाकृतिः।
वर्णाभिधा हि हृल्लेखा शब्दार्थप्रत्ययादिषु ॥२२८॥

'वर्णयति अथवा वर्ण्यते अनेन इति वर्णः' इससे यह प्रतीयमान होता है कि निखिल क्षरक्षोभ की (Stressing and straining of the Basic Continuum) सर्वतोभावेन मौलिक आकृति है हृल्लेखा। वह इस मौलिक अर्थ में है वर्णाभिधा, the primary Dynamic Defective. ऐसा शब्द-अर्थ-प्रत्ययादि सर्व स्थल पर है। इसलिये जपसूत्र में वर्णरसायन-प्राण रसायन तथा भावरसायन का अविच्छेद्य अन्वय किया गया है। जैसे वर्ण = उ + अर्ण = ऋ (अर) + न इत्यादि। शब्दवर्ण तथा रूप वर्णादि को भी मूल प्राणस्पन्दनाधार में अन्वित करके देखो। योगस्थल में Chrome-Therapy की तरह ही Phono-Therapy भी प्रयोज्य है।

इस बार कश्यप शब्द का वर्ण रसायन :—

भूः स्पर्शत्वं कपाभ्याञ्च भुवरन्तःस्यता हि यः।
शेन स्वरुष्मता चाहि वर्ण अध्यात्मकश्यपः ॥२२९॥

कश्यप शब्द के आदि तथा अन्त में क, प। ये दोनों आदि तथा अन्त स्पर्श वर्ण के आद्य (प्रथम) अक्षर हैं। यदि अक्षर सामान्य रूपा अदिति को भूः (यह) कहें तब क तथा प (जो कि कश्यप शब्द के दोनों ओर के दो वर्ण हैं) अदिति का स्पर्श कर रहे हैं। मध्य में है श्य = श + य। 'श' है उष्म वर्ण जो है स्वः (वह)। उष्मवर्ण पूर्वोक्त महाप्राणता तथा उच्छूनता का लिंगक है। अतः यह स्पष्ट हुआ कि कश्यप ही अदिति को क्षेत्र रूप से आद्यन्त स्पर्श करके उसे उच्छून महाप्राणता में ले आये। किसी भी क्षेत्र (Field) को इस प्रकार Surcharge में ले जाने हेतु उसमें एक 'लम्बमान' देना पड़ता है। यह लम्ब यह निर्देश देता है कि कितना उपर अथवा नीचे चार्ज जायेगा अथवा नहीं जायेगा! भूः तथा स्वः के मध्य में है यह अन्तरीक्ष। यह अन्तरीक्ष कश्यप में है 'व' (इय)। अतः अदिति = क्षेत्र। कश्यप = क्षेत्रप; क्षेत्रज्ञ। प्रथम है अक्षर संज्ञा में दूसरा आता है पूर्वोक्त वर्णसंज्ञा में। यह अवश्य है कि अक्षर रूपा अदिति असीमा हैं। उनका आद्यन्त स्पर्श नहीं होता फिर भी अक्षर का वर्णत्व करने के लिये उसमें आदि तथा अन्त का व्यवहार लगाना पड़ता है। वर्ण = Definitive Principle. वर्ण के द्वारा समस्त, सबकुछ वर्णित तथा निरूपित होता है। कश्यप हैं मूल निरूपक।

क्या पूर्वोक्त आधार-पूरक-लिंगक का विश्लेषण याद है? अदिति = आधार। 'क' इस आधार के किसी आदि (original) स्थल (Position) का स्पर्श करता है। 'प' उसमें कोई अन्तः स्थल (Terminal Position) है। उष्म महाप्राण 'श' = पूरक। अन्तःस्थ ष = लिंगक। इस प्रकार से बहुधा अदिति-कश्यप की भावना करो। जैसे अदिति = अन्न। कश्यप = अत्ता। अक्षर तथा वर्ण, यहाँ मौलिक परिभाषा में हैं।

३. संयोगादिभ्यो दक्षः ॥

संयोगादि से होता है दक्ष ॥

> **संयोगश्च वियोगश्च प्रतियोगस्तृतीयतः ।**
> **प्रयोगश्च नियोगश्च पञ्चैताः क्षररूपताः ॥२३०॥**
> **आद्याभ्यां जायते मन्त्रं यन्त्रञ्च प्रतियोगतः ।**
> **अन्त्याभ्यां जायते तन्त्रं दक्षो धुरन्धरो जनैः ॥२३१॥**
> **क्षोभ्यक्षोभक सम्बन्धे सम्बन्धस्य नियामकः ।**
> **दक्षोऽयं व्यवहारेषु भूमिकापटचित्रकः ॥२३२॥**

प्रथमतः यह विचार करो कि जितने प्रकार के भी क्षर विचार दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनके नियामक (operating Factors) रूप मे ये पांच ही हैं, यथा संयोग-वियोग-प्रतियोग-प्रयोग तथा नियोग। संयोग तथा वियोग का कार्य है संयोजन एवं वियोजन। इन दोनों से होता है। मन्त्र जैसे तुम्हारे वाक्-मन प्राण। ये

सभी अनेक शाखाओं के रूप मे वृत्तिमान होता हैं। इनका योग विशेषरूप से (व्यवहारतः) उन सब के साथ रहता है जो कि श्रेयः अमृतायः नहीं है। यहाँ सब है अनिष्ट का योग। इससे वियोजन करते हुए जो इष्ट संयोजन प्राप्त कराता है, वह है मन्त्र। जैसे कागज पर एक स्थिरविन्दु। यदि अन्य विन्दु इसे केन्द्र में रखकर वृत्तांकन करना चाहे, उस स्थिति में उस आवर्त्तन में उसे विषमवृत्तिता को छोड़ना होगा और समवृत्तिता को प्राप्त करना ही होगा। यही है वृत्त का सूत्र अथवा मन्त्र। यदि सागर के जल को पर्जन्यरूपेण प्राप्त करना चाहो, उस स्थिति में जल को सागर का त्याग करते हुए वाष्पाकारेण उर्ध्वोत्थित होना पड़ता है। उस वाष्प को भी पुनः वायु के विस्तार में उपयुक्त शैत्यमान आदि प्राप्त करना ही होगा। यह है पर्जन्यमन्त्र। ऊँ आदि के जप में नादविन्दु के समानाधिकरण में जो विन्दु है उससे सर्वप्रथम नाद को तदनन्तर कला को वियुक्त (उतित) करना पड़ता है। अन्त में विन्दु में ही उस उदय को संयुक्त (विलीन) करना होगा। यही है मन्त्र। और उदय-विलय सन्धि की नियामिका अर्द्धा ही समस्त मन्त्रों की मनु हैं।

प्रतियोग से होता है यन्त्र। स्पष्टतः प्रकट है कि संयोग-वियोग, जैसे-तैसे नहीं होता। जैसे quadratic Equation x, a, b, c के एक निर्दिष्ट अनुपात सूत्र में सम्बद्ध होने पर ही यह होता है। अन्यथा नहीं होता। अतः हमें संयोग-वियोग के एक विशिष्ट रूप-लेख अथवा आकृति को प्राप्त करना ही होगा। जो आवश्यक संयोग-वियोग है, उसकी एक परिकल्पना (design and diagram) तथा एक प्रतिरूपलेख का होना आवश्यक है। जैसे क-ख-ग विन्दुत्रय। मन्त्र ने कहा "इन तीनों को एक ऐसे कौणिक सम्बन्ध में स्थापित करो जिससे 'क' में उसके तीन कोणों की समष्टि दो कोणों में हो"। यन्त्र कहता है "यह त्रिभुज अंकित किया"। त्रिभुज के इस निर्दिष्ट कौणिक सम्बन्ध में तीनों विन्दु परस्परतः प्रतियोगी हो जाते हैं। इस प्रकार से सर्वत्र प्रतियोग व्यवस्थापक की यन्त्र भावना करो। It is the principle of Power co-ordination (and control)।

प्रयोग तथा नियोग ये दोनों हैं तन्त्र। तन्त्र में सब कुछ प्रयुक्त होता है और नियुक्त होता है। इन समस्त योग अथवा वियोग के लिये जो योग्य (fit-proper) हो, उन सभी अभीष्ट क्रिया (Desired Activation) को कहते हैं प्रयोग। आधान-सन्धान-विधानादि के द्वारा योग्यता होने पर अभीष्ट क्रिया करना = नियोग। जैसे योग में जब तक याजक एवं यजमान परस्पर नियोग नहीं कर लेते, तब तक अभीष्ट याग के सम्पूर्ण होने की सम्भावना ही नहीं रहती। यजमान वरण करे यथाविधि से याजक का। याजक भी यजमान को संकल्प आदि कराये। इस साधारण लक्षण का परीक्षण सर्वत्र करो।

इन तीनों के ही एक 'धू:' अथवा अक्ष की आवश्यकता होती है। 'धू:' र्थात् जो गति वृत्ति में अभीष्ट मान, छन्दः तथा आकृति का Motion. "धू" तथा अक्ष का एक 'विशेष' भी है। इसे अक्षसूत्र में विवेचित किया जायेगा। संक्षेप में धू:' में है केन्द्रीणमुखता और अक्ष में है व्यासमुख्यता। यहाँ दोनों को मिलाकर यह कहा जा सकता है "यह तत्व दक्ष हो गया।" यह 'जनि' अथवा संभव मात्रा में जो हुये हैं उनमें) धुरन्धर है।

अतः क्षोभ्यक्षोभक के चाहे जितने भी सम्बन्ध हों, सभी का नियामक है दक्ष। निखिल व्यवहार का जो भूमिकापर (Back ground plan or picture) आवश्यक होता है, दक्ष ही उन सबका चित्रक (डिजाइनर) है। इस त्रिचित्र विश्वरचना का मन्त्रद (आर्चिटेक्ट) स्वयं प्रजापति है। विश्वकर्मा (तन्त्रद) है इन्जीनियर। दक्ष हैं यन्त्रद, डिजाइनर। यहाँ एक ही पुरुष त्रिधा प्रतिभात हो रहा है प्रजापति, विश्वकर्मा तथा दक्ष के रूप में। दक्ष 'शिवाय', कुशल होना चाहिये (साधक हेतु)।

४. अदितेर्दक्षो दक्षाददितिः ॥

अदिति से दक्ष, दक्ष से अदिति ॥

ऋचां प्रहेलिकां येयं तां विद्याद् विश्वसृष्टिषु।
स्थितिस्थापकताबीजं पृथु वाणु तनुं स्थितम् ॥२३३॥
रेखाचित्रं हि वर्णानां वर्ण्यानाञ्च विशेषतः।
वर्णकस्तस्य दक्षोऽयमदितिर्वर्णमातृका।
अक्षरूपाक्षयोगेन विश्वे तरंगभंगिमा ॥२३४॥

ऋग्वेदादि में अदिति से दक्ष; दक्ष से अदिति, यह प्रहेलिका अंकित है। उस प्रहेलिका को विश्वसृष्टि, समष्टि तथा व्यष्टि में जान लो। क्यों? क्योंकि इस प्रहेलिका में स्थूल (पृथु), तनु तथा अणु (सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम) निखिल वस्तुजात की, स्थितिस्थापक धर्म की बीज (Root principle of Basic Elasticity) निहित है। वस्तुओं का व्यवहारतः एक स्थितिरूप रहता है। वह है उस वस्तु का व्यवहार निर्वाहक स्वरूप तथा स्वभाव। यह अक्षर एवं अच्युत नहीं है। इसका क्षोभ तथा च्युति निरन्तर है। तब भी वस्तु 'क्षेम' में, अपने स्वभाव स्वरूप में रहना चाहती है। जैसे एक रबड़ के गेंद को अथवा स्प्रिंग को Pressure दो, वह पूर्व रूप में पुनः आ जाता है, वैसे ही! यह केवल जड़ धर्म ही नहीं है। यह सर्वत्र है। क्षरभाव में एक क्षोभक (stress) होता है। वस्तु है क्षोभ्य। उसकी क्षरवृत्ति है strain. अतः वस्तुमात्र के सम्बन्ध में इस क्षोभ्य-क्षोभक अनुपात को जो ठीक करे, यह निश्चित करे कि वह किस अनुपात में क्षेम (स्वभाव-स्वरूप) में रहेगा, वही है स्थितिस्थापकता धर्म। यह धर्म पूर्णतः किसी भी सृष्टवस्तु में कार्यतः नहीं

है। जिस शक्ति से यह पूर्ण होता है, वह है क्षेमदा, क्षेमङ्करी। जड़ (स्थल-सूक्ष्म) को छोड़कर प्राण में जाने पर यह धर्म समधिक सावकाश हो जाता है। मुख्यप्राण में सातिशय होता है। अदिति ऐसी सत्ता है, जहाँ पर स्थितिस्थापता धर्म निरतिशय है।

पहले वर्ण के जिस लक्षण का अंकन किया गया है, उसे पुन: विचारो। इसमें रूपत्रय हैं वर्ण, वर्ण्य, वर्णक। इन तीनों के लिये अदिति हैं वर्णमात्रिका The Martex uuderlying whatever evolves from the potential (व) to a top limit of actuality (र्ण)। उदित-कलित-विलीन नाद में बिन्दु अदिति है। कलित कला समूह में नाद है अदिति। वर्णमातृका अदिति से वर्ण तथा वर्ण्य दोनों प्रसूत होते हैं। Both prediction and predicable. इसके लिये अदिति एक 'मध्यम' को ग्रहण करती हैं। वह है वर्णक। अर्थात् अदिति वर्णक को स्वयं में ही उदित तथा वृत्तिमान करते हुये कहती हैं "तुम हमारे इस मूल आधार उपादान में (ground and Matrix में) निखिल वर्ण को पुन: पुन: पुन: वर्णनीय Continued predicable करो। तब तक रुको नहीं; जब तक मैं निखिल वर्ण वर्ण्य गोष्ठी को स्वयं में विलीन नहीं कर लेती"। यह कथन प्रहेलिका के समान है। विचार करो। क्या सृष्टि व्यवहार में एक Continued process of predicating the predicable नहीं चल रहा है ? वर्णक ने जिसे वर्णना दिया वह वर्ण्य कहता है "हमारी इस वर्णना में पुन: वर्णना प्रदान करो पुन: पुन: वर्णना प्रदान करो। लेख का कभी भी समापन न हो"। अदिति हैं मूल वर्णमातृका। इसी के साथ वे प्रत्येक वर्णन स्थल में स्वयं को पुन: मातृका (Martix) के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। Prime Matter power अपने से First Informing power को evolve करते हुये उससे कहता है "तुम्हारा रूपायण भूय: रूप से प्रोग्रेसिवली चलता रहे। मैं तुम्हारे प्रत्येक पद में, प्रत्यय में प्रकृति रूपेण स्वयं को लाऊँगा।" Martix = प्रकृति। फलत: Matter and form की एक सामान्य प्रकृतिरूपता है। वहाँ सत्ता (Being) कहती है "मैं यहां हूँ"। आकृति भी यहाँ कहती है "यह तो मैं भी साथ हूं"। आकृति = Form-Pattern. दोनों किस भाव में जुड़े रहते है, यह कहा नहीं जा सकता।

फिर भी ये रहते हैं। जैसे भान में-सुषुप्ति में ! यह है मूल मातृका अदिति। ये ही स्वयं से वर्ण एवं वर्णक रूपी द्वन्द्व का (प्रतियोगिता का) प्रसव करती हैं। इन दोनों की अन्योन्य क्रियमाणता से जो 'जात' होता है, वही है वर्ण्य। यह वर्ण जात होकर नूतन रूप से मातृका (अदिति) की भूमिका ग्रहण करता है। Becomes a new datum or fresh material for further treatment and Elaboration. इसलिये पुन: वर्ण-वर्णक सन्निवेश आवश्यक हो जाता है। यह अच्छी

…रह विवेचित हो चुका है कि वर्ण है Dynamic activatien out of a poten-…ial treatment and elaboration. इस प्रकार की क्रिया में किसी अक्ष दण्ड की …आवश्यकता होती है। यही है मानों मातृकारूपी समुद्र मन्थन का दण्ड। वर्णकरूपेण …जो अक्ष दण्ड को धारण करे, वही है दक्ष, मन्थनकृत्! इस प्रकार से देखो कि …अदिति से दक्ष, दक्ष से अदिति। अदिति हैं Martix principle दक्ष है Exponent principle. बाह्य तथा आभ्यन्तर, निखिल सृष्टि में इन दोनों की जन्य-जनकता का …आवर्त्तन आवर्त्तित होता रहता है।

अदिति-कश्यप तथा अदिति-दक्ष, इन द्वन्द्वद्वय की विवेचना की भावना …करो। अदिति को उच्छून करके, उसे (वर्ण रूपेण) निखिल सृष्टि की आकृति की …संभावना में जो प्रसूत करे वह है कश्यप। अर्थात् वह मूलमात्रिका को बना देता …है आदिमाता। अक्षरमात्र तो वर्ण होकर ही होता है वर्णनीया, वर्णमयी सृष्टि। …अदिति-दक्ष में जो सम्भूय समुत्थान भाव है, वह है मूल मातृका की मौलिक स्थिति …व्यापकता के कारण। प्रकृति किसी प्रत्यय में आकर मानों कहती है "मैं पुनः प्रकृति में लौटूँगी"।

अन्त में देखो विश्व में (अन्तर्बहिः) जो तरंगभंगिमा (Wave pattern) परिलक्षित हो रही है, वह है यह अदिति-दक्ष सम्भूय समुत्थानवृत्तिता का फल। जैसे अदिति = कोई सामान्य आधार (जैसे Hydrodynamic Equations of continuity)। इस आधार में और कुछ अक्षदण्ड रूप से स्वयं को धारण करता है। अक्षदण्ड = Vertical Exponent. वह कहता है "इस अक्षदण्ड के दोनों ओर साथ-साथ स्पर्श करते हुये धन-ऋण (उठना-नीचे आना) रूपी गतिवृत्ति अविच्छेद (In continuity) चले"। फल है उर्मि श्रेणी। द (दण्डवृत्ति) + अक्ष = दक्ष। यह प्रान्तद्वय (दोनों ओर का) स्पर्श इस सूत्र में देखो :—

५. अक्षत्वं समावृत्ते मूलमूर्द्धनोः ॥

जिसके द्वारा मूलमूर्द्धा की समावृत्ति घटित हो; वह है अक्ष ॥

मूल = मूल आधार, Base। मूर्द्धा = उस आधार में उदय-उन्नति की काष्ठा; Apex. समावृत्ति = अनुबन्धानुरूप एक मूल संज्ञा में ले जाया जा रहा है। जैसे कोई वर्ण (Dynamic activation) मूल मूर्द्धा के साथ युक्त है। यह सम्पर्क (Corre-spondence) यदि छन्दोगवृत्तिता (Harmonically) होता है; तब गतिवृत्ति की समावृत्ति हो जाती है।

उस स्थिति में किसी गतिवृत्ति को, उसकी आदि तथा काष्ठा; उपक्रम एवं उपसंहार की सीमा को जो सुषमसम्बन्ध वृत्तिता में रखता है (In Harmonic correspondence), वह है अक्ष।

अकारो ह्यदितेर्मूलं क्षो दक्षस्य च मूर्द्धनि ।
एताभ्यां या समावृत्तिर्विश्वस्य मूलमूर्द्धनोः ।
तया ह्यक्षत्वमायति रादक्षोऽक्षरतां गतः ॥२३५॥
मूलाधारसहस्त्रार समावर्त्तनवृत्तिता ।
सौषुम्नाक्षेण निष्पाद्या मूलमूर्द्धासमासतः ॥२३६॥
नादोऽदिति र्दक्षो बिन्दु र्व्यासङ्गोऽक्ष इति स्थितिः ।
अमावदितिदक्षौ चो-कारोऽक्ष इत्यपि स्थिरम् ॥२३७॥

अदिति के आदि में (मूल) में अ; क्ष 'दक्ष' की मूर्द्धा में । इन दोनों के द्वारा पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार निखिल पदार्थ की आमूल-आमूर्द्धा (Base to Apex) सुषुम समन्वयमयी वृत्ति का निर्वहण होता है, अतएव अक्ष का अक्षत्व है। जैसे गणित में एक Cone, इसकी Axis के साथ व्यास के समकोण में एक अवच्छेद (Section) करने पर प्राप्त होता है वृत्त । Eccentricity (e) के स्थान पर Ellipse इत्यादि । तथापि ये सब हैं सजातीय लेख । इनमें से प्रत्येक की पृथक् पृथक् अभिविधि (Equation) होने पर इनकी साजात्यनिरूपक एक साधारण अभिविधि भी है । और साजात्य निर्वाहक Cone का यह अक्ष । दीक्षा ऐसे ही एक समर्थ मन्त्ररूप अक्ष के द्वारा श्री गुरु का ईक्षण है, जिसके द्वारा शिष्य का वृत्तिलेख श्री गुरु के साजात्य में आता है । बाह्यपूजा की प्राण प्रतिष्ठा में इस अक्ष को विशेषतः पहचानों । दीक्षा तथा न्यास के प्रसंग में यह प्रसंग पुनः आयेगा ।

अक्ष के साथ 'र' का योग करने पर होता है अक्षर । 'र'=क्षरभाव अथवा क्षराभाव में क्षरभाव का उपयोग । क्षराभाव का प्रतियोगी है क्षर । अनुयोगी है अक्षर। अब यह देखो कि क्ष=क्+ष, उस स्थिति में क में मूल है और ष में मूर्द्ध। इस व्यञ्जना पर विचार करो ।

षटचक्र के मूल में मूलाधार । मूर्द्धा में सहस्त्रार । इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना है अक्ष । किस उद्देश्य से ? समावर्तनवृत्तिता । अर्थात् इस प्रकार की वृत्तिमत्ता जो समावृत्ति संज्ञा में आती है । सृष्टि में व्यवहारतः जितने प्रकार का पथ या मार्ग परिलक्षित होता है, वह सभी व्यावृत्ति बहुलता (Dominance of disturbing potential) में विद्यमान रहता है । इस बहुलता की लाघवता (Reduction) साधन ही तत् तत् पंथी समस्त का साधन है । सभी स्वभावतः The path of least ressistance खोजते हैं । समावृत्ति में व्यावृत्ति विद्वेष लघिष्ठ हो जाता है । तब गतिवृत्ति यह कह सकने में सक्षम हो जाती है कि अब मैं स्व छन्द में ऋतानुग भाव से चलूंगी । यह है सौषुम्नमार्ग ।

समावृत्ति में मूल तथा मूर्द्धा दोनों ही समास में (Integrally) तथा अन्योन्य समन्वय (In mutual 'happy' corrospondence) में गृहीत होता है। जैसे जप में विन्दुमेरु-नादमेरु ।

इस प्रसंग में नाद=अदिति, विन्दु=दक्ष, इन दोनों का व्यासङ्ग=अक्ष; इस प्रकार से भी भावना कर सकते हैं। विन्दु (पूर्ण शून्यैक) स्वयं ही दक्ष है। विन्दु को विशेषरूप से पकड़कर सृष्टि में समस्त व्यापारवत्ता ही दक्ष हो जाती है। The Sourse and Nucleus principle. जपक्रिया कब दक्ष होती है ? विन्दु संश्रय हो जाने पर। व्यासङ्ग=विशेषरूप से आसङ्ग। अथवा 'वि' अर्थात् व्यावृत्ति परिहार का जो आसङ्ग है। यह है अक्ष !

पुनश्च, ॐ में अ=अदिति, म=दक्ष, उ=अक्ष। प्रणव में यह तृतीय मात्रा (म) क्या करती है ? मध्य में 'उ' को लगाकर, अक्षर सामान्य 'अ' का मन्थन करती है। क्यों ? अर्धमात्रा एवं उसके प्रसाद से अमृत प्राप्त करने के लिये।

६. तस्यैवाजिक्षत्वानुबन्धित्वेन दण्डत्वम् ॥

अक्ष यद्यपि अजिक्षरूपेण अनुबन्धी होता है, फिर भी दक्ष है दण्ड ॥

अजिक्षत्वमृजुत्वं स्यादनुबन्धितया दमः।
दादक्षो दक्षतां याति दक्षो दण्ड ऋजुत्वतः ॥२३८॥

अजिक्षत्व कहने से ज्यामितिक सरलेखादि के ऋजुत्व का तात्पर्य नहीं है। सरल, वक्र शंखावर्त्त इत्यादि प्रकार की गतिवृत्ति क्यों न हो, वह अपनी निर्दिष्ट अभिविधि अथवा छन्द में in undeviating rectitude or confirmity में है अथवा नहीं है, इसे भी जानना होगा। वृत्त, वृत्ताभास तथा Parabola तो ऋजु रैखिक नहीं है, फिर भी इनमें अजिक्षत्व तथा ऋजुत्व का लक्षण है। जपव्याहरण में ऋजुत्व के सम्बन्ध में इतिपूर्व कहा जा चुका है। इस प्रकार से अजिक्षवृत्ति को जो धर्म उसकी अपनी अभिविधि के अनुशासन में रखता है, वह है दम। यह दम=द। 'द' का योजन करने से ही अक्ष हो जाता है दक्ष। दमकुशली (Master Control) के अतिरिक्त दक्ष कोई भी नहीं है। यदि अनुशासन में दम के साथ ऋजुत्व (आर्जव) Rule or Discipline following the straight forward line of undevia-ling rectitude मिलित हो जाता है, तब दक्ष है अक्ष। दम=धर्म, दण्ड=धर्म का विनियोग।

अन्वयादनुबन्धः स्यात् प्रतिबन्धस्य वारणात्।
निरन्धश्च प्रबन्धश्च भूतभव्यद्वयान्वयौ ॥२३९॥

साधारण रूप से बन्ध (Nexus or Binding principle) यदि अन्वय में तथा अनुलोम में है तब है अनुबन्ध। व्यतिरेक में तथा प्रतिलोम में होने पर प्रति-

बन्ध । भूत (Actual) के साथ अन्वय रहने पर निबन्ध । भव्य (Prospective) में अन्वय होने पर प्रबन्ध । सभी प्रकार के व्यवहार में इन्हीं चार प्रकार का बन्ध सम्बन्ध होता है । इसे दृष्टान्त आदि से समझ लो । इसे समझे बिना बन्धमुक्ति नहीं मिलती ।

व्याप्तिग्रहणमात्रेन चाप्यव्याप्तिर्द्वितीयतः ।
तत्रापि भूतनिष्ठा च भव्यनिष्ठा विशिष्यते ॥ २४०॥

अनुबन्ध में व्याप्तिग्रहण । यदि 'ख', 'क' के अनुबन्ध में है, तब 'क' की व्याप्ति में ही 'ख' का ग्रहण होना उचित है । अर्थात् 'क' वृत्त में ही 'ख' है । यदि इस प्रकार से व्याप्ति में नहीं है, तब है प्रतिबन्ध । यहाँ पर 'ख' है 'क' का जो अभाव है, उस अभाव का प्रतियोगी । फिर भी इस व्याप्तिग्रहण में भूतनिष्ठास्थल में है प्रबन्ध । जो हो रहा है अथवा चल रहा है, उसके सम्बन्ध में जो बन्ध है (Linkage, affinity, reference), वह है निबन्ध (निबध्नाति) । भावी सम्बन्ध में है प्रबन्ध (The prospective 'projected' into the actual) । जैसे भूगर्भस्थखान । जो आविष्कृत है, वह सम्बन्ध में निबन्ध है । जो आविष्करणीय है, वह सम्बन्ध में प्रबन्ध है । जप में नाद सन्धान होने पर = निबन्ध । ज्योतिः तथा रस का सन्धान मिलने पर = प्रतिबन्ध ।

ॐ कारस्य ह्यकारादिचतुर्मात्राभिरेजितैः ।
तकारादि चतुर्वर्णैः क्लृप्तं दण्डचतुष्ठयम् ॥२४१॥

ऊँकार की अ, उ, म तथा अर्धमात्रा रूपी चतुःमात्रा के द्वारा ऐजित (उत्तेजित = energised) होकर दण्ड भी चतुःसंख्यक हो गया है । 'अ' में कायदण्ड होता है । उ द्वारा वाग्दण्ड । म द्वारा मनोदण्ड । अर्द्धमात्रा द्वारा तपोदण्ड । 'अ' है स्वरप्रधान । इसमे काय अथवा एपरेटस 'सुर' में आता है । उ है वायुप्रधान, इससे वाक् छन्द में आती है । 'म' है स्पर्शप्रधान, इससे मन आता है भाव अथवा अनुध्यान में । अर्द्धमात्रा द्वारा काय, वाक्, मन रूपी त्रितय की मुख्यप्राणरूपता में (नाद-विन्दु ज्योतिरस इत्यादि रूपेण) परिरमण होता है । यह होने पर क, व, म, त रूपी चतुः दण्ड है ।

यह तपोदण्ड ही सर्वत्र (साधना में भी) 'यह' और 'वह' के मध्य में विघृति विधायक है । इसके बिना कायदण्डादि के ध्वस्त हो जाने का भय हो जाता है । अतः इसी कारण से जपादि में अर्द्धा को प्रसन्न रक्खो । तपोभंग होते ही साधन तथा सिद्धि दोनों भंग । चतुराश्रम में भी ब्रह्मचर्य में वीर्यदण्ड, गार्हस्थ्य में यज्ञदण्ड, वानप्रस्थ में तपोदण्ड तथा प्रव्रज्या में यतिदण्ड ही चतुष्पात् दण्डप्रशासन हैं । वाक् में मानदण्ड, प्राण में आयामदण्ड, मन में मति अथवा शमदण्ड, बुद्धि में धृति अथवा ध्यानदण्ड इत्यादि ।

७. मूलमूर्द्धमुख्यतया दक्षस्याक्षत्वम् ॥

(दण्डवृत्तिमुख्या न होकर) मूलमूर्द्ध मुख्या होने पर दक्ष ही अक्ष है ॥

पंचम सूत्र में मूलमूर्द्धसमावृत्ति में 'अक्ष' की उपलब्धि हुई है। यहाँ है मूल-मूर्द्धमुख्यत्व। अक्ष के साथ दण्ड रहता है। यह जो दोनों का साहित्य है, इससे प्रश्न होता है "अच्छा ! इन दोनों में से किसे प्रधान बनाकर भावना में ला रहे हो ?" अक्षमात्र में अभिविधि तथा मर्यादा अन्वित रहती है। एक कहता है "यह है तुम्हारी गतिविधि।" दूसरा कहता है "तुम तो यहाँ यहाँ तक हो। इन दोनों में से किसे विशेष मानते हो, यह कहो" प्रथम में, प्रशासनानुबन्ध में अक्ष है दक्ष। द्वितीय में प्रशासितानुबन्ध में सीमा के कारण दक्ष ही है अक्ष।

मूलमुपक्रमो मूर्द्धोपसंहार इति स्थितः।
उपक्रमोपसंहारसम्बन्धमुख्यताक्षता ॥२४२॥

मूल = उपक्रम। मूर्द्धा = उपसंहार, इस स्थिति में यदि उपक्रम उपसंहार सम्बन्ध की मुख्यता लक्षित होती है, तब 'अक्ष' आ गया। किसी क्रिया के प्रारंभ में अन्त में इस प्रारंभ तथा अन्त के सम्बन्ध को कौन, कैसे विशेष भाव में संयोजित करता है, इस प्रश्न का उत्तर है अक्ष। जैसे समस्त जपादि में मध्यमा। यह है नित्य स्फोटरूपा और सब प्रकार के (तथा वाक् का) जप का हृदिस्थित अक्ष। यह आधार अथवा Base है अक्ष। आवृत्ति-परिवृत्ति का अक्ष = नाद। परावृत्ति-समावृत्ति का अक्ष = अर्द्धमात्रा। नादमेरु तथा विन्दुमेरु संयोजन = सम्यक् अनुवृत्ति (छन्दोगत्व) का अक्ष।

सम्बन्धमुख्यता किसे कहते हैं ?

अनुबन्धादिबन्धानाँ सम्बन्धव्यवसायिता।
चतुर्व्यवहिताभावः सम्बन्धमुख्यता मता ॥२४३॥

अनुबन्धादि जिन ४ प्रकार के बन्ध (Binding Principle) को पहले कहा गया है, यदि उनका सम्बन्ध व्यवसायी है और यदि चारो व्यवहितों का अभाव है (व्यवहित = देशव्यवधान, कालव्यवधान, वस्तुव्यवधान, अन्यसम्बन्ध व्यवधान), तब यह समझना कि सम्बन्धमुख्यता हो गयी। व्यवसायी का तात्पर्य इन अनुबन्धादि का सम्बन्ध नानाविषयक, नानामुखी नहीं है। Not in multilateral reference, but in one pointed refrence, क के अनुबन्ध में क्या ख का सम्बन्ध एकमुखी है अथवा नानामुखी है ? यह प्रश्न है। व्यवसाय के काष्ठा में निष्ठा। गुरु, इष्टमन्त्र आदि के सम्बन्ध में तुम्हारा जप आदि ही अनुबन्ध है। अनुबन्ध साधु होना चाहिये तथा अनुवृत्ति साध्वी ! तत्पश्चात् जब तक ये चारो व्यवधान हट नहीं जाते, तब तक सम्बन्ध भी व्यवसायी होने पर भी मुख्य नहीं हो सकता। लौह का चूर्ण चुम्बक

की ओर जाता है परन्तु दैशिक व्यवधान (दूरी) अधिक रहने पर क्या होगा ? मुख्यतापत्ति के लिये तो अन्य एवं इतर सम्बन्ध भी अन्तराय स्वरूप ही है ।

अक्षमिन्द्रियमित्यत्र गृह्यतेऽक्षतान्वयः ।
सामान्याधिकरण्येनास्मितेदन्तेति च द्वयोः ॥२४४॥

दक्ष का तात्पर्यार्थ यदि इन्द्रिय है, तब अक्ष में अक्षताधर्म का अन्वय है । इन्द्रियों के द्वारा ही विषयों के साथ मन तथा आत्मा की सम्बन्धमुख्यता घटित होती है । मन के अध्यवसायी होने पर और इन चारो व्यवधानों की वर्त्तमानता में विषय सम्बन्ध मुख्यभाव (सम्यक् ग्रहण रूपेण) में नहीं होता । अस्मिता तथा इदन्ता (अहं एवं इदं) के सामान्याधिकरणता का संघटक है अक्ष । इन्द्रियजन्य ज्ञान होने के लिये प्रमातृ चैतन्य, प्रमेय चैतन्य तथा प्रमाण चैतन्य का विशेषतः समानाधिकरण सम्बन्ध में आना आवश्यक है । अतएव इस प्रकार का सम्बन्ध संस्थापक अक्ष आवश्यक हो जाता है । दृष्टान्तों के द्वारा इस अक्ष का सन्धान करो ।

संगृहीततलादीनामावृत्तौ वृत्तितुल्यताम् ।
समीकर्त्तुं समर्थोऽक्षः कमठमेरुमन्दरः ॥२४५॥

जैसे किसी क्रिया के निर्वहण के लिये एकाधिक तल (Plane) को एक साथ संगृहीत किया गया । (जैसे Energy के विभिन्न Different levels and forms) ये तल आवर्त्तित हो रहे हैं अथवा उनका आवर्त्तित होना आवश्यक है । इन सबों के आवर्त्तन में तुल्यवृत्तिता कैसे रक्खी जा सकेगी ? तुल्यवृत्तिता = accordance and uniformity. विभिन्न तल में विभिन्न प्रकार की गतियों का समीकरण होना आवश्यक है । सम का तात्पर्य पूर्ण समान नहीं भी हो सकता है । समानुपातिक भी हो सकता है । जैसे संगीत में तान अथवा उससे अधिक ग्रामों में स्वरमूर्च्छना मृदंगादि के बोल हो सकते हैं । इसी प्रकार से समीकरणसमर्थ है अक्ष । सुर-छन्द में समानुपातिक भी है यही अक्ष । वृत्त, वृत्ताभास, पैराबोला प्रभृति में अक्ष ही उनकी साधारण अभिविधि (जेनरल ईक्वेशन) है । जपादि में मध्यमादि अक्ष के सम्बन्ध में सतर्क रहो । गायत्री जप में है षट्पदिक सुषमवृत्तिता । The Six-phase Harmonic process. अर्द्धमात्रारूपी मूल अक्ष के उदय-विलय (धन = ऋण) मुखी रहने पर परिवृत्ति । उर्ध्वमुख होने पर परानिवृ`त्ति पुनः पुनः । षट्चक्रवृत्ति के सम्बन्ध में सुषुम्ना का अक्षत्व !

८. दण्डानुबन्धित्वप्राधान्येनाक्षस्य दक्षत्वम् ॥

(पक्षान्तरेण) यदि दण्ड का अनुबन्धित्व प्रधान है, तब अक्ष है दक्ष ॥

(अनुबन्धित्व = Logical Reference)

ज्यामितिर्देशनिष्ठा या काले संख्येयवृत्तिता ।
तयोः प्रशासनो दण्डः समीकरणसूत्रतः ॥२४६॥

समीकरणसूत्रत: = समीकरणसूत्रवशत: । जैसे देश में अन्तर्निहित (निष्ठित) ज्यामितिक संस्था रहती है, उसी प्रकार काल में भी निष्ठित एक संख्येयवृत्तिता है। अर्थात् व्यावहारिक देशकाल स्वगतसंस्थाविशिष्ट (having an intrinsic make and pattern.)। यदि प्रथम को (देश को) कहो intrinsic geometry of space तब उस स्थिति में काल है Intrinsic kinematics of time. देश काल में कुछ भी घटित होने के लिये, वह इन दोनों की अपेक्षा से तथा तन्त्रविधि से ही घटित होता है। दोनों में है देशभक्ति-कालशक्ति । Power ensemble as space-time. इसका लांछन नहीं होता, तथापि समाधान हो जाता है। समाधान सूत्र को कहते हैं समीकरणसूत्र। (जैसे Law of gravitation)। कर्म सम्बन्ध में हम जिसे अदृष्ट कहते हैं, वह मुख्यत: उक्त देशकालशक्ति संस्था का आश्रय लेकर ही रहता है। इसी कारण से कर्म के उपयोग तथा फल आदि के विचारार्थ ज्योतिष का प्रमाण माना जाता है।

देश में निष्ठित है परिमेयवृत्तिता तथा काल में संख्येयवृत्तिता । इस दृष्टि से यत्किंचित जो व्यवस्थानसमस्या (Problem of planned process) उदित होती है, उसके समाधानार्थ आवश्यक है समीकरणसूत्र। इसके न मिलने पर समाधान (Solution) साधित नहीं होता। समस्त सूत्र का रूप दो है अनुशासन तथा प्रशासन। अनुशासन में होता है अनुकूल का अन्वय तथा प्रशासन में होता है प्रतिकूल का व्यतिरेक। सूत्रोक्त इस अन्वय-व्यतिरेकी प्रशासन रूप को 'दण्ड' कहते हैं।

समीकरण सूत्र = Equation of conformity । दण्ड = Rule of rectitude of pure conformity.

अक्षमाश्रित्य चारोहो जपादिसर्वकर्मसु ।
समीकरणसूत्रेण शासिताक्षस्थ दक्षता ॥२४७॥

जपादि समस्त कर्मों में अक्षाश्रय लेने से अभ्यारोह-आरोह साधित हो जाता है। जैसे शंखावृत्ति में In Spiral motion. गायत्रीजप के षट्पादों में छ शंखावृत्ति है। नाद इन सबके अक्षरूप से स्थित रहता है। इतिपूर्व अनेक स्थलों पर पादसमूह को उर्मिकलारूपेण (wave phase) विवेचित किया गया है, किन्तु सूक्ष्मप्रत्यय में प्रत्येक उर्मिकला की शंखावृत्ति निष्ठित रहती है। जैसे कोई एक spring. उसके दोनों सिरों को दो ओर से बांध दो। अब उसे मध्य से खींचो। देखो उर्मि के समान हुआ।

अब यदि किसी समीकरण सूत्र का अक्ष, प्रशासन में रहते हुये वृत्तिमान होता है, तब वह अक्ष है दक्ष। जप के उदय-विलय सेतु में स्थित रहकर अर्द्धा इसी प्रशासन का निर्देश देती है।

जो प्रशासयित्व सूत्र है, उसे कहते हैं विधि। जिसके द्वारा विधि का निर्णय (अन्वय-व्यतिरेक में) होता है, वह है शास्त्र। अतः शास्त्र के इस लक्षण के द्वारा यह निश्चित होता है कि ऋत क्या है, अनृत क्या है। इसके व्यवस्थापन में शास्त्र ही प्रमाण है।

९. दण्डपरिवृत्त्या वृत्तत्वम् ॥
दण्ड की परिवृत्ति से वृत्त ॥

आविन्दु विन्दुशेषञ्च वृत्तं हि परितो मतम्।
अणुतनुरुभेदैश्च तदपि त्रिविधं भवेत् ॥२४८॥

विन्दु से (point of origin) से प्रारंभ करके कोई गतिवृत्ति (वृत्त) यदि पुनः विन्दु में ही शेष होती है, तब है परिवृत्ति। जहां उदय है, वहीं है विलय। यह परिवृत्ति अणु-तनु-उरु भेद से तीन प्रकार की हैं। अणुवृत्ति में परिवृत्ति होती है विन्दुमुखीन। तनु में कला मुख्य तथा उरु में नादमुख्या हो जाती है। अणु में इन्टेन्सिव, उरु में एक्सटेंन्सिव, तनु मे एक्सप्रेसिव। केवल जप में ही नहीं, सभी क्रिया में इनको देखो।

परिवृत्तेन संग्राह्यं वृत्तकोणादिकञ्च यत्।
चतुर्धा तस्य विश्लेषो देशकालाङ्कवस्तुभिः ॥२४९॥

परिवृत्ति के द्वारा देश-काल-सम्बन्ध—(या निमित्त) वस्तु, इस वृत्तभाग चतुष्ठय (Functional quadrants में) का विश्लेषण हो सकता है। अर्थात् परिवृत्त चतुष्पात् है। देशकाल आदि आधार में (फ्रेम में) जब किसी घटना का विश्लेषण करोगे, तब यह हो जाते हैं चतुर्मान (four basic co-ordinates of any event analysis)।

अङ्कयति कलाविन्दु-नादांश्चेति त्रिधा-पुनः।
सप्तभङ्गिविधानेन दण्डस्य सप्तधाङ्कनम् ॥ २५० ॥

इन परिवृत्ति चतुष्ठय में जो अंक है (अंकक जहां सम्बन्ध या निमित्त है The tracing and informing factor), वह पूर्वालोचित विन्दु-कला-नाद रूपी मुख से (Sense ar reference से) उसका अंकन करता है। फलतः होता है अनुवृत्त (Microscopic), उरुवृत्त (macroscopic) तथा तनुवृत्त (मध्यम, साधारण)। अतएव दण्ड (The Rulling and Conforming principle) का विधान या विधि है सप्तभंगी। दण्ड द्वारा विश्वलेखाकृति का जो अंकन-प्रशासन हो रहा है, उसमें सप्तभंगी का दर्शन करो। देशकाल को एक कर लो और वस्तु को भी एक करो। यहां वस्तु का तात्पर्य है सत्ता शक्ति। इन दोनों में ही अंक हो जाता है अंक। अंक इन दोनों का ही (देश-काल, तथा वस्तु) अणु, तनु (मध्यम) तथा उरु

रूपेण अंकन करता है। परिणाम है भंगी (Six Modes of Becoming)। इसके मूल में अंक स्वयं अपने अंकनसूत्रसामान्य रूप से रहता है। अत: 1 + 6 = 7 यही है सप्तभंगी। विश्व की दण्ड विधि है सप्तपर्वा !

१०. तदवृत्तप्रतिच्छेदात् प्रवृत्तत्वम् ॥

(दण्ड की इस प्रकार की) परिवृत्ति से यदि प्रतिच्छेद घटित होता है, तब प्रवृत्त संज्ञा होती है ॥

जैसे दो सरल रेखा समकोण में परस्पर को छेद (काटती) करती है। (यह समकोण के स्थान पर विषमकोण भी हो सकता है। फल होगा a system of Oblique Co-ordinates)। यदि किसी गति वृत्ति को इन दोनों प्रतिच्छिन्न सरल रेखा के सम्बन्ध में (With respect to that frame of Co-ordinates) व्यास-समास में देखा जाये, तब समग्र गतिलेख में जिस आलोच्य आकृति की उपलब्धि होती है (Analytic or analysable section); उसे कहते हैं प्रवृत्त (an 'Event' Occurence)। प्रतिच्छेद को सीधी आकृति में पाने के लिये उक्त सरल प्रतिच्छेद को कल्पित किया गया है।

परिवृत्त्या हि दण्डस्य विश्वं यद् वर्त्तुलायते।
तद् ब्रह्माण्डाभिधं ज्ञेयं स्थूलं सूक्ष्मञ्च कारणम् ॥ २५१ ॥

दण्ड की परिवृत्ति के कारण विश्वसामग्री की वर्त्तुलाकृति (Sphere Pattern) हो जाती है। इस विश्व वर्त्तुल को कहते हैं ब्रह्माण्ड। यह स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण रूपेण तीन है। दण्ड अर्थात् पूर्वोक्त समीकरण सूत्रप्रशासन—The rule of a Pan-Cosmic equation. परिवृत्ति = इसकी पूर्ण सावकाशता = Its total field or range of application. यदि इस सामग्रिक विनियोग को सकल मान (डाइमेंशन) में ले जायें, तब यह क्षेत्र है वर्त्तुलाकार। (समग्रभावेन पूर्ण वर्त्तुल नहीं अवच्छेद में By limiting Dimensions वर्त्तुल)। अतएव वर्त्तुल या ब्रह्माण्ड 'विश्वध्याता' के ध्यान में है। हमारी कल्पना में नहीं है।

क्रियाकृतित्वमाद्येन सूक्ष्मं शक्त्यानुपातिता।
क्रियाकृतेश्च शक्तीनां कार्यताशक्यताश्रयम्।
सम्भूयमानताबीजं भूर्भुवः स्वर्यथाक्रमम् ॥ २५२ ॥
चतुरस्त्रप्रतिच्छेदादपेक्षमाणदृष्टितः ।
सामग्रीच्छेदकं चित्रं प्रवृत्तं घटनाभिधम् ॥ २५३ ॥

स्थूल = विश्व की क्रियाकृति (Patent pattern Cosmic Actual)। सूक्ष्म = अनुपात सम्बन्धावच्छिन्न शक्त्याकृति (Potent pattern-Comic Potential)। सूक्ष्म भी केवल शक्तिपिण्ड ही नहीं है। जैसे चित्त के संस्कारव्यूह।

क्रियाकृति एवं शक्त्याकृति (यह लक्ष्य करो कि इसे आकृति कहा गया) प्रभृति स्थल द्वय में यह जिज्ञासा होती है कि कार्य का जो धर्म है, वही है कार्यता। शक्ति का धर्म है शक्यता। इन दोनों का आश्रय क्या है? शक्त्याकृति तथा कार्याकृति में जो सम्भूयमानता, Possibility of Becoming है, उसका बीज क्या है। इन दो प्रश्नों के उत्तर के लिये कारण को भी मानना होगा। अर्थात् विश्व का कारण रूप। A Cosmic Root Basis. इन तीनों की तुलना भूर्भुवस्वः के साथ यथाक्रमेण करो।

यह जो विश्वसामग्री (Cosmic Totalily) है, इसे यदि किसी Observer की दृष्टि से पूर्वोक्त प्रतिच्छेद भंगी में देखना चाहो, तब विश्वसामग्री का जो Sectional चित्र प्राप्त होता है (A Sectional View with respect to a Certain system of Co-Ordinates Chosen by a given observer) उसे कहते हैं प्रवृत्त। और उसकी घटना (Event) की 'आख्या' भी होती है।

किन्तु यह प्रतिच्छेद सुषम के स्थान पर विषम भी हो सकता है। विषम = a Symmetrical, Cross-grained. साधारण लोकव्यवहार भी घटना ही है। 'अविमृश्य' घटना का शोधन भी आवश्यक है।

११. तद्वृत्तानुच्छेदानुवृत्तत्वम ॥

(पूर्वोक्त दण्ड परिवृत्ति का) अनुच्छेद होने पर है तनुवृत्त ॥

विश्वसामग्री का एक निजस्व अन्वय (Intrinsic Congruence) है। इसलिये यह है प्रशासयिता की परिवृत्ति। इसका अन्वय है महासमन्वय। अतः इस Universal domain of Cosmic Reason से कोई भी Section क्यों न लो उनमें अन्वय विरुद्धता (non-amenabity to reason) आभासिक (apparent) है। यह सत्य है कि इस विश्व के मूल में, सब कुछ के मूल में अनिरुक्त (undefined) जैसा कुछ अवश्य है। अतः बुद्धि का व्यवसाय भानग्राही नही है, वह है भासग्राही। तथापि Alogical में Imbedded होने के कारण विश्व है एक Logical Entity (बौद्ध विश्व)। प्रतिच्छेदादि को इस बौद्ध विश्व में ले आने पर घटनादि को समझना पड़ेगा। यदि यह कहो कि "सब 'असली' तो समझा ही नहीं गया" तब इसमें इष्टापत्ति है। 'बुद्धेर्यः परतस्तु सः'' यदि उस परतत्व में जाना हो तब "बुद्धौ शरणमन्विच्छ"। अत :—

अवेक्षकेण यत्किंचिद्समंजसमाहृतम्।
परीक्षया समाहार्यं समञ्जसं समीक्षया ॥ २५४ ॥
सुषमो विषमो वापि प्रतिच्छेदो द्विधा मतः।
सुषमच्छेदको यस्तु सोऽनुच्छेदो विशेषतः ॥ २५५ ॥

किसी अवेक्षक असमञ्जस (Incongruent, non-corresponding to Formula, pattern) भाव से जो समाहार किया गया, उसका यथार्थ एवं योग्य समाहार होता है परीक्षा द्वारा। वह समञ्जस होता है समीक्षा By Ratiocination से। पहले यह कहा गया है कि प्रतिच्छेद सुषम तथा विषम, उभय प्रकार का होता है। उसमें से जो सुषमच्छेदक (Making a Symmetrical, harmonic Section) है, उसे विशेषत: अनुच्छेद कहते हैं। अनु = अनुलोम में To wards ऋतं सत्यम्।

क्रियाशक्त्यादिसामग्री ह्यानुरूप्येण गृह्यते।
अनुवृत्तेर्विज्ञानेन ततोऽनुवृत्तिरन्वय: ॥२५६॥

विश्व की क्रियारूप, शक्तिरूप तथा बीजरूप से युक्त जो सामग्री (wholeness) है, यदि उस सामग्री को विज्ञान पूर्वव्याख्यात 'अनुच्छेद' रूपेण ग्रहण कर सके, उसी स्थिति में विज्ञान व्यवहार में अनुवृत्ति अथवा अन्वय साधित हुआ है, अन्यथा असाधित ही है। किम्बहुना प्रज्ञान विरह से विधुर वर्त्तमान विज्ञान में वह अनुवृत्ति सम्यक् रूप से नहीं आ सकी है। इसके Matter, Life, Mind की analyies है Cross reactional. अत: unrealistic, dead हैं। 'छेद' तथा प्रत्यवच्छेद एक ही स्थिति कदापि नहीं है। 'प्राणिक छेद' में सामग्रीसमञ्जसता परिलक्षित नहीं होती। यह वर्त्तित रहती है। जैसे वर्त्तमान में Nuclear physics में जो Nucleus है, वह है एक physical (Conventional) Cross section मात्र। a Live Section of a Live whole of Reality रूप से नहीं!

१२. तद्वृत्तिविच्छेदाद् विराम: ॥

पूर्वोक्त परिवृत्ति का विच्छेद हो जाने पर विराम ॥

पारस्परिकसङ्घातात्तरङ्गस्तब्धतोपमम्।
वृत्तान्वयस्य विच्छेदाद् ग्रन्थिकूटत्वमाप्यते ॥२५७॥
दोदुल्यमानता वापि न तस्थौ न ययौ स्थिति:।
वृत्तविच्छेदजन्योऽयं विराम: सर्वक्रुन्तन: ॥२५८॥

यदि विश्व सामग्री समञ्जसता (In Cosmic Congruence) में विच्छेद होने (a rrest-deadlock, stalemate) असंगत है, तब किसी सान्त अवेक्षक (finite-Observer) के प्रतिच्छेद, अनुच्छेद चित्रलेख में विच्छेद परिलक्षित होने लगता है।

समष्टि का जो भास (Appreciation) हम में हो रहा है, उसमें भी समष्टि की एक-एक मूर्च्छा के समान अवस्थान (Cosmic Torpor, swoon) जैसा कुछ रह सकता है। मानो विश्व के कारोबार में धन संवेग-ऋण संवेग ने पारस्परिक 'शोधच्युक्ति' में हस्ताक्षर किया हो! किन्तु यह सब प्रसंग छोड़ो!

जब अनुच्छेदादि में दो तरंग श्रेणी पारस्परिक संघात के कारण (due to mutual Interference) अपने अपने वृत्तान्वय (Lines of proper Propogation) के भंग होने के कारण एक प्रकार की स्तब्धता (Tie अथवा dead Lock में) में आते हैं, तब इस विच्छेद का दृष्टान्त स्पष्ट हो जाता है। इसी विच्छेद के कारण शक्ति का ग्रन्थिकूट (Dynamic Tangle or knot) घटित होता है और प्रवृत्त का विराम हो जाता है। आलोक शब्द आदि के स्थान पर यह सब है atropy, blind spot आदि। मन में Suspence, प्राण में Suspended Animation. जप ध्यान आदि में यह उदाहरण बहुशः प्राप्त होता है। कभी-कभी अग्रगावृत्ति, the action in progress भी विराम में दोदुल्यमान हो जाती है। चित्त में संशय-विकल्प, प्राण में तथा वाक् में रुक-रुक कर दोलित होने का भाव ! यन्त्र के तार पर 'खासी' सुर लहरी क्रीड़ारत थी, परन्तु अब तार केवल ध्रि-ध्रि करने लगा ! मानो अब वह सुरसंवेग दिशा नहीं खोज सक रहा है ! उसे यह नहीं पता कि कहाँ, किधर जाये। "न ययौ न तस्थौ"। भाव के कुन्तन की उपमा द्वारा कहा जा सकता है "विराम सर्वकुन्तन"। विराम तो वृत्तिविनाश का स्थल कदापि नहीं है। यह सर्वतो--भावेन अनभिप्रेत भी नहीं है। अतः यह सूत्र है :—

१३. तत्र क्लिष्टाक्लिष्टभेदः ॥

विराम में क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट भेद हैं ॥

अक्लिष्ट क्लिष्टभेदेन विच्छेदोऽपि द्विधा स्मृतः ।
स्वच्छन्दवृत्त आद्यन्त कृच्छ्रवृत्तोऽपरोऽसितः ॥२५९॥
विश्रामः पुनरारामो धनं स्वच्छन्दतास्पृशौ ।
आस्वच्छन्द्यं वगाह्यान्यो वामोऽविश्रमावृणम् ॥२६०॥

क्रियामात्र का एक स्थल अथवा भूमि (Plane) है, जहाँ स्थित अथवा प्रवृत्त होने पर वह स्व (निज) छन्द में स्थित रहती है। वह स्थल है उसका स्वास्थ्य तथा स्व छन्दता। शरीरान्तर्गत् श्वास-प्रश्वास, हृत्स्पन्दन, स्नायुसंवेग से लेकर चित्त के भाव तथा भावना आदि में जो स्वास्थ्य-स्वाच्छन्द्य का स्थल है; उसका सन्धान करो। इस स्थल को प्राप्त न कर सकने पर (the Clam Centre, the placid zone in all kinds of disturbance) गतिस्थिति, विच्छेदविराम में भी स्वच्छन्दवृत्त न होकर कृच्छ्रवृत (Troubled, strained) ही रहती है। जैसे जप में, ध्यान, में व्यावृत्ति का विच्छेद। जप ध्यान समाप्त करके उठ बैठा, परन्तु वाक् में संयम (मौन) चित्त स्थैर्य एवं प्रसाद (तुष्टि) नहीं आ सका। अथवा विच्छेद विराम में केवल निग्रह मात्र ही हुआ (निग्रह = Repression) विक्षेप-आक्षेप के संस्कार व्यूह में ! परन्तु आभ्यन्तर में प्राण की तन्त्री कृच्छ्रभाव से केवल अस्वस्ति कुन्तन ही कर रही है !

इस प्रकार की कृच्छवृत्तिता को असिता-अशुक्ला, मलीना कहते हैं। इसमें तन्त्र में स्त्यान आता है और दौर्मनस्य आता है मन्त्र में।

अतः विच्छेदविराम को धन (as positive gain) अथवा ऋण (other-wise) देखना चाहिये। प्राण की जो स्वाच्छन्दतन्त्री (Basic Harmony temper) है, उसका स्पर्श (in Con-Cordance) है धन। अब विराम हो जाता है आराम तथा विश्राम में श्रम (fatigue of activation) विगत हो जाता है। अतः स्त्यान तिरोहित है। आराम में दौर्मनस्यता दूरीभूत हो जाती है। उसका तुष्टि प्रसाद में उपयोग घटित होता है। और जो अस्वाच्छन्द्य अथवा कृच्छ्रकलित (विराम विच्छेद) में मग्न करने वाला है, वह है ऋण (A remainder of momentum that stresses to disturb the evenness of Positive accession)। यह है तामस, राजस भेद से द्विविध, व्यामोह एवं विभ्रम। प्रथम है obscuring Confusion, दूसरा है distracting delusion। धन = शुक्ल, ऋण = अशुक्ल।

अगले सूत्र में अक्लिष्ट धारा—

१४. छेदोपमर्दविरहविशिष्टाक्लिष्टधारा प्रशान्तवाहिता॥

छेद तथा उपमर्द रहित भाव से जो अक्लिष्ट धारा चलती है, उस धारा को कहते हैं प्रशान्तवाहिता॥

छेद = भंग अथवा च्युति। अन्य किसी धारा के व्याघात (Interfernce) के निमित्त यह छेद (भंग) घटित हो जाने पर उसे विलोप (Interruption) कहते हैं। उसके निजस्व की किसी बाधा के कारण भङ्ग घटित हो जाने पर वह है अवलोप। जैसे जपकाल में या ध्यान काल में Radio की आवाज टेलिफोन की घन्टी आदि के कारण विलोप। आन्तरिक विक्षेप के कारण छिन्न होना = अवलोप। दोनों ही स्थल पर अभीष्ट धारा का कट जाना (Crossed) यह भाव रहता है।

उपमर्द में दबा देने का भाव। Suppression, Compression, Repres-sion आदि। इसके विभिन्न रूप हैं अपमर्द-विमर्द इत्यादि। छेद तथा उपमर्द में धारा का प्रतिघातक कुछ-न-कुछ रहता ही है। इसी प्रतिघात के वेगमान पर निर्भर करता है कि छेद उपमर्द कितना होगा तथा किस प्रकार से होगा?

प्रतिघातजन्यवेगेन याऽक्षिप्यमाणवृत्तिता।
तस्यां छेदोपमर्दौ यौ लोपौ विप्रतिपूर्वकौ॥२६१॥

किसी अभीष्ट धारा में प्रतिघात जन्य वेग के कारण (Due to the im-pact of any intruding factor) जो आक्षिप्त वृत्ति (a Continued aggra-vated disturbed Condition) घटित होती है, उस धारा में विलोप-प्रतिलोप के रूप में छेदोपमर्द सम्भावित होता है।

ताभ्यां विरहिताऽक्लिष्टा या धारा निरूपद्रवा ।
प्रशान्तवाहिता सा स्यात् स्थूल-सूक्ष्मद्विमात्रिका ॥२६२॥

उक्त विलोप-प्रतिलोप से विरहिता अर्थात् जहाँ विलोप प्रतिलोप नहीं है, ऐसी धारा। यह पूर्व सूत्र के अनुसार अक्लिष्ट (Not laboured) है। यह धारा यदि उपद्रव रहित धर्म से युक्त रहती है, तब इसे कहते हैं प्रशान्तवाहिता। निरुपद्रव का तात्पर्य केवल मात्र विलोप-प्रतिलोप का ही निषेध नहीं है, प्रत्युत इसमें अवलोप तथा अवलुप्ति का भी निषेध रहता है। केवल बाहर से ही कुछ काट दिया, कुछ दबाकर रख दिया, ऐसा नहीं ! इसमें भीतर में भी कोई गाँठ नहीं रह जाती।

प्रशान्तवाहिता सूक्ष्म-स्थूल रूपी तलद्वय से सम्पर्कित (Two Dimensional) रहती है, अत: वह है कि द्विमात्रिक (Two-Dimensional quiescence and Placidity)। इसने तल-लम्ब को तो साध लिया है, परन्तु अभी भी वेध को नहीं साधा है। जो सूक्ष्म तथा कारण की सन्धि है, वह सन्धिवेध इसमें अभी भी नहीं हो सका है। अतएव यह अभी भी प्रशान्त ऋतंम्भरा-सत्यम्भरा नहीं है। अत:—

१५. तत्रापि वेधविरहविशिष्टत्वे सम्प्रसादः ॥

यदि प्रशान्त वाहिता में क्लेश बीज द्वारा वेध न हो सकने की विशिष्टता है, तब (सम्यक् प्रसन्नता) सम्प्रसाद होता है ॥

जैसे एक स्त्रोतस्वती का वक्ष:। नदी के वक्ष को एक सरल रेखा मान लिया। तब नदी (वाहिता) को भी एक सरल रेखा के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकेगा। द्वितीय रेखा का प्रथम रेखा से लम्ब सम्बन्ध है। इससे नदी को द्विमात्रिक मान प्राप्त हुआ। यदि नदी का वेग तटादि के द्वारा अभिहत नहीं होता, वायु आदि वेग से विषम-विक्षुब्ध नहीं हो रहा है, तब वह गति है अक्लिष्टा प्रशान्ता। किन्तु यह खोज नहीं हो सकी है कि नदी के वेधमान में, गहराई मे क्या है अथवा क्या हो सकता है ? गति का जो क्लेश अथवा अशान्तता है, उसका हेतु तो बाहर अवश्यमेव हो सकता है, परन्तु वह कारण तो गम्भीर में (गहराई में) अन्त:स्थल में ही मुख्यत: रहता है। जैसे नदी के Bed Strata का Nature of Formation आदि। यह है नदी का वेधमान। जैसे मार्बल चट्टानों के बीच में नर्मदा नदी ! यहाँ गति तो कुटिल है परन्तु है शान्त ! आदि तथा अन्त में (धूँआधार के प्रपात में भेड़ाघाट पर) गति है विषमविरुद्ध। इसे उपमा से समझने का प्रयत्न करो :—

क्लेशस्य कारणं यत्तु तस्य स्याद वेधरुपता।
तस्या असुरविद्धत्व सूक्ष्मं तु यात्मविद्धता ॥२६३॥
यत्र निवार्यते क्लिष्टं स्थूलं सूक्ष्मञ्च कारणम्।
त्रिमात्रिक: प्रसाद: स सम्प्रसाद इतीरित: ॥२६४॥

नदी अथवा अन्य किसी वेगरूपता की तलाकृति को विषय (उदाहरण) बना लेने पर जो क्लिष्टभाव है, वह है एकमात्रिक एवं स्थूल। जैसे नदी में वायु का अभिघात, नौकादि चालनार्थ। यह क्लेश है Surface Acting. मानस तथा प्राण की इस अवस्था में 'एनस्' रूप क्लेश द्वारा आकृति क्लिष्टा हो जाती है। नदी के तट आदि के सम्बन्ध से जनित जो क्लेश है, वह है द्विमात्रिक। अतः वह केवल आकृति को ही नहीं, प्रत्युत नदी के शक्ति संघात सम्बन्ध (Power Alignment) को भी विषय बना लेती है। अतः स्थूल के साथ सूक्ष्म (शक्ति संघात रूपेण) भी यहाँ आ जाता है। और नदी की जो अपनी वास्तवरूपता (जलसंस्था) है, वह है वेधमात्रिक। तट संस्था तथा वातादि संस्था 'शान्त' रहने पर भी नदी की इसी अपनी वेध संस्था पर ही उसकी सावलील स्वच्छन्दता निर्भरशील रहती है। क्योंकि वेधसंस्था ही सर्वत्र है कारण संस्था।

यहाँ नदी की उपमा से प्रसंग का विस्तार किया गया। प्राण-वाक् तथा मानस में इस उपमान की मर्म भावना करो। किसी वृत्ति की तलसंस्था (आकृति) किसी अनभिप्रेत अन्य वृत्तिवेग से विद्ध हो सकती है। इससे अभीष्ट वृत्ति वैरूप्य घटित होता है। अभीष्टवृत्ति की लम्ब संस्था (गतिच्छन्दादि) व्याहत भी हो सकती है। यह है पाप्मा। इसमें है वैगुण्य। अन्त में उसकी वेधसंस्था (स्वभाव भावना) बाधित हो सकती है। यह है असुरवेध। फल है वैधर्म्य।

स्थूल-सूक्ष्म-कारण जब वैरूप्य, वैगुण्य तथा वैधर्म्य से निवृत्त होकर वृत्तिधारा में इस त्रिमात्रिक प्रसाद को प्रतिष्ठित करता है, तब उसकी आख्या है सम्प्रसाद 'येनात्मा सम्प्रसीदति'।

यहाँ श्लोक का अनुध्यान करो :—

पाशबन्धन्तु शालायां दुष्टाश्व इव सह्यताम्।
बहिः प्रगृह्यमाणं तं तितिक्षस्वापि दुर्दमम् ॥२६५॥
अनुद्वेगकरञ्चाश्वं प्रग्रहाद् धीरतां नय।
प्रमुक्तप्रग्रहे सौम्ये प्रसन्नं सुसुखं व्रज ॥२६६॥

अपने इन्द्रिय और चित्तरूप दूरन्त अश्व को पहले उसके घुड़साल में (किसी शुभ कर्मादि में) दृढ़ता से आबद्ध करो और निग्रह करते समय वह जो कुछ भी दुरन्तता करे, उसे सहन करो (सहिष्णुता)। तदन्तर उसमें विचार विवेक रूपी लगाम लगाओ। अब उसे (घुड़साल से) निकाल कर उसके दुर्दम होने की चिन्ता न करो और उसकी पीठ पर बैठो (संयम तथा तितिक्षा से दबाकर)। अब वह वशीभूत हो जाने के अनन्तर उद्वेग युक्त नहीं हो सकेगा। तब भी प्रग्रह अपने हाँथों में रक्खो। उसे 'वीर' बनने का शिक्षण (शमदम) दो। 'विकारहतौ सति विक्रियते

येषा न चेतासि' । अब जब वह सौम्य हो गया, तब प्रग्रह को भी त्याग दो । वह अब प्रसन्न होकर सुखपूर्वक चलेगा । (यह है श्रद्धा साधन की भूमि) ।

१६. वृत्तमतीत्य वृत्त्योपरमः ॥

कोई एक सान्त वृत्त (finite sphere) । उसमें जो वृत्ति (Being or action with respect to that given field or sphere) है, वह है वृत्तवृत्ति । यदि इस वृत्त को यह वृत्ति छोड़ दे, तब इस वृत्त सम्बन्ध से उस वृत्ति का उपरम हो गया ॥

एक प्लेट में इलेक्ट्रिक चार्ज है । यदि यह चार्ज समाप्त हो जाये, तब यही है प्लेट से चार्ज का उपरम । मानस आदि के क्षेत्र में भी यह उदाहरण प्रयुक्त करो ।

वस्तुवृत्तं क्रियावृत्तं शक्तिवृत्तमिति त्रिधा ।
तद्वृत्तवृत्तिमत्येति सोऽपरतीरिति स्थिता ॥२६७॥

वस्तुवृत्त (Thing sphere), क्रियावृत्त (Action sphere) तथा शक्तिवृत्त (Force sphere) रूप से वृत्त तीन प्रकार का होता है । जैसे जपकर्म में वाक् है वस्तुवृत्त । मन का संकल्प आदि = क्रियावृत्त । प्राण = शक्तिवृत्त । यदि कोई वृत्तिविशेष अथवा वृत्तिसामान्य तीनों वृत्त (There fold sphere) को छोड़कर (अत्येति) चली जाती है, तब है उपरम । उपरम की व्याप्ति वृत्तिमात्र निरोध पर्यन्त है । फिर भी विशेष-विशेष वृत्तियों में भी इसकी अव्याप्ति नहीं है । वस्तुवृत्त प्रभृति तीनों वृत्तो का समाहर कर लेने पर उत्तम उपरम होता है । दो वृत्तों का समाहार करने पर मध्यम उपरम और मात्र एक वृत्त का समाहार होने पर वह है अवम उपरम ।

स्पर्शकवेगसमृद्धे विवेकख्यातितादयः ।
अस्पर्शः परवैराग्यं सांख्यसूत्रेण विभ्रति ॥२६८॥

जैसे किसी केन्द्र से एक वृत्तवृत्ति (Spherical motion) चल रही है । केन्द्र की (जैसे अहम् की) आकर्षणी शक्ति उसे घूर्णित कर रही है, तथापि वहाँ एक विप्रकर्षक संवेग भी (Tangential moment) भी है । इस विप्रकर्ष को स्पर्शक भी कहा जाता है । जैसे मात्रास्पर्श मन: संयोग को खीच लेता है, उसी प्रकार । इस स्पर्शक की वेगसमृद्धि से क्या होता है ? केन्द्र से अभितः जो वृत्त चल रहा है, मानों वह वृत्त भी स्प्रिंग की तरह खीचने पर बढ़ने लगता है । अब यह केन्द्र-मुखीन न होकर पराङ्मुख हो गया । उस केन्द्रबन्धन को यह काट देगा । मानसक्षेत्र में यही है वैराग्य । यह साधित होता है केन्द्रविशेष के साथ विप्रकर्षणजनक जो सम्पर्क (साधुसंघ-गुरुकृपा) है, उस स्पर्शक के समृद्धि संघटन (Acceleration of the tangetial component) से । जिस केन्द्र में अभिनिवेश आवश्यक है और अभि-

प्रेत है, उसके साथ किसी स्पर्शक को मित्र तथा धनमुखी रूप से एक करना पड़ेगा। यहां उपरम का अर्थ है अन्य केन्द्रीणतोपरम।

उपरम के प्रसंख्यान में विवेकख्याति, परवैराग्य, अस्पर्श आदि भूमियां हैं। सांख्य सूत्र के द्वारा इन सब का भरण करो। कौन भरण करेगा? उपरम। सांख्य सूत्र अर्थात् यह दर्शन विशेष नहीं है। संख्यासंख्येयानुपातसूत्र —Principle of Ratioproportionality.

जहां कहीं भी जिस किसी प्रकार से वृत्तवृत्ति हो रही है, वहां उसके नियामक निरूपक रूप से एक संख्या रहती ही है (जैसे एटोमिक नम्बर आदि में)। इस संख्या के सम्बन्ध में वृत्ति है संख्येय। इन दोनों के अनुपात के यथायथ निरूपण योग्य जो अभिविधि है उसे सूत्र द्वारा सांख्य कहा गया। जैसे यदि ऊँ कार जप में अष्टपदी है, तब प्रश्न उठता है कि उस अष्टपद का यथार्थ सुषमानुपात विषयक सांख्य क्या है? यदि मनुष्य का क्रोमोजोम नम्बर है ४८, तब यह शंका हो सकती है कि मनुष्य जाति के प्रजनन में यह संख्या अपने संख्येय के साथ क्या सम्यक् अनुपात रख रही है? इसी स्थिति में सम्यक् अनुपात रहने पर 'जाति' का कोई अभीष्ट रूपायण (Mutation) हो सकेगा, अन्यथा नहीं हो सकेगा।

वृत्तमात्र की स्वगत, सजातीय तथा विजातीयरूपी तीन सांख्य जिसके द्वारा गृहीत हो, वही है प्रसंख्यान। स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण रूप से वृत्त अथवा वृत्त सामग्री इसका विषय है। अतएव यह है प्रकृति विज्ञान। इसकी प्रतियोगिता में जो शुद्ध तथा सम्पूर्ण दृग् विज्ञान है, वही है विवेकख्याति। इस वैराग्य के सम्बन्ध में आभास रूप से कहा जा चुका है। यह वैराग्य पराकाष्ठा में आता है प्रसंख्यान प्रतियोगिनी विवेकख्याति के द्वारा। अर्थात् दृग्दृश्यसाम्यसमापत्ति द्वारा। दृश्य के साथ 'जानना-समझना' जब तक पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक दृगदृश्य का कारोबार बन्द नहीं होता। जब कारबार का संस्कारलेश भी नहीं रह जाता, तब है अस्पर्श।

पहले गणित के किसी भी वृत्तिविशेष का सांख्य (Equation) जानों समझो। इसके अनन्तर उसके समग्र रैखिक विज्ञान के आधार का चिन्तन करो। इसका चिन्तन करो देश-काल-सामान्य आधार में। तब प्रश्न उत्थित होता है, यह देश काल क्या है, और किसके लिये है? यह प्रमेय पदार्थ किस प्रमाता के लिये है। तब प्रमेय को छोड़कर प्रमाता एवं प्रमाण का परीक्षण (Epistemological Analysis) करो। तदनन्तर प्रमाता के स्वरूप निश्चय में अतीत्यवृत्तिता Transcendence) आदि।

उपरम को इस प्रकार से विविध अनुबन्ध में समझो।

१७. शून्यं समेत्य वृत्त्योपशमः ॥

शून्य में समेत्यवृत्तता होने पर है उपशम ॥

शून्यमपेक्ष्य संख्येयं कल्प्यत इति निश्चयात् ।
सर्वसंख्येयवृत्तीनां व्यासानां वैन्दवो लयः ॥२६९॥
कलाकलनविस्तारं नादविन्दोर्यदन्तरम् ।
द्वन्द्वनिर्मुक्तमद्वैतमुपशमो हि तल्लयात् ॥२७०॥

यह निश्चय तो है कि शून्य की अपेक्षा करके ही संख्येय कल्पित होता है। शून्यादि सूत्रों का पुनः प्रणिधान करो। पहले निखिल संख्येय वृत्ति के व्यास (अर समूह) के संकोच के द्वारा उसकी नाभि में स्थित वैन्दवलय को साधो। (जैसे जप व्याहरण में किया जाता है)। तत्पश्चात् नाद एवं विन्दु के अन्तर (Medium, Interval) का आश्रय लेकर कलाकलन का विस्तार करो। इस अन्तर का भी लय करो। अन्तर के द्वारा ही अन्तरित होकर विन्दु-नाद-कला पारस्परिक तादात्म्य से मुक्त होकर संख्येय वृत्तिमान होते हैं। अतः अन्तरलय हो जाने पर द्वन्द्वनिर्मुक्त अद्वैत प्राप्त होता है। यही है उपशम। तभी यहाँ सूक्ष्म भेद पहले देखा जा रहा है। अन्तर-लय द्विविध है (Resolutison of the interval factor) जैसे समवेत तथा समेत। प्रथम में (समवेत में) विन्दु नाद-कला की सामानाधिकरण्य समापत्ति एवं सामरस्य है। इसमें विन्दु का दो पृष्ठदेश परिलक्षित होता है—एक एवं पूर्ण। समवेत-स्थल में शून्य वाला पृष्ठदेश है। अर्थात् अन्तर का कलाभिमुखीन मुख है नैष्कल्य मुखीन। अतः कहते :—

नेमिशून्यमरान् धत्ते रऽशून्यं नाभिनिष्ठितम् ।
समेत्य नाभिशून्यत्वं विश्वचक्रस्य शून्यता ॥२७१॥

विश्व चक्र की अर, नेमि; नाभि ! नेमि को शून्य कर दो परन्तु अर समूह प्रसरत-शक्ति सम्भाव्यता रूपेण (as Lines of possible Power projection) है। अब अर को शून्य करो। अब अर भी नाभि में ही निष्ठित है। नाभि = the Basic Formula, अर = Lines of Formulation। नेमि = the formulated अन्त में नाभि को शून्य करो। अब है नेमिशून्य—अरशून्य—नाभिशून्य। ये तीनों शून्य भी विन्दु शून्य में 'समेत' हो गये। इस प्रकार यह है विश्वचक्र की शून्यता।

विन्दुशून्य की दो प्रकार से भावना करके उपशम को समझना होगा। विन्दु स्वयं परम में विलीन होकर वही एक। निखिल प्रपञ्च विन्दु में।

उपरम-उपशम-दोनों काष्ठा में मिलित ! उपरम मे है अतीत्य वृत्तिता की (going beyond की) भावमानता। उपशम मे है समेत्य वृत्तिता (absorbing and resolveing) भाव मुख्यता। पहला कहता है सब छोड़ो, दूसरा कहता है कि सब निरंजन में मिलित करो। पहला कहता है "कुछ न रह जाये" दूसरा कहता है "कुछ न रहना ही वास्तविक रहना है।"

भक्त एवं कर्मी अपने-अपने अनुबन्धानुसार अनुसार उपरम-उपशम ग्रहण करते हैं। लक्षण मे कोई पक्षपात नहीं है।

१८. वृत्तं निपात्य यद्वृत्तित्वं तन्निवृत्तत्वम् ॥

वृत्त के निपातन में जो वृत्तिमत्व होता है, वह है निवृत्त होना ॥

पहले प्रवृत्त की विवेचना हो चुकी हैं। अब है निवृत्त।

यत् कलाकालयोः साम्यं कलन मात्रानान्वयात् ।
अन्ते मध्ये य आकारस्तेन तत्र विशिष्टता ॥२७२॥

कला तथा काल का विचार करो। दोनों में ही है कल्। अतः दोनों का ही 'कलनमात्र' धर्म में अन्वय होता है। कला तथा काल दोनों ही कहते हैं "कलन करता हूँ"। दोनों में क्या विशेषता है? कला के अन्त में 'आ' है और काल में मध्य में। इससे क्या हुआ? कला का 'आ' कला से कहता है "तुम निखिल कलन के उपादान (Matter) हो जाओ।" काल का 'आ' कहता है 'तुम निमित्त होकर सबको आकृति (Form) प्रदान करो।" कला है दिक् परिणाम और काल है दिक् संख्या। कला है दिक्पाद। काल है मात्रा। कला है स्वर या सुर; काल है छन्दः आकृति।

कला-काल की इस कलन मात्र सामग्री को सौषम (As hormony re-lation) में ले जाने पर सृष्टि में रचना तथा जीवन में साधना होती है। यद्यपि काल एवं कला हरगौरी के समान अर्धनारीश्वर के समान संयुक्त है, तथापि इनमें द्वन्द्व अहर्निश रहता है। कला है तब काल नहीं है, काल है तब कला नहीं। सौषम्य रहने पर भी अनेक वैषम्य ! सौषम्य साधने के लिये एक सौष्ठव क्रम को ग्रहण करना होगा :—

सौषम्येण हि सङ्कोचो नेमेः स्याद् विनिपातनम् ।
सन्निपातोऽरसम्बन्धी प्रणि-विन्दुपरिक्रमा ।
त्रिधैवं वृत्तवृत्तीना सौष्ठवेन निपातनम् ॥२७३॥

वृत्त को निवृत्त करने के लिये (अथवा निर्वृत्त) सुषम भाव में (symmetrically) उसका नेमिसंकोच करो। जीवन-साधन में सर्वत्र। कर्मजाल-चिन्ताजाल-की शृङ्खला से सावधानी से निकल आओ। यह है निवृत्ति की प्रथम भूमिका। इसे नाम दो विनिपातन। यदि अर समूह (जैसे वासना आदि) से भी छूट सको-तब है सन्निपातन। साधन में आत्मशुद्धि के प्रयास के द्वारा इन्हीं कर्मद्वय में लग जाओ, किन्तु जब तक विन्दु ब्रह्म में समर्पण नहीं हो जाता, तब तक इन्हीं दो पातन में बारम्बर निपातन होगा। नेमि और अर को चित् (पटकने) करने के लिए स्वयं भी 'चित्पात्' स्थिति में जाना पड़ता है। फिर भी 'लगा रहो"। आवश्यकता है समर्पण

योग में बिन्दु परिक्रमा की (जैसे जप आदि में)। यही है प्रणिपातन। बिन्दु = भाव, बोध, शक्ति आदि की घनीभूत परिसीमा !

यदि विनिपातन, सन्निपातन तथा प्रणिपातन रूपी तीन वृत्त वृत्ति को सौष्ठव (without any residual untoword strain and stress) के साथ साधना चाहो, तब होता है वृत्तिनिपातन (निवृत्ति)। जैसे कर्म आदि से निवृत्त होने के लिये प्रथमत: काम्यकर्म संकोच, मध्य में कामना संकोच और अन्त में तन्मयता समापत्ति की स्थिति आवश्यक है। यह विचार करो कि जप व्याहरण में निवृत्ति कहां है ?

लक्ष्य है व्यापक। गणित विज्ञान आदि के व्यवहार में भी संलग्न रहो। दृष्टान्तों के द्वारा देखो। एक साधारण वृत्त की उपमा से लक्षण भी सर्वत: भावित हो रहा है !

१९. श्रेणिशरीरे परिच्छेदावच्छेदाभ्याम् ॥

वृत्त का परिच्छेद है श्रेणी तथा अवच्छेद है शरीर ॥

श्रेणी अर्थात् क्रमान्वय (Series) कोष (envelops) इत्यादि। शरीर = कोई मूर्त्त संघात (Vehical, Embodiment, gross or subtle)

वृत्तवृत्तिपरिच्छेदाच् श्रेणिकोषादिजन्यता।
अवच्छेदेन तस्या: स्यु: शरीराणि विशेषत: ॥२७४॥

जैसे कोई वृत्त। यदि उस वृत्त के केन्द्र को ध्रुव रखते हुये व्यासार्द्ध बढ़ाकर अथवा कम करते हुये वृत्तान्वय (a system of Concentric circles) किया जाता है, अथवा केन्द्र स्वयं को स्थिर रखते हुये स्प्रिंग अथवा शंखावर्त्त भंगी से स्वयं को सज्जित करता है, अथवा केन्द्र से एक अक्ष की कल्पना करते हुये वह अक्ष ऊर्मि आकृति में वितत होता है, उस स्थिति में ऐसे स्थल पर अथवा इसके अनुरूप स्थल पर वृत्त वृत्ति का परिच्छेद होकर 'कोष' 'श्रेणी' आदि आकार की उपलब्धि होती है। जो मूला अथवा आद्या वृत्त वृत्ति है, वह परिच्छेद के स्थल पर अपनी अभिविधि (व्याप्ति या वितान सूत्र) को बचाये रखकर स्वयं को बहुधा रूप से 'अभ्यस्त' करती है। गणित में Series, प्राणिदेह में कोष इत्यादि के द्वारा सूत्र का चिन्तन करो। जप में बिन्दुकेन्द्री नादाक्ष में जो सुषम कला समूह वितत होता है, वह भी इसी श्रेणी संज्ञान्तर्गत् ही है। संगीत में भी ! श्रेणी में नादमुख्यता होने के कारण प्रसरत भाव है, कोष में बिन्दु मुख्यता के कारण संकुचत भाव ! संख्या में जप श्रेणीबद्ध होता है। मेरु में आकर जप शक्तिमण्डल अथवा कोष का रूप ग्रहण कर लेता है।

श्रेणी को अयथा भंग नहीं करना चाहिये। कोष को अयथा काटना नहीं चाहिये। एक के छेद्य और दूसरे के भेद्य होने से शक्ति समर्थता घटित नहीं हो सकती ! श्रेणी में क्रिया आदि का समुच्चय होता है और कोष में होता है संचय। कोष में हैं स्वगतभाव, श्रेणि में सजातीय भाव। इन दोनों में विजातीय नहीं है। वह तनवकाश

है । परन्तु शरीर में विजातीय सावकाश रहता है । अर्थात् शरीर में तीनों भाव रह सकते हैं । श्रेणि तथा कोष में अभिविधि आनुगत्य (Confirmity to one given Pattern an governing Formula) शरीर में अवतरण करता है और शरीर में उसके मूर्त्त आयतन के रूप में स्वयं को 'लाघव' बना लेता है । अवच्छेद का 'अव' इसी आवरण (Incarnation) का घोतक है । शरीर मुख्यत: स्थूल नहीं है । लिंग (सूक्ष्म) आदि शरीर भी इसमें आते हैं । यद्यपि जो शरीरी है, उसे श्रेणिभाव तथा कोषभाव परिग्रह में बाधा नहीं है, तथापि जो शरीरी है, उसमें 'अवच्छेद' रूपक एक धर्म विद्यमान रहता है । श्रेणि तथा कोष में नियामक अभिविधि शुद्ध है अथवा प्रायिक शुद्ध है, अत: उसके छन्द एवं आकृति में पूर्वोक्त सजातीय भाव प्रधान रहता है । संगीत में किसी राग को अभिविधि का अनुयायी स्वरवितान ही है श्रेणी । तान तथा मूर्च्छना में कोषरूपता उपलब्ध होती है । ऐसा मृदंग आदि के बोल में भी होता है । किन्तु एक राग से अन्य राग का शरीर पृथक् है 'जाति' अथवा 'ठाठ' को मिलाकर राग शरीर भी बन जाता है ।

जैसे एक वृत्त । यदि वृत्त वृत्ताभास, पैराबोला इत्यादि आकृति को प्राप्त करता है तब कहते हैं कि वृत्त का शरीर बदल गया । एक साधारण अभिविधि अनुशासन में रहने पर भी इन सब शरीर की (वृत्ताभास-पैरावेला आदि की) अलग-अलग, विशेष अभिविधि हो जाता है । श्रेणि-कोष जिस प्रकार से पृथक् है, वैसा पृथक्त्व एक शरीर से दूसरे शरीर मे नहीं है । एक शरीर का ध्वंस होगा या एक के उद्‌भव से दूसरे का भी उद्‌भव होगा, लिंगादि शरीर में वैसा नियम नहीं है । तथापि श्रेणी या कोष में श्रेणीबद्ध-कोषबद्ध अंग-अवयव का योगक्षेम आवश्यक हो जाता है, समग्र श्रेणी अथवा कोण के योगक्षेम के लिये । जप श्रेणीविशेष है । उदय सेतु से लेकर विलयसेतु पर्यन्त इस श्रेणी का कोई भी अंग स्खलित अथवा विकल होने पर हानि होती है । इसीलिये एक मन्त्र अथवा यन्त्र अन्य मन्त्र एवं यन्त्र से पृथक् हैं । वे पृथक् शरीर हैं ।

श्रेणी अथवा कोष किसी निर्दिष्ट विन्दु के सम्पर्क के कारण अक्षर प्रशासन (governance by the axis principle with respect to a given 'origin' or point of reference) में रहता है । एक शरीर से अन्य शरीर में यही प्रशासन नहीं भी हो सकता है । निर्माण शरीर, कायव्यूह आदि में यह प्रशासन आ सकता है । हमारे शरीर में भी (स्थूल-सूक्ष्म में ही नहीं) कोषाकृति तथा श्रेण्याकृति से निर्मित A series of interlinked apparatus $A_1-A_2-A_3$ है, तथापि एक शरीर में अन्य की अपेक्षा 'अवच्छेद' रूप से विशिष्टता रहती है । अत: एक शरीर अन्य के सम्बन्ध में व्यावृत है । एक की इन्द्रियाँ भी अन्य से व्यावृत्त हैं । यह व्यावृत्ति आपेक्षिक एवं आनुपातिक रहती है ।

श्रेणिकोषशरीराणि विनिपातादियोगतः ।
प्राणायामजपध्यानैः समाधत्स्वाशु वैन्दवे ।।२७५।।
आद्येन विनिपातश्च मध्यमात् सन्निपातनम् ।
अन्त्येन प्रणिपातश्च मन्त्रयन्त्रादिषु क्रमः ।।२७६।।

पूर्वसूत्रालोचना में विनिपात, सन्निपात तथा प्रणिपात को दिखलाया गया है। श्रेणी-कोष-शरीर में इन तीनों का साधन होता है। शरीर में विनिपात, कोष में सन्निपात तथा श्रेणी में प्राणिपात की मुख्यता को देखो (निपातन ही इन तीनों का साधारण सौषम्य साधन है।)। साधन में प्राणायाम में (मुख्तः शरीर विषयी) विनिपातन सौष्ठव साधित होता है। जप में (मुख्यतः वागादि शक्तिकोषकला विषयी) सन्निपातन; अर्थात् विन्दु को मेरु में रखते हुये नादाक्ष आश्रय द्वारा कला समूह का सम्यक् निपातन। इसकी पुनः पुनः आवृत्ति द्वारा नादभावहिरण्य तन्तु में रससमुज्वल आन्तर कोष का निर्माण होगा। इसमें विरसमलिन कोषकषाय विधुर रसभासलोलुप मन रमण करेगा। ध्यान की अभीष्टज्योतिरस प्रत्ययैकतानता में प्राणिपातन ! यह ध्यान गाढ़ होते ही तत्काल है वैन्दव समाधि (समाधत्-स्वाशु वैन्दवे)।

मन्त्रयंन्त्रादि में विनिपातन के इसी क्रम का अनुसरण करो। जैसे षट्कोण यन्त्र में किसी ध्रुव विन्दु द्वारा प्रथमतः उर्ध्व-अधः अक्ष का विनिपातन। तदनन्तर उपर्याधः दो त्रिकोण का एक सौष्ठव विशेष सन्निपातन। अन्त में एक वृत्त रेखा में इस षट्कोण का प्राणिपातन।

अब जप में पूर्वोक्त सूत्र का सविशेष परिचय लो—

२०. धीमहीति प्रशान्तवाहिता ।।

(गायत्री मात्र में) यह धीमहि प्रशान्तवाहिता है ।।

धीमहिवृत्तिविश्लेषे म एधीत्यस्य 'धीम'-ता ।
शान्तवृत्तिर्हकारः खं धीमहीति वियत्स्थिति ।।२७७।।
व्यासव्याकृतिशून्यत्वे समाससमता यतः ।
तद्धीमत्वं तु धीरत्वं विकार्यत्वेऽप्यविक्रिया ।।२७८।।

'धीमहि' पद के वृत्तिविश्लेषण में धीम+हि रूप की प्राप्ति होती है। इन दोनों को एक-एक विशेष रहस्य संज्ञा में दिखलाया गया है। प्रसिद्ध श्रौत आविर्मन्त्र में कथित 'म एधि' को ही 'धीम' जानो। "हे स्वप्रकाश ज्योतिः। तुम मेरी बुद्धि में आओ"। यदि बुद्धि गुहा अथवा कोषरूप है, 'बोध रूप नहीं है, उस स्थिति में स्वप्रकाश वरेण्य ज्योतिः कैसे आयेगी ? अतएव 'ह'। ह=खं=आकाश। 'हि' अथवा आकाशरूपता में 'वियदि' स्थिति धीर हो जाये। उन्हीं सूरिगण के समान

"दिवीव चक्षुराततम्" ह = शान्तवृत्ति-मूलवृत्ति। आकाश में 'मातरिश्वा' की बुद्धि अव्याहत् तथा अनुकूल हो जाये।

पुनश्च-कोषाकृति जो 'धी' है, उसके निश्चय में अथवा अध्यवसाय में जो व्यवहार है, वह व्यवहार (पूर्व व्याख्यात) व्यास आकृति (Differental co efficient) का आश्रय लेकर है। सब कुछ कहते हैं "हमें व्यास व्याकरण में लाओ, as differentiated दिखलाओ"। समास समता का क्या उद्देश्य है? Differential Equation को हटाना। Equations of Quiescence and placidity क्या है? 'धीमहि' के अन्त में जो 'इ' (I) है, वह निर्देश देता है कि ऐसा एक स्थल, जहाँ व्यासव्याकृति शून्य हो जाती है। जहाँ व्यासव्याकृति शून्य है, वह है ध्रुव (c)। अतएव धीमहि = बुद्धि की ऐसी एक मुक्त प्रान्त भूमि जहाँ सब Differential Equation अनवकाश हो जाते हैं।

'धी' जब तक आत्मा को निदिध्यासन में प्राप्त नहीं करती, तब तक वह 'धीम' नहीं' होती। क्यों कि माण्डूक्य श्रुति ने कहा है "शान्तं······स आत्मा स विज्ञेय:"। कठश्रुति ने कहा है "शान्त आत्मनि"। यह भूमि मिले बिना 'धी' होती है धीर, किन्तु वह 'धीम' नहीं होती। विकार्य होने पर भी यदि अविक्रिया धर्म रहता है तब है धीर। र = R = Intrinsic stress potential अभी भी है, तब भी stress के कारण कोई strain (विक्रिया) लक्षित नहीं हो रहा है। 'धी' स्पन्दन की रणनस्वच्छन्दता में 'धीर'। रमण स्वच्छन्दता में 'धीम'।

२१. विद्महे इति सम्प्रज्ञातसम्प्रसाद ॥

विद्महे के द्वारा सम्प्रज्ञात जो सम्प्रसाद है उसे जानो ॥

पहले सम्प्रसाद सूचित होता है। उसके साथ आता है सम्प्रज्ञात। जो सम्प्रसाद है उसे जानो ॥

पहले सम्प्रसाद सूचित होता है। उसके साथ आता है सम्प्रज्ञात। सम्प्रसाद का समापन पर्वत्रय में होता है। सम्प्रज्ञायमान, सम्प्रज्ञात। जब सम्प्रसाद स्वलसित-ज्योति रसानुभूति में पर्यवसित हो जाता है, तब है असम्प्रज्ञात। 'ज्योतिरहं' 'रसं-'लब्ध्वा आनन्दी' में है सम्प्रज्ञात। प्रशान्तवहा सरित के समान ज्योति रस की अपूर्यमाणता है सम्प्रज्ञाय मान।

सम्प्रज्ञायमान तथा सम्प्रज्ञात का अधिकार करके है विद्महे।

वीति वियद्वितानं यद् विन्दोर्नादोपलक्षणम्।
विन्दुपलक्षणं व्रेति नादनैविड्यगाढ़ता ॥२७१॥
ह इति सम्प्रसाद स्याद् हीति प्रसान्तवाहिता।
बोधस्य विन्दुनादत्वे यौगपद्येन विद्महे ॥२८०॥

वि + घ्न + हे, इस आकृति को समझ लो। वि = वियद् वितान। प्राण एवं सम्वित की एक ऐसी वितति (Expansion) जो अस्मिता समाधि में स्वयं को आकाशवत् उदार विन्दु रूपेण प्रदर्शित करे। (An All Pervasive Expanse of Life Consciousness. यह क्या है ? विन्दु का नादोपलक्षण। विन्दु जा रहा है नाद के उपलक्षण में। अणु कहता है "देखो मैं महान् हुआ"। उपलक्षण = तद्भावमुपेत्य तल्लक्ष्यतावच्छिन्नता। संवित अब सागर में उपनीत होकर सागरोपलक्षिता है।

अच्छा घ्न ? नाद का विन्दुपलक्षण। नादसिन्धु नैबिड्यगाढ़ता की काष्ठा में स्वयं को पुन: विन्दुरूपेण प्रदर्शित करता है। the utmost intensive 'pointness of the Continum as life-Consciousness अत: 'वि + घ्न 'इन दोनों में' प्राण संवित की अनुलोम—विलोम काष्ठा का प्रदर्शन है।

अन्त में 'हे'। यह है सम्प्रसाद लिंग। जैसे हे गोविन्द-हे गोपाल। इसमें 'हे' है सम्प्रसाद सन्धान सम्बोधन। 'ए' कार आवश्य लगा है। ज्ञान-क्रिया-भाव शक्ति की त्रिधारा (ह) द्वारा जब तक वह परमात्मा में नहीं मिलता, तब तक सम्प्रसाद नहीं है। यह भी लक्ष्य करो कि 'हि' प्रशान्तवाहिता का लिंग है।

अत: अब यदि भान तथा बोध यौगपद्य में विन्दुभाव तथा नादभाव को प्राप्त कर सके, तब है विघ्न हे ! आणवी सृष्टि एवं वैराजी दृष्टि रूपी बोध के दो आतत चक्षु: होना आवश्यक है।

२२. नम इति प्रणिपातेन निवृत्तिः ॥

नम: इसमें प्रणिपात पूर्वक निवृत्ति को जानो ॥

प्रणिपातो नमस्कारः समञ्जसा परिक्रमा।
शक्तिर्नाभि समुद्दिश्य वैराजश्च स वामनः ॥२८१॥

जो शक्ति की नाभि है, उस नाभि को उद्येश्य बनाकर जो समञ्जस परिक्रमा है, वह है प्रणिपात रूपा। Symmetrical Turning round a 'Navel of Power'। इसके रूपद्वय हैं वैराज एवं वामन ' ग्रह सौर परिक्रमा करते हैं। यह है वैराज। इलेक्ट्रान परिक्रमा करते हैं न्यू क्लियम की। यह है वामन। जप में नाद भी कला के साथ विन्दु-परिक्रमा करता है। इसे वैराज एवं वामन, उभय रूपेण देखो। लक्षण में वैराज = स्थूल तथा macroscopic। वामन = सूक्ष्म तथा Microscopic। अतएव वैराज प्रणाम = काय प्रणाम। वामन प्रणाम = प्राण-मन का प्रणाम।

कायप्राणमनोभिर्या सौष्ठवविन्दुवश्यता।
नमोमन्त्रेण साध्या सा विप्रतीपं मनो नमः ॥२८२॥

यह प्रश्न है कि काय-प्राण तथा मन: विन्दु के वश में हैं। वे नाभिनिष्ठित हैं किंवा नहीं ? यदि हैं तब उस वश्यता का सौष्ठव क्या है ? साधारणत: संघात मात्र

ही नाभि वश (Subjest to its nuclear Power) में रहता है। किन्तु उस प्रकार से रहने पर भी जो संहत एवं मिलित है, उसमें तिर्यक, पराक् तथा अर्वाक् वृत्ति तो अल्पाधिक (non-allegiance, non Conformity factor) रहती है। इन सब का ह्रास करते हुये इन्हें नाभिनिष्ठ निश्चय वृत्तिता मे लाना ही सौष्ठत्र है। आक्षेपक विक्षेप समूह बाधित होकर संक्षेपक हो जाते हैं। इन्हे गौरव मिलना चाहिये।

सौष्ठव में बिन्दुवश्यता साधन होता है नमः मन्त्र द्वारा। यह भी देखा कि मनः को विप्रतीप करने पर (By changing the पराक् worldwise Sign) होता है नमः। मनः एवं नमः, इन दोनों का 'म' = आत्मन् का "म"। आत्मन् के मन् को यदि किसी तल विशेष के फल विशेष में ('न' में) विसृष्ट करें तो, तब होता है मनः। जिस् तल विशेष में फल विशेष सिंचित हो रहा है यदि उसे घुमा कर आत्मा में ही सिंचित होने दो, तब है नमः।

वषड्वौषट् शरीराणि प्राणान् स्वाहा तथा स्वधा।
हूंफड़िति तयोःसन्धीन् निवृत्तौ प्रणिपातयेत् ॥२८३॥

वषट्-वौषट् मन्त्र में, निवृत्ति में स्थूल सूक्ष्म, शरीर यंत्र का प्रणिपात साधो। स्वाहा तथा स्वधा मन्त्र में प्राण का प्रणिपातन साधो। प्राण तथा शरीर की सन्धि का मन्त्र है 'हुंफट्'। शरीर-प्राण-सन्धि को लेकर है सब का संघात होता है Body Principle, Motor Principle, Link principle. इन तीनों की जो नियम निश्चयपूर्वक नितरावृत्ति है, वही है निवृत्ति। (पूर्वोक्त निवृत्त सूत्र का विचार करो। जहाँ वृत्ति का निषेध करना चाहो, वहाँ निवृत्ति का विशेष उपयोग है।)

कतिपय मन्त्रों के सविशेष उपयोग की परीक्षा यहाँ नहीं हो सकी, फिर भी किस शक्ति केन्द्र के साथ समर्थवेध संयोग में 'हुम्' एवं उससे समर्थ शक्ति प्रक्षेप में 'फट्' मन्त्र की भावना करो। जैसे Nuclear fusion के लिये हुंम की भावना और fission के लिये फट्। भूतापसारणादि में 'फट्', कुण्डलिनी जागृति में हुंम इत्यादि।

२३. ब्रह्मास्मीत्युपशमः ॥

ब्रह्मास्मि में उपशम ॥

ब्रह्मास्मितत्त्वस्यादि महावाक्यजपश्रुति।
साक्षात्त्वेनान्वया वापि मृषाजृम्भणभञ्जने ॥२८४॥

मूल विद्या के द्वारा स्पन्द विक्षेप, क्लेश व्यूह आदि जो कुछ भी विजृम्भित हैं, उनका भंजन होता है उपशम। 'अहं' ब्रह्मास्मि'—'तत्वमसि'-'सच्चिदानन्द ब्रह्म' इत्यादि महावाक्य तथा तदुपकारक मन्त्र श्रवण तथा जप के द्वारा साक्षात् किंवा परोक्षरूपेण अविद्यापगम जन्य उपशम होता है। परोक्षस्थल में श्रवण जप के साथ मनन-निदिध्यासन भी आवश्यक है। अपरोक्षस्थल में मंत्र का स्वतः पाटव अथवा

सामर्थ्य रहता है। यह स्वतस्त्व धर्म प्रायशः परतस्त्व के द्वारा अवगुंठित होता रहता है। समस्त तत्वों से परतस्त्व को काटकर उसे स्वतस्त्व में लाने के लिये ही जप में विन्दु विलय होता है।

गूढ़त्वेन गाढ़त्वेन काष्ठाकलांशपादतः।
सर्वं प्रपञ्चितं विश्वं प्रपञ्चबीजमस्मिता ॥२८५॥

'ब्रह्मास्मि' महावाक्य के अस्मि का तात्पर्य ? अस्मि कौन सा पदार्थ है ? निखिल प्रपञ्चित के बीज को अस्मिता कहा जाता है। अहं तथा अस्मि, ये दोनों ही भावप्रत्यय (discriminating, raviewing Consciousness हैं। अस्मिता में भान चैतन्य स्वयं को विषय-विषयी सम्बन्धावच्छिन्न रूप से ही जानता है। यह 'जानना' भाव भी पूर्ण नहीं है। अथच भास भी नहीं है। अतएव है अनिरूपण योग्य। यह है भान सामग्री तथा भास विश्व के मध्य का सेतु। सुषुप्ति के भंग में और ठीक जागरण की सन्धि में इस अस्मिता का सन्धान अनुभव द्वारा मिलता है। अस्मिता के नाद एवं विन्दु भाव का आधार बीज चैतन्य में निहित है।

अतः कहा गया है कि कला-अंश तथा पाद आदि से यह भासविश्व (Cognisable universe) प्रपंचित है। उसमें गाढ़त्व गूढ़त्व की एक क्रम श्रेणी (graduated seriality) परिलक्षित होती है। यह होने पर काष्ठा यह जिज्ञासा करती है "कहाँ तक, किस सीमा तक ?" एक ओर Continum (नाद) दूसरी ओर Point (विन्दु)। ये दोनों मुख अथवा दिक् अभी भी (Logically or factually) जिसमें द्वन्द्वस्थ नहीं हैं, परन्तु होने का उपक्रम मात्र कर रहे हैं, वह है अस्मिता। अतः अस्मिता = Transcendental Logic की Cotegory।

असित्यास्ति हि यत् किञ्चिन् मित्यात्मनि च वैन्दवे।
बृहत्त्वेन महत्त्वेन हवनादुपशाम्यति ॥२८६॥

अस् + मि = अस्मि। अस् = यत् किंचित् अस्ति। मि = वैन्दव आत्मा में। (विशेषतः जप में ब्रह्मास्मि भावना हो रही है, यह भी देखो) Me (मि) = आत्माधिकरण = self as point of all reference and all Co-ordination. उस वैन्दव आत्मारूप अग्नि में निखिल अस्ति को ऋतं बृहत् तथा सत्यं महत् रूप से हवन करने पर है उपशम। इस हवन से आत्मा की वैन्दव भावना का निषेध होता है। साथ-साथ 'अस्ति' की बृहद्-महद् भावना का भी समापन होता है।

बृह् + म् + अन् = ब्रह्म। आत् + म + अन् = आत्मन। इन दोनों समीकरण में भावना करो।

ब्रह्मात्मानौ मनित्यन्तौ समात्रमनितीत्यतः।
आत्मा ब्रह्मैव तादात्म्यादाधारत्वबृहत्वयोः ॥२८७॥

ब्रह्म तथा आत्मा, इन दोनों के अन्त में है मन् । 'म्' मात्र अनिति, वर्त्तमान तथा और कोई विशेष नहीं है, इससे यह सूचित होता है । अर्थात् आत्मा का जो 'आत्' रूपी रक्षराधारतत्त्व है, एवं ब्रह्म का बृह रूप से जो बृहत्त्व है, वह इस 'मन्' में तादात्म्यपरिनिष्ठित हो गया । आत्मा कहता है "आनन्दरूप में सब का आधार हूँ" । ब्रह्म का कथन है 'सत्रूपेण मैं सब कुछ होकर तथा व्याप्त होकर हूँ ।" मन् कहता है 'बस' मैं चित् रूप से, "आधारमानन्दमखण्डबोध" रूप से तुम दोनों का तादात्म्य कराता हूँ ।" यह मिलन है आनन्द तथा सत् का, बोधरूप चित् का । यही है ब्रह्मास्मिहवन । इसी में उपशम ।

२४. सोऽहमित्युपरमः ॥

सोऽहम् यही मन्त्र है उपरम् ॥

शून्यं समेति पूर्वो यः शून्यञ्च शिवमद्वयम् ।
सर्गाकिञ्चित्वबीजं यदकिञ्चिददितिलक्षणम् ॥२८८॥
धनर्णधारयोः साम्यमुपशमालयश्चिरम् ॥२८९॥

२१वें सूत्र में उपशम के लक्षण में 'शून्यसमेता' की विवेचना हो चुकी है । शून्य को दृष्टिप्रकारता में देखा जाता है । शून्य को 'प्रपंञ्चोपशमं 'शिवमद्वैतं' दृष्टि से देखे बिना देखने की विश्रान्ति नहीं होती । इस इस प्रकार से देखने पर 'आत्मा' का 'शेष' देखना होता है और निखिल प्रपञ्च का पूर्ण उपशम हो जाता है । किन्तु इस "शेष" के प्रान्त में एक और शून्य है । शेष को पहले अनुत्तर कहा गया है । वह शून्य सर्व-किंचित्व का बीजमात्र है और स्वयं है अकिञ्चिददितिलक्षणम्' । यदि उपशम के 'उप' का अर्थ सामीप्य मानें, तब इस शून्य की अवधि (सीमा) में जाओ । जैसे जप में पराव्यक्त विन्दु में लय होना । सृष्टि में जो धन-ऋण धारा विपरीत मुखी रहती है, उसके निर्द्वन्द्वसमता स्थल को उपशमालय कहते हैं । अर्थात् अनुत्तर स्थल के प्रान्त में जो शून्यसमेत उपशम है, उसे शक्ति समाहार काष्ठा तथा सम्वेगसमता काष्ठा के रूप में साधने तथा प्राप्त करने के लिये कहा है । एक में है विन्दुशून्यता पूर्णता और दूसरे में है नादसमता खण्डता ।

लक्ष्य करो कि यहाँ आलय शब्द लगा है ।

उकारान्तस्य दन्तस्य प्राणस्य मूलवृत्तिता ।
महाप्राणे हमित्यस्मिन्नादविन्द्वैकविग्रहे ॥२९०॥
स्थूले सूक्ष्मे च सर्वत्रोपरतिरिति मन्यते ।
सोऽहमो मूलवृत्तित्वमहमो दन्त्यवृत्तिता ॥२९१॥

'ह' है कण्ठ्य अथवा मूल उच्चार्य । स = दन्त्य । अतः सो = उकारान्त जो महाप्राण है, उस प्राण की मूल वृत्ति 'हं' की ओर जा रही है । अर्थात् प्राण की दन्त्य-वृत्ति, ओष्ठ्य 'उ' की सहायता से प्राण की मूल वृत्ति 'ह' की ओर चली । दन्त्यवृत्ति

में सब कुछ का छेदपूर्वक ग्रहण अथवा त्याग होता है। 'स'=सिंचित शक्ति। 'उ' के द्वारा इस छिन्न संचित प्राण का 'ह' रूपी मूल महाप्राण में आकर्षणी वृत्ति से संग्रह होता है। Power, distributed and scattered is unified and drawn back to its source and origin. अब देखो, केवल 'हम्'। ह=प्राण का नादरूप, तब 'हम्' क्या है? नाद बिन्दु का विग्रह। अर्थात् 'हम्' में नादबिन्दु सम्मिलित हैं।

अब क्या मिला? 'सोऽहम्' कहने से स्थूल में, सूक्ष्म में, सर्वत्र (कारण की भी उपलक्षणा में) उपरति परिलक्षित होती है। स्थूल तथा सूक्ष्म में अतीत्यवृत्तिता उपरम में होनी ही चाहिये। कारण में भी उस अतीत्यवृत्तिता की व्याप्ति हुई। निर्व्यूढ़ शुद्ध उपरम अधिगत हुआ। नादबिन्दु का यह 'एक विग्रह' विश्वकारणता का मूल स्थल है। इससे भी पार जाओ।

अन्त में सोऽहम् की प्रतियोगिता में 'अहंसः' कहा गया है। इस आकृति के मध्यस्थल में पूर्वोक्त 'हं' अवश्य है किन्तु मानो उसके आगे स्थित 'अ' कहता है "तुम इस प्रकार से नादबिन्द्वैकविग्रह होकर मत रहो। निरन्तर विसर्जनीय दन्त्य वृत्ति में जाओ। और उससे पुनः 'ह' में लौटो।" इस प्रकार से निरन्तर स्पन्दनाकृति होकर बन जाओ 'हंसः'। इस प्रकार निरन्तर विश्वप्राण का आन्दोलन चलने पर 'अ' कहता है "मैं अन्तराल में हूँ, क्या कहते हो? मैं अन्तराल में मूल प्रयोजकरूपेण स्वयं रहता हूँ।

२५. सर्वमेव प्रणवेन ॥

एक प्रणव के द्वारा ही (प्रशान्तवाहितादि उपरम-उपशम पर्यन्त) सब कुछ हो जाता है॥

सहाविति पक्षयुग्कत्वे सोऽहहमोमेव जानीहि।
अन्यपक्षकमाद्यं स्यादात्मपक्षकमोम् परम् ॥२९२॥
आहार्यपक्षाकाणि स्यु र्धीमहि विहेनमः।
भागत्यागपक्षकन्तु ब्रह्मास्मीति विचारणा ॥२९३॥

यदि 'सहौ' को प्राण का पक्षयुग्म मानो, उस स्थिति में सोऽहं=ऊँकार। इन दोनों में यही विशेष है। प्रथम अन्यपक्षक तथा प्रणव और स-ह पक्षद्वय निरपेक्ष होकर आत्मपक्षक। प्रथम मे स तथा ह रूपी दोनों विशेष प्रकार की प्राणनवृत्ति की अपेक्षा करना होगा। (dependence on other functions)। प्रणव में अन्यापेक्षा नहीं है। इसीलिये प्रणव है आत्मपक्षक। वह अपनी कला, नाद तथा बिन्दु से ही वृत्तिमान रहता है। Self dependent. धीमहि, विद्महे, नमः, में आहार्यपक्षता रहती है। इनका अपना-अपना पक्ष छुड़ाओ। अनुकूल, उपकारक अन्य-अन्य पक्ष का अध्याहार करना होगा। Dependent on accruing or according positive functions अर्थात् यह मन्त्रादिरूपेण स्वतन्त्र वृत्तिमत् नहीं होता। अंगीभाव से

नहीं प्रत्युत मन्त्रादि के 'अंग' रूप से प्रायशः विनियुक्त होता है। अन्त में 'ब्रह्मास्मि' प्रभृति में अंगित्व अवश्य है, अर्थात् मन्त्रादिरूपेण पूर्णाङ्ग होने पर भी भागत्यागादि द्वारा महावाक्यादि का शोधन आवश्यक हो जाता है। क्योंकि बीजमन्त्रादि की तरह इन सबमें व्याहरण का प्राधान्य नहीं है, प्रत्युत अनुध्यान का ही प्राधान्य है। अनुध्यान सम्यकतः होने के लिये असंभावना, विपरीत भावना का त्याग होना चाहिये और हानोपादान रहित तत्वभावना का उदय होना चाहिये। Reduction of Non-according factors, and Congruence of the according factors.

इन चार प्रकार के सपक्षत्व धर्मावच्छिन्न में प्रणव का श्रेष्ठत्व है, क्योंकि प्रणव है आत्मपक्षक। समस्त की वृत्ति व्यापारवत्ता प्रणव में ही संग्रह-समधिकृत है। प्रणव = प्र + नु, यह स्मरण रक्खो।

माया लक्ष्मीश्च लभ्येते धीमहीत्यस्य मन्थनात्।
विद्महे इत्यतो बीजं वाग्भवं नमसो नमः॥ २९४॥

'धीमहि' मन्त्र के मन्थन में माया बीज 'ह्रीं' तथा लक्ष्मी बीज 'श्रीं' साररूपेण आविर्भूत है। इस प्रकार विद्महे के मन्थन में वागभव 'एं'। 'नमः' के मन्थन में नमः। दुग्धादि में घृत सूक्ष्म तथा व्याप्तरूपेण रहता है। मंथन से संहत् होकर आविर्भूत हो जाता है। यहाँ इस उपमा को याद रक्खो। धीमहि में माया शक्ति एवं 'श्री' के सन्निवेश की गंभीरता से भावना करो। 'विद्महे में है विशेष विद्या शक्ति।

ब्रह्मास्मीति महाकामोऽकामोऽकामयताखिलम्।
विहाय कामकामित्वमकामकामता शमः॥ २९५॥

ब्रह्मास्मि में महाकामबीज 'क्लीं' निगूढ़ता से रहता है। क्योंकि ब्रह्म अकाम होने पर भी अस्मिता रूपेण 'अखिलं अकामयत्' है। तुम जब तक इसका महावाक्य रूपेण आश्रय करोगे, तब तक भाग त्याग के विलोम में तुम्हे अकामरूपता में लौटना होगा। कामकामित्वरूप 'अस्मि' का त्याग करके अकामकाम होने पर है उपशम।

प्रशान्तवाहिताऽकारात् सम्प्रसादश्च व्याप्यते।
उपरतिरुकारेण मकारान्निर्वृतिर्धृता॥ २९६॥

प्रणव के 'अ' में प्रशान्तवाहिता तथा सम्प्रसाद व्याप्त रहता है। 'उ' में उपरति, 'म' में निर्वृति घृता है।

परमोपशमाय स्यु र्नादविन्द्वादयः सनात्॥ २९७॥

और नाद-विन्दु-परापारीणा अर्द्धमात्रा में नित्य जो परमोपशम है उसे निमित्त जानो।

सामान्यतो ह्यकारेण चोकारेण विशेषतः।
मकारेण मिथश्चापि नादविन्द्वादिभिः स्वतः॥ २९८॥

'अ' में प्रपंच प्रत्यय का सामान्य: अपगम हो जाता है। 'उ' में वह अपगम विशेषत: घटित होकर उपरति के उपयोग में आता है। 'म' में मिथ: अथवा परापरमाभिमुखीन जो सेतु है, उसका सन्धान मिलता है। यह सकल में (कला में) सापेक्ष उपयोग (Conditional fitness) है। अर्थात् परादि में उपयोग अब 'म' में आकर 'नहीं' भी हो सकता है। इसीलिये नाद-विन्दु-अर्द्धमात्रा का सेतु पकड़ना होगा। उसका स्वत: अथवा निरपेक्ष उपयोग !

अब न्याससूत्र :—

२६. ग्राह्यग्रहणग्रहीतृसामान्याधिकरण्येन सामंजस्यं न्यास: ।।

ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीता की समानाधिकरण में समञ्जसता जिससे होती है, वह है न्यास ।।

यत्किञ्चिद् गृह्यते वस्तु देशे काल उतान्यथा ।
तस्य यद् ग्रहणं यच्च ग्रहीतृ चिदचिन्मयम् ।
अधिकरणसाम्येन तेषां सौष्ठव संस्थिति: ।। २९९ ।।
भूतो भावो भवो भावी न्यास इति चतुर्विध: ।
अधिकरणसाम्यं स्यात् क्रियाकारकतुल्यता ।। ३०० ।।

देशाधिकरण में, कालाधिकरण में अथवा अन्यथा (सम्बन्धाधिकरण) में जो वस्तु गृहीत अथवा ग्राह्य होती है (Cognised or Cognisable) उसका जो ग्रहण है (apprehension or Cognition) है, एवं उसकी जो चिदचित्मय ग्रहीता (Cogniser) है, यदि इन तीनों की (अर्थात् ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीतृ यदि की) समानाधिकरणता (in Co-planar relation) में सौष्ठवपूर्वक (In harmony relation) स्थिति होती है, तब यह कह सकते हैं कि उनका न्यास हो गया।

यहाँ अधिकरणता का अर्थ सर्वथा समव्याप्ति अवधि नहीं है, परन्तु अर्थ है क्रियाकारक तुल्यता। जैसे यदि क्रिया के छन्द: को तन्त्र कहें, कारक के छन्द: को यन्त्र एवं मंत्र कहें, उस स्थिति में तन्त्रच्छन्द: का यन्त्र-मन्त्र के छन्द के साथ साम्य में रहना आवश्यक है। वैषम्य की स्थिति में अनिष्टापत्ति है। पुनश्च, तन्त्र-यन्त्र, मन्त्र के छन्द को अभीष्टफल में या सिद्धिच्छन्द में सुषुमान्वय में लाना आवश्यक भी है। Action Suited to the agent and means, and these, again, suited to the desired End. इसके लिये तीन व्यापार का प्रयोजन रहता है :—

(१) क्रिया एवं कारक शक्ति को समतल (Co-efficiency in the same plane में) में आना चाहिये।

(२) उनके अनुपात आदि में सम्बन्ध सौष्ठव (Concordant Relation) रहना चाहिये।

(३) उनमें सत्ता, शक्तिमान एवं छन्द की लघिष्टविसृष्टता और गरिष्ठ सदृशता (तुल्यता) रहना चाहिये।

जब तक ये तीनों योगायोग घटित नहीं हो जाते, तब तक ग्राह्य-गहण-ग्रहीतृ का संकट, कलह नहीं कटता। अत: वे फलोद्येश्य समूह समवेत नहीं हो पाते। उनकी संयुक्ति नहीं रहती। अत: अभीष्ट संयोग भी नहीं रहता।

यह साधित होता है न्यास से !

जैसे आणविक शक्ति को सृष्टि कर्म में लगाया। केन्द्रीण संयोग अथवा वियोग से जो अतिप्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो रही है, उसका इस प्रकार से न्यास करना चाहिये कि तुम्हारे अभीष्ट सृष्टिकर्म में जो क्रियाकारक तुल्यता का सौष्ठव होना वांछित है, वह तुल्यता सौष्ठव आ सके। तुम्हारी सृष्टि = मन्त्र अथवा यन्त्र किसी एक निरूपित शक्तिमान को जब तक प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक तुम्हारा सृष्टिकार्य नहीं हो सकता। अत: समस्या है कि यह केन्द्रीण प्रचण्डशक्ति तुम्हारे अभीष्ट कर्म के अनुरूप कैसे प्राप्त हो? जिससे प्राप्त हो, वही है न्यास।

गणित आदि सभी क्षेत्र में न्यास का दृष्टान्त लेकर देखो। पूजा-जप आदि में जो न्यास है, वह भी ऐसी लक्षणा में आता है। It is what establishes a cohesive, concordant disposition of the forces, in apparatus, agent and action with respect to a given End. लक्ष्य करो कि समस्त न्यास कर्म में ये तीन धर्म क्रिया आदि अंग संस्था में होना आवश्यक है।

(1) समतालिकता (Co-planarity)
(2) समसार्थकता (Co-effciency)
(3) समच्छन्दोगता (Congruence)

ये सब मूलत: समस्त क्रिया-कारक-अंग समूह में स्पन्द सौषम्य के संसाधन हैं। जैसे अनेक यन्त्रों को एक्यतानता में साधना पड़ता है। जपादि में एक ओर है तुम्हारा रक्त-मांस युक्त आधि व्याधि मन्दिर शरीर, दूसरी ओर है तुम्हारे मन्त्र की प्राणशक्ति तथा चिच्छक्तिरूपी गुरुदेवता तथा इष्टदेवता। इन दोनों के मध्य का समर्थ विनिमय 'न्यास' के बिना कैसे होगा?

न्यासविधान अनेक प्रकार का होता है। वर्त्तमान सूत्र में ४ मूल विधि का उपदेश है, जैसे भूत, भाव, भव, भव्य (भावी)। जो न्यस्त (effectcd) है उसमें जो पुनर्न्यास है उसे भूत कहते हैं। जैसे कोई यन्त्र एक प्रकार से बांधा गया है। उसे 'परख' कर देखा, सम्यक् अभीष्टानुरूप बांधा तो है न? इसमें आवश्यक शोधन-पूरण की अपेक्षा भी रहती है। भूतनाथ के हाथों से बांधा जो यन्त्र है, वही है सिद्ध भूत। बाकी सब हैं भूतग्रस्त। भावन्यास अर्थात् जिस न्यास द्वारा हमारा अभीष्ट सुषम-समर्थ संस्था से भावित संभावित हो Effectual so as to be actual. भवन्यास अर्थात् effecting, जिसके द्वारा अभीष्ट न्यास होता रहे। भव्य-न्यास = effective or potential। जो उपयोग रूप से है किन्तु अभी भी वस्तुत: एवं कार्यत: है नहीं। जैसे तुम अपने बाग में किसी पुष्प का पौधा चाहते हो। यदि

फूल लगा एक पौधा बगीचे में लगाओ, तब है भूतन्यास। (फिर भी इसमें सावधान रहना होगा) यदि बागान की मिट्टी तैयार करके बीज वपन करो, तब है भव्य-न्यास। पौधा अंकुरादिक्रमेण वर्धित होने पर है भवन्यास। सभी स्थल पर इस क्रम को पहचानों।

तप: या भाव की अपेक्षा रखकर जो ऐकतान है, वह है न्यास।

२७. **ऋतमपेक्ष्यैकतानं प्राणायाम: ॥**

ऋतम् की अपेक्षा करके जो एकतानता साधन है, वह है प्राणायाम ॥

प्राणै: प्रणीयते सर्वं प्राणा: प्राण इहासते।
महावायौ वृत्तिमन्तो यथा स्थावरजङ्गमा: ॥३०१॥

पहले अर्थसूत्र में देखा गया है कि प्राण के द्वारा ही निखिल अर्थ (प्रमेय) प्रणीत होता है। मुख्यामुख्य १४ प्राण ही एक प्राणब्रह्म में समाश्रित (आसते) हैं। कैसे ? जैसे स्थावर जंगम सर्वभूत महावायु में वृत्तिमान रहते हैं। इसके द्वारा केवल प्राण का व्यापित्व ही नहीं, प्रत्युत सर्व भरणत्व को प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म ही है प्राण। इसका क्या प्रमाण (श्रौत) ? 'तस्माज्जायते प्राण:' इत्यादि वेदमन्त्र में बहुधा इस समीकरण का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ में भी युक्ति के माध्यम से यह प्रतिपादित हुआ है। यह भी दिखलाया गया है कि हंसवती ऋक् का 'ऋतंबृहत' भी प्राणब्रह्म ही है। अत: :—

एतस्माज्जायते प्राण इति प्राण ऋतंबृहत्।
तस्य छन्द ऋतच्छन्द: सप्ताश्वो यो गभस्तिमान्।
प्राणापानौ समौ कृत्वा जुहूयात्तावृतार्णवे ॥३०२॥

ऋतं बृहत् रूप जो प्राण अथवा आदित्य है, उस प्राणादित्य का स्व छन्द: ही है ऋतच्छन्द:। यही भुवनव्यवहार निर्वहण ऋतच्छन्द: ही गभस्तिमान (आदित्य) के सप्ताश्व रूप में कल्पित हुआ है। गायत्री प्रभृति छन्द सप्तक ही है सप्ताश्व। वेद के पुरुष आदि सूक्तों में पौरुष यज्ञ का यह छन्द: ही मूल निर्वाहक है। यह हमने पहले ही विवेचित किया है। यह जो सप्तविध ऋतच्छन्द: है इसकी अपेक्षा में प्राणायामादि (विशेषतऽ प्राण अपान) का जो ऐक्यतान साधन है उसे प्राणा-याम जानो।

ऋतंबृहत् रूप प्राणब्रह्मार्णव। उस अर्णव में प्राण-अपानरूपी वृत्ति को समता में लाकर हवन करो (जुहुयात्)। यही है प्राणायाम (आयाम=परिसीमा अवधि।वितान)। प्राण तथा अपान की समता के बिना इस प्राणब्रह्म का लय ही नहीं होता। प्राणब्रह्म=ऊँ=छन्दोमाता गायत्री छन्द:। जब तक इसके साथ एकतानता में प्राण (धन) तथा अपान (ऋण) नहीं आते तबतक विषमता रहती है। इस विषमता का ह्रास करके व्यष्टिप्राण की अपास्तविषम वृत्ति को प्राणब्रह्म में लयी-भूत करना ही है प्राणायाम। लयकर्म हवन रूप से भावित होता है। जिससे सब

कुछ 'समुद्रवन्ति' वही अव्याकृत प्राणब्रह्म = समुद्र। व्याचिकीर्षु होकर इसमें जो सुषम अखण्ड स्पन्दरूपता है, वह है अर्णव। पहले यह प्रसंग अनेक स्थल में भाषित हो चुका है। अर्णव = महाप्राण।

प्राणो हिरण्यगर्भोऽयं वैराजीं तनुमाश्रितः।
तद्दतच्छन्दसा प्राण्यात् प्राणायामपरायणः ॥३०३॥

वैराजतनु में हिरण्यगर्भ प्राणरूपेण अपने ऋतच्छन्द में महाप्राणवृत्ति रूप से रहता है। प्राणायामपरायण होने के लिये इस हिरण्यगर्भ का ऋतच्छन्द में अन्वित होना आवश्यक है। जप तो प्राणायाम का सहज साधन है। इसमें कला के उदय-विलय मे अपान-प्राण की समता स्थापित होती है। कला का नादलय हो जाने पर है परसूक्ष्म अथवा हिरण्यगर्भ लय। कला तथा नाद दोनों ही का वैन्दवलय होने पर परकारणलय। कला-नाद-विन्दु इन तीन का लय होने पर है परमलय।

२८. सत्यमपेक्ष्य सामरस्यं मूलशुद्धिः ॥

सत्यम् को उद्देश्य करके तत्सम्बन्धित जो सामरस्य है, वही है मूलशुद्धि ॥

पहले ऐकतान, अब है सामरस्य।

यदास्ति हि महत् सत्यं ज्योतिरसामृताभिधम्।
छन्दसा स्वेन भावेन प्रोतं विश्वेष्वबाधितम् ॥३०४॥

गायत्रीशिरः इत्यादि में 'ज्योतीरसोऽमृतम्' रूप से जो परमतत्व सूचित हुआ है, वह आविर्भाव में ऋतंबृहत् सम्बन्धभाक् होकर हो जाता है 'सत्यं महत्'। रस तथा आनन्द को मध्य में रखकर एक ओर ज्योतिः (चित्) दूसरी ओर अमृत (सत्) रूपी पक्ष (Logical) प्राप्त हो जाते हैं। ये दोनों पक्ष ऋतम् का पान करते हैं (ऋतं पिवन्तौ) अर्थात् ज्योतिः स्वरूप से आने का अथवा उससे अवतरण का एक ऋतं है। और सत् स्वरूप से और एक ऋत् है। The true way of knowledge, and true way of realization. Light and reality को मानों अलग करके कहना 'तुम्हारा ठीक इसी पथ पर चलकर मिलकर एक होना देखूँ। मैं रसरूपेण तुम दोनों को एक कर लूँगा। As final satisfaction, consummation fulfilment. रस के अतिरिक्त शोधनपूरण करने वाली अन्य सामग्री नहीं है। रसपन्थाः है श्रद्धा-भाव-भक्ति।

"क्यों, क्या तुम राजी तो हो! अच्छा सत्! तुममें ज्योति का 'य' मिलित हो जाये। और तुम्हारे अमृत रूप से 'अम्' उसमें मिले। क्या हुआ? सत्यम्"। अमृत से अम् ले लिया, बचा ऋतम्। इस प्रकार से परम से सत्यम् और ऋतम् के 'येन' का पृथकीकरण हुआ। इन राहस्यिक कथानक की व्यंजना को समझो।

ज्योति का हृदय = य = रस। अमृत का अम् = रस। सत्यम् में इन दोनों रस की समरसता। आगे वाले सूत्र में समरसता का प्रसंग आ रहा है। अब लक्ष्य करो कि निखिल विश्व में सत्यम् (ऋतं 'बृहत्' के समान) महत्। अर्थात् निखिल

विश्व में 'सत्यं महत्' अपने स्व भाव तथा स्वछन्द में प्रोत है। As an eternally realized and universally immanent realm of 'own' nature and pattern. सत्य के इसी स्वत्व (Ownnes of nature and pattern) से हुई शुद्धि। सर्वतः ओतप्रोत होने के कारण महत्। The principle of universal pure rectitude. सब प्रकार के विज्ञान-प्रज्ञान में यही 'सत्यं महत्' है साध्य एवं लक्ष्यरूप। और 'ऋतं बृहत्' है साधन अथवा उपाय।

व्याजविघ्नादिविद्धानां वैरस्यस्य निवर्त्तनम्।
यन्त्राणां स्थूलसूक्ष्माणां सामरस्यस्य साधनम्।
मूलस्य वापि मूलेन शुद्धिरिति निगद्यते ॥३०५॥

यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र में व्याजविघ्न आदि द्वारा जो वेध होता है, उसमे जनित वैरस्य (इसमें वैरुप्य-वैगुण्यादि भी आते हैं) को कैसे उच्छिन्न करें ? और यन्त्रादि के स्थूल-सूक्ष्मरूप सामरस्य को कैसे साधित करें ? वैरस्य = disagreeable discord, सामरस्य = agreeable concordence. इन दोनों का एक ही उत्तर है— यदि यन्त्रादि को पूर्वोक्त 'सत्यं महत्' के अन्वय में लाया जा सके, उसके स्वभाव में स्व छन्द स्थिति आ सके तभी वह सामरस्य साधित हो सकेगा। स्थूल-सूक्ष्म में तो प्राप्त किया किन्तु मूल (कारण) की उपलब्धि नहीं हो सकी, अतः शाश्वतिक सत्य सामरस्य नहीं हो सका। अतएव मूल के द्वारा मूल की शुद्धि सभी प्रयत्नों द्वारा करो। यह मूल शुद्धि ज्योति के "सोऽमृतमेव' का साक्षात्कार हुये बिना नहीं होती। परम प्रपत्ति बिना यह स्थिति नहीं आती।

सत्यस्य सामरस्यं तच् शुद्धिकर्म ह्यपेक्षते।
सत्यमुपेक्ष्य वैतथ्यं सत्यमपेक्ष्य शोधनम् ॥३०६॥

शुद्धिकर्म मात्र में ही सत्यसामरस्य की अपेक्षा करना होगा। जो सत्य की उपेक्षा करे, वह है वितथ। और जो अपेक्षा करे वह है शुद्धिशोधन।

साधारण विज्ञान, अध्यात्म आदि सभी में इस वितथ शोधन को समझो, देखो!

२९. ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चेति जपः ॥

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्च, यह है जपस्वरूप ॥

ॐ मिति न्यासनैपुण्यमृतञ्चासुभिरध्वरः।
सत्समरसा शुद्धिस्त्रीण्येकत्र हि जपः ॥३०७॥

ॐ के द्वारा पूर्वोक्त जो न्यास है, वह निपुणता से किया। 'ऋतञ्च' के द्वारा पूर्वलक्षित प्राणयाग अथवा प्राणायाम साधित किया। सत् समरसरूप पूर्वकथित 'सत्यञ्च' द्वारा शुद्धिसाधन किया। ये तीनों साधन जहाँ एकत्र हो जाते हैं, वह है जप।

पुनश्च :—

मधुवाता इति न्यासो हंस इति च योऽध्वरः।
तत्सवितुरिति क्लिन्न-शुद्धज्योतीरसामृतं ॥३०८॥

आप्यायन्त्विति वा न्यासो विरजा इति चाध्वरः ।
असतो मेति शुद्धिश्च जपे सर्वं समाप्यते ॥३०९॥

पुनश्च—मधुवाता इत्यादि मधुमती ऋक् द्वारा निखिल में मधु ओत-प्रोत है, यह भावना करके न्यास करो। तुम्हारा काय-वाक्-मन भी मधुमय । हंसः शुचिषत् ……ऋतं बृहत्' द्वारा प्राणाध्वर (प्राणायाम) साधित हुआ। यह भावना करो। इसके द्वारा प्राणरूपी हंसः अन्वित हुआ 'ऋतं बृहत्' में। तदनन्तर यत्किंचित् वैरस्यादि के लिये क्लिन्न एवं कषाय का शुद्धिसाधन करो सविता के 'वरेण्यं भर्गः' के द्वारा। इससे जो विरस क्लिन्न है, वह 'भृष्ट हुआ। और उसका पुनः अमृतायन करो ज्योतिरसामृत द्वारा ! पसीना पोछने से ही तो काम नहीं होगा। अतः क्लिन्न को करो "क्लीं नमः"। समझे ?

अब 'आप्यायन्तु' मन्त्र से करो ब्रह्मन्यास। विरजा मन्त्र से करो प्राण का ब्रह्मध्वर। 'असतो मा' मन्त्र से करो ब्रह्मशुद्धि। अब देखो कि जप में इन तीनों का समापन है। 'ब्रह्मशुद्धि' से ब्रह्म के वागादि भाव की भी शुद्धि सम्पादित होती है। यदि परब्रह्म है तब 'ब्रह्मणे शुद्धि' अर्थात् ब्रह्म भाव से शुद्धि !

'तज्जपस्तदर्थभावनम्' यह कैसे ? इसका २ सूत्रों में निर्देश है।

३०. ॐ तत् सदित्यर्थभावनम् ॥

'ॐ तत्सत्' यह अर्थभावन है।

भावनभावनाभेद आद् यावन्न हि भावनम् ।
दृढ़ा हि भावना तावद् कार्या भावनसिद्धये ॥३१०॥

भावन तथा भावना का भेद 'आ' में हैं। 'आ' में व्याप्ति तथा सीमा को जानो। अर्थात् भावना शक्तिसामर्थ्य में व्याप्त होकर जब तक एक काष्ठा तक नहीं जाती तब तक वह भावन नहीं हो सकती। समर्थ शब्द अथवा भाव के पूर्वोक्त लक्षण को पुनः याद करो। समर्थ में वाच्यवाचक का वस्तुगत्या व्यवधान नहीं रहता। शक्ति का जो शक्य अर्थ है, वह शब्द के साथ-साथ अविनाभाव से वस्तुतः (as real & actual) प्राप्त हो तभी होता है 'अर्थभावन'। इसका साधन है भावना। व्याहरण में विशेषतः। इसीलिये व्याहरण की शुद्धि समृद्धि के लिये भावना तथा वीर्यपूर्ति आवश्यक है। "विद्यया श्रद्धया उपनिषदा वा वीर्यवत्तर भवति"। भावना को भावनसिद्धि के लिये दृढ़ बनाना होगा।

सर्वभावमयं विश्वं भावना या विजृम्भितम् ।
पराऽपरेति सा ज्ञेया परा या परमेष्ठिनः ॥ ३११ ॥

यह सर्वभावमय विश्व भावना द्वारा ही विजृम्भित है, भावनामय है। भावना के अतिरिक्त नामरूप आदि में विश्व का अस्तित्व ही कहां है ? तुम्हारा अपना विश्व तुम्हारी भावना से ओतप्रोत ! वह विश्व अपर है अतः भावना है

अपरा। सभी पक्ष से जो विश्व है, वह विश्व पूर्व विश्व की तुलना में है पर ! उसकी भावना भी परा है। यह पराभावना है परमेष्ठि की विश्वस्त्रष्टा की। वे ईश्वर हैं।

ॐ मिति वाचकं तस्य तस्य सदिति वाच्यता।

ॐ तत् सदितिनिर्देशे त्रयाणामेकलक्ष्यता॥ ३१२॥

ईश्वर का वाचक है ॐ। सत्‌रूपेण वे ही वाच्य हैं। वे = तत्। अतः ॐ तत्सत् द्वारा एक अद्वितीय सत् ही लक्षित हो रहा है। जिनका वाचक है ॐ, वे सत् स्वरूप हैं। वे ही अस्ति हैं (भाति एवं प्रिय भी हैं।) उनके अतिरिक्त और कोई भी सत् नहीं है। अतः यह तादात्म्यसमीकरण इस त्रिविध के निर्देश से हुआ।

अब यह चिन्तन करो कि जब तक यह तादात्म्यसमीकरण परिनिष्ठित नहीं हो जाता तब तक किसी जप का अर्थभावन नहीं हो सकता। भावना तो हो सकती है, परन्तु भावन नहीं होता। एक ओर नाम, दूसरी ओर नामी। वाचक एवं वाच्य, ॐ और तत्। इन दोनों के मध्य में सत् (हैं, निश्चय ही हैं इस प्रकार)। इस एकमात्र सन्धि का सन्धान प्राप्त कर लेने पर तो "वे नाम में ही हैं, नाम के अतिरिक्त नहीं हैं," यह अन्वय व्यतिरेक सिद्धि साधित हो जाता है। अतः यही है अर्थभावन का मूल आधार !

भूतार्थे भूयमानार्थे भव्यार्थे चाप्युतान्यतः।
तत्तारूपस्य ह्यर्थस्य सत्तारुपेण भावनम्।
तत्ताऽविति च मात्राभ्यां सत्तामात्रे हि म श्रुवा॥ ३१३॥

अर्थ को भूतार्थ भूयमानार्थ अथवा भव्यार्थ अथवा अन्य किसी भी प्रकार से ग्रहण क्यों न करें, अर्थ वह है जो तत्, वह, वाचक अथवा नाम द्वारा उद्दिष्ट लक्षित हो। इस प्रकार से अर्थत्व है तत्ताधर्मावच्छेदकत्व। तत्ता (Thatness) जाति को यदि एक वृत्त मानो, तब अर्थ (वाचक के सम्पर्क से) इस वृत्त में आ जाता है। यदि वाचक को 'यह' कहा तब अर्थ है 'वह'। इन दोनों के मध्य में अन्तरीक्ष (व्यवधान) रहता है, जिसके कारण वाचक-वाच्य का सम्बन्ध रहने पर भी वे अभेदसत्ताक (Identical in being or substance) नहीं है। अर्थभावन = अभेदसत्ताकत्व स्थापन। अर्थात् जो तत्तारूप है, उसे सत्तारूप करना।

इस भावन की भावना करो हवनरूपेण !

प्रणव का अ ऊ (=ओ) रूपी मात्राद्वय से हवन करो। उ + इति = अविति। किसमें हवन करोगे ? पहले नादसत्ता में, तब विन्दुसत्ता में, तब आद्यकलासत्ता में, अन्त में सत्तामात्र में। किसके द्वारा हवन करोगे ? 'म' रूपी स्त्रुवा से। यहाँ 'म' अर्द्धमात्रा उपलक्षण है। अतः अर्धमात्रा ही ध्रुव है।

-: चतुर्थ भाग समाप्त :-